सद्‌गुरु

स्वामी गङ्गेश्वरानन्द

के

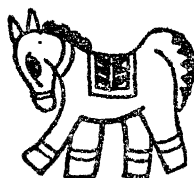
लेख तथा उपदेश

सम्पादक

आचार्य श्रीशंकरानन्द स्वामी, एम्. ए. (तत्त्वज्ञान)

सर्व दर्शनाचार्य, काव्य-तीर्थ

साहित्य-रत्न



क ल्कि प्र का श न

हंसराज वाड़ी, टागोर रोड, सान्ताक्रूज़,

बंबई—५४

प्रथम संस्करण २२५०
२३ दिसम्बर १९६३

मूल्य ३.५०

प्रकाशक :
धीरुबहन पटेल, कल्कि प्रकाशन
हंसराज वाड़ी, टागोर रोड़
सान्ताक्रूज़, बम्बई ५४

मुद्रक :
वि. पु. भागवत
मौज प्रिंटिंग ब्यूरो
खटाववाड़ी, बम्बई ४



प्राप्तिस्थान :

१ उदासीन सद्गुरु गंगेश्वर जनकल्याण ट्रस्ट, तुलसी निवास, तीसरा माला, प्लैट नं. ३१, डी-रोड चर्चगेट, बंबई—१
२ वेदमंदिर, कांकरिया रोड़, अहमदाबाद
३ गंगेश्वर धाम, १३—पार्क एरिया, करोल बाग, नई दिल्ली
४ राम धाम, निरंजनी अखाड़ा रोड़, हरिद्वार
५ श्रौतमुनि निवास, वृंदावन, (उत्तर प्रदेश)
६ उदासीन संस्कृत विद्यालय, ढुण्ढिराज मोहल्ला, वाराणसी
७ राम धाम, शिवमंदिर, रतनचंद रोड़, अमृतसर (पंजाब)
८ ॐप्रकाश बंगला, त्र्यंबक रोड़, नासिक (महाराष्ट्र)
९ कैलास भवन, माउण्ट आबू (राजस्थान)
१० मु. राजवाना छोटा, पो. राजवाना बड़ा, ज़िला लुधियाना (पंजाब)
११ गीता भवन, मनोरमा गंज, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
१२ एन्० एम्० त्रिपाठी एण्ड कंपनी, प्रिन्सेस स्ट्रीट, बंबई नं. २

निवेदन

वेदमंदिर अहमदाबाद के प्रबंधक पू. सेवारामजी ने जब मुझे यह बताया कि प्रातःस्मरणीय पू. श्री गुरुदेव गंगेश्वरानन्दजी महाराज के प्रवचनों का एक संग्रह उनके पास है, तब मेरे मन में आया कि इन प्रवचनों को पुस्तकाकार में प्रकाशित करना चाहिए। क्योंकि पू. गुरुदेव भारत के प्रधान वेदवेत्ताओं और शास्त्रज्ञों में एक हैं, और साथ ही बड़े ही प्रसिद्ध वक्ता भी हैं। अतः उनके प्रवचन अत्यन्त मर्मस्पर्शी और विद्वत्तापूर्ण होंगे।

सन् १९३८ में जब पू. गुरुदेव चातुर्मास्य के लिए अहमदाबाद ठहरे थे, तब उन्होंने जो प्रवचन किये, वे प्रतिदिन लाहौर के 'डेली हेराल्ड' नामक समाचारपत्र में प्रकाशित होते रहे। संपादक महोदय ने पंडित बलदेव शास्त्री को इस काम के लिए निवेदक नियुक्त किया था; किन्तु उन दिनों महाराजश्री की वाग्धारा घंटों तक अविरत चलती रहती थी और हज़ारों लोग सुनने के लिए आते थे। वृत्तान्त-निवेदक अपना कार्य मन लगाकर करते थे, किन्तु 'डेली हेराल्ड' का केवल एक ही पृष्ठ इन प्रवचनों के लिए हिन्दी में निकलता था और निवेदक को वृत्तांत उसी दिन भेजना पड़ता था। इस लिए समयाभाव और स्थल-संकोच के कारण कहीं कहीं कुछ बातें या तो छूट गई थीं या संदिग्ध रह गई थीं। अत एव इन सब त्रुटिओं को दूर करने के लिए मैंने पू. आचार्य श्री शंकरानन्द स्वामी एम्. ए., पू. श्री स्वामी अमर मुनि एम. ए. और पू. श्री स्वामी सर्वज्ञ मुनि एम्. ए. की सहायता ली। उन्होंने उपलब्ध प्रवचनों की भाषा परिमार्जित की और संस्कृत अवतरण भी ठीक तरह से जाँच लिए। इन तीनों महानुभावों के उत्साहपूर्ण सहयोग से ही पुस्तक इस रूप में प्रकाशित की जा सकी है।

'डेली हेराल्ड' के १०५ प्रवचनों में से यहां केवल ३० प्रवचन दिये जा रहे हैं; क्योंकि वे एक ही विषय—श्रीकृष्णलीला से सम्बद्ध हैं। अवशिष्ट प्रवचन कालांतर में प्रकाशित होंगे। इस ग्रंथ में पू. गुरुदेव के अन्यत्र प्रकाशित चार लेख भी दिये गये हैं। इन लेखों की भाषा अक्षरशः उन्हीं की है।

निवेदन

पू. श्री गंगाबहन गोरधनदास पटेल, सेठ गोविंदराम सेऊमल, सेठ मुरलीधर सेऊमल और श्रीमती पार्वतीबाई के. डी. वासवानी—इन्होंने पहले से ही इस पुस्तक की बहुतसी प्रतियां खरीदने का वादा कर के इस कार्य में मेरा उत्साह बढ़ाया, और पू. आचार्य श्री शंकरानन्द स्वामी एम्. ए. ने सम्पादन का भार पूर्णतया उठाया; इस लिये मैं उन सब का आभार मानती हूं।

पू. गुरुदेव ने कृपा कर के अपने प्रवचन और लेख प्रकाशित करने की जो अनुमति दी, उसे मैं अपना परम सद्भाग्य समझती हूं।

यह पुस्तक आर्थिक लाभ की दृष्टि से नहीं वरन् धर्मप्रचारार्थ प्रकाशित की जा रही है। इसलिए इसका मूल्य बहुत कम रखा गया है।

आशा है कि वाचकगण इस मननीय ग्रंथ से पूरा पूरा लाभ उठायेंगे।

—धीरुबहन पटेल



उदासीन संप्रदाय शिरोमणि
वेददर्शनाचार्य महामंडलेश्वर सद्गुरु स्वामी श्री
पू. गंगेश्वरानन्दजी महाराज

वेददर्शनाचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी सद्गुरु पूज्य गंगेश्वरानन्दजी महाराज उदासीन का

जीवन-वृत्त

अमन्दानन्दसन्दोहसंग्रहं वेदविग्रहम् ।
अवतारं हरेः साक्षाद्गुरुं गंगेश्वरं स्तुमः ॥

प्रातःस्मरणीय गुरुदेव उदासीन संप्रदाय के हैं। इस संप्रदाय के मूल पुरुष ब्रह्मा के पुत्र सनत्कुमार थे। स्वयं विष्णु भगवान् ने परमहंस साधु का रूप ले कर उन्हें दीक्षा दी थी। उससे १६५ वीं पीढ़ी में अविनाशी मुनि के शिष्य आचार्य श्री श्रीचन्द्रदेव हुए। उनके आठ शिष्यों में से बालहासजी की जो शाखा चली, उस शाखा में परमपूज्य स्वामी रामानंदजी का स्थान आचार्य श्रीचन्द्रदेव से १६ वाँ है। वे बहुत ही उच्च कोटि के महात्मा थे। उन्हीं के आशीर्वाद से और उनकी बताई हुई विधि से ईश्वर की आराधना करने पर पञ्चनद प्रदेश के पंडित रामदत्तजी की धर्मपत्नी पुण्य-चरिता माता सरला देवी को पौष शुक्ला सप्तमी सं· १९३८, तदनुसार २७ दिसम्बर ई. सन् १८८१ मंगलवार के दिन पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई।

बालक का नाम था चन्द्रेश्वर। वे पहले से ही दिव्य प्रकृति के थे। पाँच वर्ष की आयु होने से पहले ही उन्हें श्रीकृष्ण का ज्योतिर्मय दर्शन प्राप्त हुआ और फिर थोड़े ही दिनों में शीतलादेवी ने उनके भौतिक चक्षु ले लिये ताकि वे हमेशा भीतर के प्रभुमय जगत् के ही दर्शन करते रहें। दो साल के बाद सद्गुरु रामानंदजी ने दर्शन दे कर श्रीमद्भगवद्गीता और विष्णुसहस्र-नाम का जप करने की आज्ञा दी। अब वे प्रतिदिन २२ घंटे जप करने लगे। इसके फलस्वरूप अनेक अलौकिक घटनाएं घटने लगीं, जिनका वर्णन करना असंभव है। अब इनके चरित्र-निर्माण में कुछ बाकी रहा ही नहीं। पीछे जो कुछ हुआ वह सब लोकसंग्रहार्थ ही हुआ।

चौबीस साल प्रतीक्षा कराने के बाद गुरुदेव श्रीरामानंद स्वामी ने सं. १९७२ के हरिद्वार कुंभ पर्व पर उदासीन चतुर्थाश्रमी दीक्षा दे कर जब उनको गंगेश्वरानन्द नाम दिया तब इन तरुण यतीश्वर की चरणसेवा में सब योग-सिद्धियाँ उपस्थित हो चुकीं थीं। इस वय में भी वे किशोर ही प्रतीत होते थे और मुख मण्डल अपूर्व तेज से शोभायमान था। ज्ञान तो स्वयं हृदय-कमल में प्रकट हो चुका था फिर भी गुरु-आज्ञा से वे कृष्ण के सांदीपनि आश्रम-गमन की तरह विद्याभ्यास के लिये वाराणसी गये।

केवल तीन साल में वे व्याकरण, न्याय, वेद, वेदांत, मीमांसा आदि शास्त्रों के अनन्य पण्डित हो गये। काशीनगरी में कोई पण्डित शास्त्रार्थ में उनका मुकाबला करना नहीं चाहता था, क्योंकि स्वामीजी गौरांग महाप्रभु की तरह बात की बात में विरोधियों को पराजित कर देते थे। अपने परमगुरु सुंदरदासजी के आग्रह से उन्होंने पञ्जाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा भी पास कर ली थी। इतने में एक विचित्र घटना ऐसी घटी कि सीतलपुर ग्रामके वयोवृद्ध उदासीन संत ईश्वरदासने मुख्य मण्डलेश्वर के रूप में स्वामीजी की पूजा की। सब आश्चर्य चकित हो गए। तब उन्होंने बताया कि ये तो एक विशिष्ट उद्देश्य से धराधाम पर अवतीर्ण हुए हैं। उन्हें सामान्य साधु नहीं मानना। इनके हाथ से संप्रदाय का जो अभ्युत्थान होगा और जो भव्य कार्य होंगे—उन्हें तो मैं देखूंगा नहीं, इसी लिये पहले ही पूजा कर लेता हूं। बाद में उन्होंने यह भी कहा कि ऐसे होनहार विद्वान् की कुछ विशेष देखभाल होनी चाहिए। कुनरावाले वयोवृद्ध योगिराज हरिनारायण उदासीन और छाजलीवाले पशुपक्षी-भाषावित् तपोनिष्ठ महात्मा कर्मप्रकाशजी का भी यही मत हुआ। अतः पू. गुरु रामानंदजी ने स्वामीजी को कुछ और समय निवृत्ति एवं ग्रंथ-परिशीलन में व्यतीत करने को कहा।

इसके बाद संतों की मण्डली साथ लेकर स्वामी श्री गंगेश्वरानन्दजी महाराज अध्यापन, तीर्थ-यात्रा एवं प्रवचन के संयोग से तीर्थराज प्रयाग का जंगम स्वरूप धारण कर के चारों धाम की यात्रा के निमित्त देशभर में पर्यटन करने लगे।

सन् १९२२ में स्वामीजी के दिव्य प्रवचन से आकृष्ट हो कर साधुराम नामक एक शिक्षित युवक चतुर्थाश्रमी दीक्षा के लिये तत्पर हुआ। इन्हीं का

नाम सर्वानन्द रखा गया जो आगे चल कर स्वामीजी के पट्ट शिष्य और संत समाज के एक अग्रणी बन गये।

अब स्वामीजी ने कई स्थलों पर सनातन-धर्म सभाओं, वेद-स्थापक मण्डलों और वृन्दावन में नारायण विद्यालय की स्थापना की। कनखल में 'उदासीन पंचायती बड़े अखाड़े' द्वारा उदासीन संस्कृत विद्यालय के निर्माण की प्रेरणा की। बिहार में 'निमाणी' ग्राम की पूर्णानंदजी द्वारा स्थापित 'सरस्वती पाठशाला' में सहयोग दिया तथा 'उदासीन संस्कृत विद्यालय काशी' का पूरा उत्तरदायित्व उठाया। लाहौर में उन्होंने सनातन धर्म विद्यापीठ की स्थापना की, जहां शास्त्री या B. A. को ही प्रवेश मिलता था और सनातन धर्म के सिद्धान्तों को तीन साल पूर्णतया पढ़ लेने के बाद विद्यार्थियों को वक्ता के रूप में देशाटन पर भेजा जाता था। अमृतसर में भी दुर्ग्याना के पास उन्होंने लक्ष्मीनारायण विद्यालय बनाया था।

अमृतसर में सुवर्ण मंदिर पर नवीन अकाली सिक्खों का अधिकार हो जाने से सनातनी जनता को स्नान सन्ध्या पाठ-पूजा का बहुत कष्ट होने लगा। तब स्वामीजी की प्रेरणा से गुरुसहायमल ने परिश्रम किया और दुर्ग्याना सरोवर के मध्य में अठारह लाख रुपये का लक्ष्मीनारायण मंदिर बनवाया। किन्तु सरोवर जल डालने पर भी शुष्क हो जाता था। इस लिये जनता ने स्वामीजी से प्रार्थना की कि आपके पुरोगामी संत निर्वाण प्रीतमदासजी की भांति स्वयं नहर ला कर अमृतसर की तरह दुर्ग्याना को जल से परिपूर्ण करें। करुणा-सागर स्वामीजी ने यह प्रार्थना स्वीकार कर के प्रवचन के समय जनता को आदेश दिया कि कल इस काम में चंदा दें। बस, दूसरे दिन एक लाख से भी अधिक लोग प्रवचन में आये और जो निधि वर्षों से संग्रहीत नहीं होती थी वह एक ही दिन में हो गई। आगे चल कर नहर-निर्माण में तीन कठिनाइआँ आईं— नहर को रेलवे लाइन पास करना पड़ता था, पासमें एक मुस्लिम सज्जन की कोठी थी जो नहर के गुजरने की संमति नहीं दे रहे थे, और सरोवर के पास मिलिट्री की ज़मीन थी जिसे खरीदने की बात द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण चल ही नहीं सकती थी। स्वामीजी ने दया कर के ये सब विपत्तियाँ दूर कर दीं। सं० १९९७ के आश्विन मास में शरत्पूर्णिमा के दिन नहरका उद्घाटन बहुत ही शान से स्वामीजी के हाथों हुआ। बृहद् ज्ञानयज्ञ हुआ। भागवत सप्ताह,

रामायण नवाह, चारों वेदों का पारायण, गीतापाठ और जलप्रवेश यज्ञ हुए। बड़ा भारी जुलूस निकला। लाखों की संख्या में लोगों ने यह उत्सव मनाया।

ऐसे विशाल उत्सव स्वामीजी के लिये नये नहीं थे। हरएक कुंभपर्व पर उनकी छावनी लगती थी, वहां हज़ारों शिष्य, साधु, विरक्त, ब्राह्मण और छात्र आते थे और अन्न-क्षेत्र चलता था। वस्त्र द्रव्यादि से योग्य व्यक्ति का सम्मान किया जाता था। कुंभपर्व समाप्त होने पर कुछ द्रव्य शेष नहीं रखते थे। वैसे गुरुआज्ञा से स्वयं अयाचक व्रत धारण किया था, किन्तु भगवदिच्छा से सब काम अपने आप बनते जाते थे।

इस बात का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है वृन्दावन का श्रौतमुनि निवास आश्रम। इस आश्रम-निर्माण के लिये ज़मीन खरीदने की बात चल पड़ी। तब स्वामीजी को कुछ निर्वेद सा प्रतीत हुआ। 'क्यों यह झंझट उठाएँ। निवृत्ति-मार्ग के उपासक हो कर क्यों इन बातों में फंसें?' ऐसा विचार आने पर उसी रात को जाग्रदवस्था में स्वामीजी को इष्ट-दर्शन हुआ। प्रभु कृष्ण कहने लगे—'गंगेश्वर! गीता के रहस्य की विस्मृति तो नहीं हुई? मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ। मैंने ही यह आश्रम-निर्माण कर रक्खा है। क्या तू निमित्त भी नहीं बन सकता?' तब स्वामीजी को बहुत ही कुतूहल हुआ। पास पैसा तो है नहीं, देखें कृष्ण भगवान् अपना काम कैसे बनाते हैं। ठीक उसी दिन एक अपरिचित माता आकर २,००० रुपये रख गई और एक भक्तपत्नी ने आ कर १,०० रुपये किसी धर्म-कार्य में लगाने के लिये स्वामीजी को दिये। श्रीकृष्ण की यह लीला देख कर स्वामीजी बहुत ही विस्मित और आनंदित हुए, क्योंकि ज़मीन का सौदा ठीक २१०० रु. में तय हुआ था।

आश्रम-निर्माण पू. स्वामीजी के हाथ से होनेवाला एक मुख्य कार्य था। स्वयं तो किसी वस्तु पर स्वामित्व की भावना रखना नहीं चाहते थे। इसी लिए उन्हों ने कई आश्रम बनाये और सब के सब पब्लिक ट्रस्ट बना कर ट्रस्टियों के हाथ सौंप दिये। ताकि स्थापना का उद्देश्य दीर्घकाल पर्यन्त सफल बने और साधुओं का जीवन सात्त्विक ही बना रहे। इस विचार से निम्नलिखित आश्रमों का निर्माण एवं ट्रस्ट संपन्न हुए—



गंगेश्वरधाम में पंडित नेहरू



गंगेश्वरधाम में पंडित नेहरू

१ रामधाम सत्संग धर्मार्थ ट्रस्ट, अमृतसर, २५-३-१९५३
२ उदासीन रामधाम साधना ट्रस्ट, हरिद्वार, १०-५-१९५३
३ उदासीन सद्‌गुरु रामानंद ट्रस्ट, वृन्दावन, ४-५-१९५३
४ स्वामी गंगेश्वरानन्द कृष्णानंद शिक्षा ट्रस्ट, काशी, १५-५-१९५३
५ वेदमन्दिर ट्रस्ट अहमदाबाद, जून १९५३
६ महाराजा जोरावरसिंह और महारानी चमन कुंवरबा ट्रस्ट, नासिक, २३-१२-१९५७
७ उदासीन सद्‌गुरु जनकल्याण ट्रस्ट, बंबई, २१-८-१९५८
८ गीताभवन मनोरमागंज, इन्दौर, १७-१२-१९५८
९ सद्‌गुरु गंगेश्वर धाम, दिल्ली,
१० सद्‌गुरु गंगेश्वर आध्यात्मिक ट्रस्ट, दिल्ली, १६-३-१९५९
११ सद्‌गुरु स्वामी श्री रामानंदजी के समाधि स्थान

इन के अतिरिक्त राजवाना आश्रम तथा अन्यान्य कतिपय स्थानों का निर्माण हुआ। स्वामीजी की प्रेरणा से और भी कई मंदिर, आश्रम, भवनादि बने।

स्वामीजी के जीवन में उत्कट देशप्रेम व साधुजनोचित विरक्ति का बड़ा ही सुंदर और विरल संयोग दिखाई दे रहा है। राजनैतिक बातों में उनकी दृष्टि बड़ी विलक्षण और दूरगामिनी है। कराची में कॉंग्रेस अधिवेशन के समय उन्हों ने सिन्ध के विभाजन के विरुद्ध मत प्रकट किया था। स्वतन्त्रता मिलने से पूर्व सौराष्ट्र जैसे देशी राज्यों में जनता को शान्त रहने तथा ब्रिटिश राज्य में असहयोग करने का आदेश दिया था, जिससे स्टेटों में राजा-प्रजा में सद्‌भाव बना रहा। जूनागढ़ में पू. सर्वानंदजी द्वारा आंदोलन चलवाया जिसके परिणाम से वह स्टेट भारत में आ गयी। देश के विभाजन से पहले उन्होंने पाकिस्तान-वासी हिन्दुओं को परिवार द्रव्यादि-सहित भारत आ जाने की सूचना दी थी, जिसके फलस्वरूप न जाने कितनों की सुरक्षा हुई थी। शरणार्थियों के लिये भी बंबई में भवन-निर्माण करवाये और सौराष्ट्र में तो पहले से ही उनके रहने तथा खाने का प्रबन्ध कैम्पों में किया। इतनी दिल खोल कर सेवा की कि उस साल प्रयाग अर्धकुंभी की छावनी भी नहीं लगाई। चीन

के आक्रमण के प्रसंग पर राष्ट्रीय रक्षा कोष में सहायता दी और अपने भक्तों से प्रेरणा कर के सुवर्णादि का दान दिलवाया। आपने भारत साधु समाज की स्थापना में भी पूरा सहयोग दिया।

स्वामीजी स्वयं सदा खादी के वस्त्र धारण करते हैं और सादगी उन्हें बहुत पसंद है। उनके ऐसे विचारों एवं कार्यों से प्रभावित होकर देशनेता भी स्वामीजी के प्रति आदर रखते हैं। जैसे अभी अभी दिल्ली में गंगेश्वर धाम के वार्षिक उत्सवपर सभी जाति के राष्ट्रीय नेताओं ने आश्रम के आमंत्रण को स्वीकार किया और प्रधान-मंत्री पंडित नेहरूजी भी आये और बड़े प्रेमसे प्रवचन किया। यह रूप होते हुए भी स्वामीजी स्वयं जल-कमल की भांति राजकारण से निर्लिप्त ही रहे और रहते हैं।

श्रीस्वामीजी को उत्तम ग्रंथों के निर्माण में अधिक प्रेम रहता है। मनुष्य की मुक्ति का साधन वैष्णव मत के अनुसार भक्ति और वेदांत मत के अनुसार ज्ञान है। किन्तु उदासीन संप्रदाय का सिद्धान्त है कि जीवात्मा के अविद्यारूपी व्यष्टि बंधन की निवृत्ति के लिये ज्ञान और मायारूपी समष्टि बंधनकी निवृत्ति के लिये भक्ति अपेक्षित है। अतः भक्ति-समुच्चित ज्ञान मुक्ति का साधन है। इस विषय में 'भक्ति-ज्ञान-समुच्चय चंद्रिका' नामक विशिष्ट ग्रंथ स्वामीजी ने स्वयं लिखा। उदासीन संप्रदाय का इतिहास-तुल्य 'श्रौतमुनिचरितामृत' नामक बृहद् ग्रंथ भी उन्हों ने ही लिखा और प्रसारित किया। शास्त्रार्थ में स्वामीजी द्वारा पराजित कई व्यक्तियोंने इस ग्रंथ के विषय में झूठी बातें कर के कुछ वैमनस्य का वातावरण फैलाने की असफल चेष्टा की, किन्तु उन लोगों की एक न चली। अन्य संप्रदायों के सभी विद्वानों ने इस अपूर्व ग्रंथ की भूरि भूरि प्रशंसा की और अपनी संमति प्रकट की। स्वामीजी ने 'वामन सामदेव' का 'रामभाष्य' संस्कृत में लिखा और 'पंचदेवोपासना' एवं 'भक्ति-योग' नामक दो पुस्तकें तैयार कीं। उन्हीं की प्रेरणा से पू. श्री आत्मानंदजी, श्रीयोगीन्द्रानंदजी तथा श्रीनिगमानंदजी आदि विद्वानों ने उत्तम ग्रंथों का निर्माण किया। श्रीमती रतनबहन फौजदार ने 'प्रेमरतन' और 'जगद्गुरु श्रीश्रीचंद्राचार्य' नामक दो अनुवादित पुस्तकें गुजराती भाषा में प्रकट कीं। स्वामीजी ने अपने गुरुदेव पू. रामानंदजी द्वारा 'संक्षेप शारीरक' का जो अनुवाद तैयार हुआ था—उसका प्रकाशन करवाया। अब भी इसी

प्रकाशनकार्य को वेग देने के लिये जन्म जयंती महोत्सव के निमित्त बंबई में एक योजना बनाई गई है, जिससे हमेशा ही लोगों के चरित्रनिर्माण में सहायक एवं सनातन धर्म के अनुशीलन और अभ्यास में उपकारक अच्छे अच्छे ग्रंथ तैयार होते रहेंगे।

जनकल्याणार्थ बड़े बड़े यज्ञयागादि कर्म भी स्वामीजी करते रहे हैं। अपने परम मित्र संत जानकीदासजी द्वारा संतराम मंदिर, नडियाद में तीन उत्सव करवाये—

१ संतराम शताब्दि उत्सव, सन् १९३१
२ पुराण-महासत्र, सन् १९३५
३ अष्टोत्तरशत श्रीमद्भागवत सप्ताह (पादोत्तरशताब्दि महोत्सव) सन् १९५५

इन उत्सवों में लाखों लोगों ने दर्शन और श्रवण का लाभ लिया और स्वयं भी तीन मास मीमांसा दर्शन पर अत्यंत सुंदर प्रवचन किये।

सन् १९५७ में बंबई के क्रॉस मैदान में एक विशाल पञ्चदेव याग स्वामीजी ने करवाया। इसमें ५०० संतों ने और ५०० ब्राह्मणों ने भाग लिया। दस लाख लोगों ने दर्शन का और श्रीमद्भागवत सप्ताह श्रवण का लाभ लिया। एक ही स्थान पर प्रवचन-मंडप, यज्ञ-मंडप, अतिथि-शाला और भोजनालय की व्यवस्था की गई थी। स्वामीजी ने अपने भक्तों को प्रेरणा दे कर कई यज्ञ-यागादि सप्ताह नवाहादि महोत्सव करवाये हैं। आज भी उनके सभी मुख्य आश्रमों में प्रतिदिन ज्ञान-यज्ञ चलता है और खास जगह पर अन्नक्षेत्र और औषधालय निरंतर चलते हैं।

स्वामीजी ने अपने देश की और साधु-संप्रदाय की जो सब से बड़ी सेवा की है, वह है अनेक विद्वान् और सुशील साधुओं का चरित्र-निर्माण। विशेष आनंद की बात यह है कि उन्होंने अपने आदरपूर्ण और प्रेममय व्यवहार से उदासीन संप्रदाय के अन्य महन्त, मण्डलेश्वर और दूसरे संतों को इतना प्रसन्न कर लिया कि स्वामीजी के प्रत्येक कार्य में इन सबका बड़ा सहयोग रहा और इस प्रकार उदासीन संप्रदाय में संगठन व ऐक्य की वृद्धि हुई।

गृहस्थ भक्तों की तो बात ही नहीं की जा सकती। उनके विशाल शिष्य-

मंडल में कितनी ही जाति, धर्म व देश के लोग हैं। क्या धनी क्या निर्धन, क्या सुशिक्षित क्या निरक्षर, आबाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों का एक बहुत ही बड़ा समुदाय उन्हें अपने गुरुदेव मान कर एक प्रेम-सूत्र से बँध कर एक परिवार ही बन गया है। पू. गुरुदेव की अगाध कृपा का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आकांक्षा व योग्यता के अनुसार होता है। स्वामीजी तो साक्षात् कल्पतरु हैं। न किसी से आसक्ति रखते हैं न किसी का अनादर करते हैं। उनका दरबार हर समय हर किसीके लिये खुला ही रहता है।

उनकी अलौकिक तेजोमयी वाणी जो एक बार सुन ले उस के लिये व्यावहारिक जगत् के पदार्थों का महत्त्व नष्ट हो जाता है, यह उनके प्रवचन की विशिष्टता है। ऐसे सद्‌गुरु जिसको मिलें, उसके भाग्य का कहना ही क्या?

भक्तिविरक्तिसमुच्चेता वेदवेत्ता तपोनिधिः।
कल्पद्रुमः प्रपन्नानां पायाद् गंगेश्वरो गुरुः।

म. मं. श्री स्वामी ओंकारानन्द
व्याकरणाचार्य, तर्क-वेदान्त-तीर्थ

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक परमपूज्य महाराजश्री के लेखों तथा प्रवचनों का संग्रह है। लेखों तथा प्रवचनों की शैली इतनी स्पष्ट तथा सुबोध है कि उनके विषय में और कुछ लिखना अनावश्यक प्रतीत होता है। फिर भी '**संक्षेपविस्ताराभ्यां श्रोतृबुद्धिमारोहति**' इस न्याय के अनुसार संक्षेप में कहे का विस्तार द्वारा तथा विस्तारपूर्वक कहे का संक्षेप द्वारा अधिक स्पष्टीकरण हो जाया करता है। लेखों तथा प्रवचनों को सुगम एवं सुबोध करने के लिए उनका विस्तार अवश्य हो गया है। इस लिए उस विस्तार का संक्षेप से परिचय दे देना सम्पादक होने के नाते मेरा कर्तव्य है।

भक्ति-ज्ञान-समुच्चय से मोक्ष

लेखों का संक्षिप्त सार यही है कि प्रेमयोग सन्तसेवा पर निर्भर है। सेवा से प्रसन्न सन्त ही गुरु के रूप में मुक्ति का मार्ग प्रदर्शन करता है। अद्वैत वेदान्ती केवल ज्ञान से मोक्ष मानते हैं। वैष्णवाचार्यों ने केवल भक्ति से ही मुक्ति मानी है। उदासीन सम्प्रदायाचार्यों का सिद्धान्त है कि मुक्ति का साधन भक्ति-ज्ञान-समुच्चय है। वेद एवं गीता के अवलोकन से पता चलता है कि बन्धन—व्यष्टि समष्टि भेद से दो प्रकार का है—व्यष्टि बन्धन अविद्या तथा समष्टि बन्धन माया। ज्ञान से अविद्या (व्यष्टि बन्धन) की निवृत्ति होने पर भी माया (समष्टि बन्धन) की निवृत्ति विना भक्ति के कदापि सम्भव नहीं। अतः मुक्ति-सम्पादन में ज्ञान को भक्ति के सहयोग की अपेक्षा अनिवार्य है।

प्रवचनों में प्रायः श्रीकृष्ण-चरित्र की ही प्रधानता है। उनमें भी अधिकतया प्रवचन भगवान् श्रीकृष्ण की रासलीला से ही सम्बन्ध रखते हैं। अतः रासलीला के सम्बन्ध में कुछ विचार उपस्थित करना अनुपयुक्त न होगा।

भागवत—श्रीकृष्ण का वाङ्मय विग्रह

परम्परा के अनुसार श्रीमद्भागवत को आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का साक्षात् वाङ्मय विग्रह स्वीकार किया गया है। उसमें भी दशम स्कन्ध को

भगवद्विग्रह का हृदय-स्थान तथा रासपञ्चाध्यायी के पांचों अध्यायों को पांच प्राण माना गया है। श्रीकृष्ण की सभी लीलाओं में रासलीला ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

हरिवंशपुराण में रासलीला

पुराणों में सब से पहले रासलीला का वर्णन हमें हरिवंश पुराण (विष्णुपर्व २०,१५–३५) में मिलता है। इस पुराण में रासलीला का नाम 'हल्लीसक' पाया जाता है। टीकाकार नीलकण्ठ ने अपनी टीका में 'हल्लीसक' का अर्थ 'रास'ही किया है। परन्तु यहां इसका वर्णन बहुत ही संक्षिप्त है। विष्णुपर्व के केवल २१ श्लोकों में ही सारी रासलीला आगई। इस रासलीला को श्रुति-मूलक सिद्ध करते हुए नीलकण्ठ जी ने यह श्रुति उद्धृत की है—

पद्या वस्ते पुरुरूपा वपूँष्यूर्ध्वा तस्थौ त्र्यविं रेरिहाणा।
ऋतस्य सद्म विचरामि विद्वान्महद्देवानामसुरत्वमेकम्॥

(ऋग्वेद ३, ५५, १४)

(हरिवंश, विष्णुपर्व, २०,२५ नीलकण्ठी में उद्धृत)

चान्द्रभाष्यम्—श्रीकृष्णमूर्तिः, पद्या = पद्यानि = पदसञ्चारे साधूनि नृत्यकुशलानि, पुरुरूपा = एकैकया गोपिकया सार्द्धं नृत्यसौकर्याय बहूनि, वपूँषि= शरीराणि, वस्ते=आच्छादयति वस्त्रवत् परिधत्ते। गीतायां (२,२२) शरीराणां वस्त्रसादृश्यं स्फुटमेव। न केवलमेतावदेव, अपि तु युवतीयूथमध्यस्थोऽपि भगवन्मूर्तिः, त्र्यविम् = अविशब्दो देशवचनः, त्रीन् अवीन् = देशान्, पार्श्वद्वयं पुरस्ताच्च। छान्दसमेकवचनम्। दक्षिणे वामे पुरोदेशे च। रेरिहाणा = लेलिहाना = लिहती = समास्वादयन्ती, गोपिकावर्गापाङ्गवीक्षणशरशरव्यतां समास्वादयन्ती, तरुणीकटाक्षबाणविद्धापि, ऊर्ध्वा = अनुपजातमनोविकारा मनोजानभिभूता, तस्थौ = स्थिता। यद्वा, ऊर्ध्वा = रासमण्डले सर्वोत्कृष्टा व्रजेश्वरी राधा, त्र्यविम् = त्रिलोकिरक्षकम् भगवन्तं श्रीकृष्णं, रेरिहाणा = लोचनाभ्यां पिबन्ती, सादरमवलोकयन्ती। तस्थौ = स्थिता। ऋतस्य = सत्यस्य परब्रह्मणः। सद्म=स्थानं प्रादुर्भूतकेन्द्रं श्रीकृष्णविग्रहम्। विद्वान् = जानानोऽहं साधकः। विचरामि = पुष्पादिभिः पूजोपकरणैः परिचरामि। महत् = विशालम्। एकम् = अद्वितीयम्

असाधारणम्। असुरत्वम्=अस्यति सर्वान् क्षिपति इति असुरः प्रबलः, तस्य भावस्तत्त्वम्। प्राबल्यं महदैश्वर्यम्। देवानाम्=देवस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य, आदरार्थं बहुवचनम्। सर्वाभिः गोपिकाभिः सह युगपद् रमणाय बहुविग्रहपरिग्रहो मदनविजयश्च भगवदैश्वर्यचमत्कार एवेति भावः।

पद्या=पत्तुमभिसारिणीभिर्गोपीभिरभिसर्तुं योग्या। त्र्यविम्=त्रीन् देशान् पार्श्वद्वयं पुरस्ताच्चेति व्याचक्षाणो रासलीलाबीजत्वमस्य मन्त्रस्य नीलकण्ठोऽप्यनुमेने।

ब्रह्मपुराण में रासलीला

हरिवंश पुराण की अपेक्षा ब्रह्मपुराण (२८९, १४–१५) में रासलीला का कुछ अधिक विकसित तथा मनोरंजक वर्णन मिलता है। इसमें रासलीला को ३२ श्लोकों में प्रतिपादित किया गया है। यदि ऐसा कह दिया जाय कि रासलीला का मूलस्वरूप हरिवंश पुराण में अङ्कुरित होकर ब्रह्मपुराण में शनैः शनैः पल्लवित होता है, तो कोई अनुचित नहीं होगा। ब्रह्मपुराण की रासलीला में श्रीकृष्ण का साथ बलराम भी देते हैं।

विष्णुपुराण में रासलीला

विष्णुपुराण (५,१३) के अनुसार श्रीकृष्ण ने बलराम के बिना अकेले ही रासलीला की। इस पुराण के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि श्रीकृष्ण गोपियों के साथ रात्रि को सदैव रासक्रीड़ा किया करते थे।

पद्मपुराण में रासलीला

उपर्युक्त पुराणों में रासलीला का आधिभौतिक भाव ही मिलता है। परन्तु पद्मपुराण में रासलीला के आधिदैविक तथा आध्यात्मिक भाव भी मिलते हैं। पद्मपुराण में एक स्थान पर रासलीला का ऐसा वर्णन आता है—श्रीकृष्ण वृन्दावन में कालिन्दी के तट पर कल्पवृक्ष के नीचे, करोड़ों गोपियों के मध्य विराजमान हैं। वे जगन्नाथ त्रिगुणातीत तथा अव्यय के रूप में उपस्थित हैं। श्रुति-स्वरूपिणी सैंकड़ों गोपियाँ हँसती हुई उनसे क्रीड़ा कर रही हैं। श्रीकृष्ण की चिन्मयी स्वरूपशक्ति चिन्मयी माया श्रीराधा के रूप में उपस्थित है। इस

प्रकार श्रीकृष्ण अव्यय पुरुष, श्रीराधा प्रकृति तथा गोपियाँ श्रुतियों के रूप में वर्णित की गई हैं (पद्मपुराण पातालखण्ड, ७७)—यह सारा आधिदैविक भाव है।

इसी पुराण में एक अन्य स्थान पर गोपियों को योगिनी, यमुना को अमृत-वाहिनी सुषुम्ना, श्रीकृष्ण को सर्वव्यापक परमात्मा तथा वृन्दावन को लौकिक नेत्रों का अगोचर तेजोमय स्थान चित्रित किया गया है (पद्मपुराण, पातालखण्ड, ९५)—यह आध्यात्मिक भाव है।

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें रासलीला

ब्रह्मवैवर्त पुराण में रासलीला का वैभव परिपूर्ण वर्णन इस प्रकार मिलता है—रासमण्डल के चारों ओर मणियों की प्राचीर है। पुष्पों के उद्यान हैं। सरोवरों में कमल खिले हैं। रत्नजटित दीपकों से रासमण्डल जगमगा रहा है। यत्र तत्र सुवर्ण-कलश स्थापित हैं। (ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्णजन्म खण्ड १७, १६३, १६७)।

देवीभागवत में रासलीला

देवी भागवत (८, २, २४–२६) में भी रासलीला के आधिदैविक भाव की झलक मिलती है। इसके अनुसार परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण चिच्छक्तिस्वरूपिणी राधा के साथ विहार करते हैं। इस प्रकार सृष्टि के लिए प्रकृति-पुरुष का सम्बन्धमात्र ही रासलीला का आशय है।

इस भान्ति अन्यान्य पुराणों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि रासलीला के सूक्ष्मतत्त्व हरिवंश पुराण में अंकुरित होकर विष्णुपुराण तथा ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में क्रमशः विकसित होते हुए श्रीमद्भागवत में पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुके हैं।

लीला और चरित्र में अंतर

रासलीला के विषय में और अधिक सूक्ष्म विचार करने से पहले हम लीला तथा चरित्र शब्दों के अर्थों को भलीभाति समझ लें। वैसे तो आपाततः दोनों शब्दों का अर्थसाम्य-सा ही प्रतीत होता है। परन्तु फिर भी दोनों में

पर्याप्त भेद है। जिस कार्य में मनोविनोद के अतिरिक्त और कोई हेतुविशेष न हो, जिस कार्य को स्वेच्छया किया जाय, जो कार्य विचित्रताओं से परिपूर्ण हो तथा जो कार्य आनन्द-विधायक हो—उसे 'लीला' कहते हैं। जो कार्य आदर्श उपस्थित करने के उद्देश्य से किए जाते हैं—उन्हें 'चरित्र' कहते हैं। चरित्रों और लीलाओं के कारण ही उनके नायक का रूप निष्पन्न होता है। इस लिए भगवान् श्रीराम को आदर्श-चरित्र मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा भगवान् श्रीकृष्ण को लीला-पुरुषोत्तम कहा जाता है।

माधुर्य और ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति

वैसे तो भगवान् श्रीकृष्ण की प्रत्येक लीला में माधुर्य एवं ऐश्वर्य दोनों का साथ साथ दर्शन होता है; परन्तु रासलीला में तो ये दोनों अत्यधिक रूप से प्रकट हुए हैं। इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए ही सम्भवतः व्यासदेवजी ने रासपञ्चाध्यायी के प्रथम श्लोक—

भगवानपि ता रात्रीः (भा० १०, २९, १)

—का प्रारम्भ 'भगवान्' शब्द से ही किया है। इस से यह भी ध्वनित होता है कि प्रस्तुत रासलीला में भगवान्‌की भगवत्ता के प्रतिपादक छहों तत्त्वों—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

—का पूर्णरूपेण प्राकट्य हुआ है। रासलीला के समय भगवान् का अनेक रूप धारण करना, गोपियों के मद को प्रशमन करने के लिए अन्तर्धान होकर पुनः प्रकट हो जाना—ये सब भगवान् के समग्र 'ऐश्वर्य' के द्योतक हैं। अपने पतियों को छोड़कर आई गोपियों के प्रति पातिव्रत्य धर्म का उपदेश देकर उन्होंने 'धर्म' को प्रगट किया। गोपियों ने स्थान स्थान पर भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन किया है, जिससे उनके 'यश' का प्राकट्य होता है। उनके कोटि-काम-सुन्दर साक्षान्मन्मथ-मन्मथ ललित रूप द्वारा 'श्री' का प्रकाश होता है। पूर्णतया अवरुद्ध सौरत-स्थिति के द्वारा उनके 'ज्ञान' की अभिव्यक्ति होती है। अन्तर्धान होकर गोपियों के प्रति अनासक्त भाव का प्रदर्शन करने से उनके

पूर्ण 'वैराग्य' पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार रासलीला में भगवत्ता के सूचक छहों तत्त्वों का पूर्ण विकास पाया जाता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण

रासलीला में भगवान् श्रीकृष्ण के लिए 'योगेश्वर' तथा 'योगेश्वरेश्वर' शब्दों का प्रयोग आया है। यहाँ पर योग शब्द से ज्ञान तथा भक्ति दोनों का ही निर्देश है। ज्ञान भी एक योग है। भक्ति भी एक योग है। योग होते हुए भी दोनों में इतना अन्तर है कि एक में वासनाओं का विलीनी-करण होता है और दूसरे में वासनाओं का निर्मली-करण। ज्ञानयोग में वासनाओं को विलीन= उन्मूलन करने का प्रयत्न किया जाता है, तो भक्तियोग में उन्हीं वासनाओं को निर्मल=विशुद्ध करके उनके प्रवाह को बदल दिया जाता है। भक्तियोग का वासनाओं का विशोधन-रूपी यह सिद्धान्त रासलीला में मूर्तरूप में प्रकट हुआ है। अन्य सभी वासनाओं की अपेक्षा कामवासना सबसे प्रधान है। इसका जीतना या दबाना यदि असम्भव नहीं तो अतिदुष्कर अवश्य है। परन्तु आप देखते हैं कि रासलीला में इस कामवासना का विशुद्धीकरण स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। सर्वप्रथम कामभाव को लेकर ही गोपियों की कृष्णोन्मुख वृत्ति का आविर्भाव हुआ था। परन्तु गोपियों की काम-वृत्ति का विषय कोई ऐसा वैसा काम-पराजित सांसारिक व्यक्ति नहीं था। उनकी वृत्ति का विषय तो माया-विग्रह-धारी काम-विजयी साक्षात् श्रीकृष्ण परमात्मा थे, जिनके लिए व्यास जी ने 'साक्षान्मन्मथ-मन्मथः' ऐसा कहा है। अनन्यभाव से श्रीकृष्ण की शरण में आते ही गोपियों की वासनाओं का प्रवाह बदल जाता है। उनकी वासनाएं शुद्ध, निर्मल एवं सात्त्विक बन जाती हैं। जिन गोपियों ने काम-भावाविष्ट होकर श्रीकृष्ण को आत्म-समर्पण किया था—वे गोपियां श्रीकृष्ण के समीप आते ही निष्काम हो गईं। उनके काम का स्वरूप ही बदल गया। वह काम भुने हुए धान्य के बीज के समान हो गया—जिनमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं रहती। श्रीकृष्ण भगवान् स्वयं इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहते हैं—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥ (भा० १०, २२, २६)

भावना कोई भी हो—तन्मयता अपेक्षित है

इस प्रकरण से एक और भी बहुत बड़े रहस्य पर प्रकाश पड़ता है। वह यह कि शुद्ध भगवद्भक्ति की अपेक्षा काम, द्वेष, भय, स्नेह आदि लोक-सहज भावों में अधिक तन्मयता होती है। इसी तन्मयता के कारण उनके द्वारा भगवान् की प्राप्ति सुगमतया तथा निश्चिततया हो जाती है। श्रीमद्भागवत में इस तथ्य का उदाहरणों सहित प्रतिपादन किया गया है—

यथा वैरानुबन्धेन मर्त्यस्तन्मयतामियात्।
न तथा भक्तियोगेन इति मे निश्चिता मतिः॥

(भा० ७, १, २६)

कामाद् द्वेषाद् भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥

(भा० ७, १, २९)

गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्या वयं विभो॥

(भा० ७, १, ३०)

ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त तथ्य को प्रमाणित करने के लिए ही श्रीकृष्ण का अवतार हुआ है। इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए गोपियों को भी इस प्रकार का अभिनय करना पड़ा। यदि गोपियां ऐसा न करतीं तो पूर्णावतार की पूर्णता में अपूर्णता ही रह जाती। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे द्वेष, भय तथा स्नेह आदि भावों के द्वारा श्रीकृष्ण की प्राप्ति के प्रमाण मिल जाते हैं, उस प्रकार कामभाव से श्रीकृष्ण को प्राप्त करने का निदर्शन ही न मिल सकता। ऐसा होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि द्वेष, भय तथा स्नेह आदि भावों से तो भगवत्प्राप्ति हो सकती है, परन्तु कामभाव के द्वारा नहीं। इस अधूरेपन को पूरा करने के लिए ही गोपियों को इसका प्रमाण बनना पड़ा, और उसी के अनुरूप उन्हें वैसा स्वांग भी रचना पड़ा।

रासलीला के प्रयोजन

यह रासलीला जितनी मधुर है उतनी ही रहस्यमयी भी है। इसकी रहस्यमयता ने परमभागवत राजा परीक्षित के मन को भी शङ्काशील बना दिया। उसे भी यह रासलीला कामलीला ही प्रतीत हुई। आपाततः पढ़ने वाले भी इसे प्रायः ऐसा ही समझते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह रासलीला विलास-लीला न होकर संन्यास-लीला है। कामलीला न होकर काम-विराम-लीला है। रासलीला के वर्णन की समीक्षा करने से यही प्रतीत होता है कि भगवान् के रासलीला करने के दो प्रयोजन थे। प्रथम—परमहंसों, भक्तों तथा साधकों को साधना-पद्धति का उपदेश देना। द्वितीय—कामदेव पर विजय प्राप्त कर अपने पूर्णावतारत्व को प्रमाणित करना।

प्रथम प्रयोजन—साधना उपदेश

प्रथम प्रयोजन का समर्थन तो इसी से हो जाता है कि इस का वक्ता शुकदेव जैसा जीवन्मुक्त परमविरक्त परमहंस और श्रोता मुमूर्षू महाराजा परीक्षित तथा परमहंस-कोटि के असंख्यात मुनिजन। इसी कारण श्रीमद्भागवत का दूसरा नाम ही 'पारमहंसी संहिता, रख दिया गया है। 'पारमहंसी संहिता' शब्द का अर्थ है परमहंसों से सम्बन्धित संहिता। परमहंसों की साधना से सम्बन्धित आध्यात्मिक अर्थों का ज्ञान रासपञ्चाध्यायी के अध्ययन से होता है। इसी लिए रासपञ्चाध्यायी के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीधर स्वामी ने लिखा है कि रासपञ्चाध्यायी सर्वथा निवृत्ति-परक है—

'किञ्च शृङ्गारकथापदेशेन विशेषतो निवृत्तिपरेयं पञ्चाध्यायी'।

द्वितीय प्रयोजन—कामविजय

द्वितीय प्रयोजन था कामविजय। ब्रह्मा, शिव, नारद, आदि पर विजय प्राप्त कर लेने से काम का अभिमान बहुत बढ़ गया था। उसने भगवान् श्रीकृष्ण पर भी हाथ साफ करना चाहा। भगवान् श्रीकृष्ण ने उसके मनोभावों को ताड़ उसकी चुनौती स्वीकार करली। श्रीकृष्ण ने कामदेव को यह भी कह

दिया कि तुम अपने सभी शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित होकर युद्ध करना। हारने पर किसी प्रकार की कमी का अभियोग न लगाना। कामने गोपियों के शरीरों को अपना दुर्ग बनाया तथा उनके प्रधान अवयवों को युद्ध-मञ्च। अपनी सारी सैन्य-सामग्री लेकर वह श्रीकृष्ण से लड़ा, परन्तु श्रीकृष्ण पर उसका एक भी वार सफल न हो सका। उसके बाण कुण्ठित होगए। उसे अपने मुँह की खानी पड़ी। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह कामलीला नहीं अपि तु काम-विराम लीला है।

रासपञ्चाध्यायी की टीका के मङ्गलाचरण के श्लोक—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

—में श्रीधर स्वामी ने स्पष्ट ही लिख दिया है कि ब्रह्मादि को जीतने के कारण काम को अभिमान हो गया था। उस अभिमान को दूर करनेवाले गोपिकावल्लभ श्रीकृष्ण की जय हो। तदनन्तर रासपञ्चाध्यायी के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए श्रीधरस्वामी लिख रहे हैं—

'तस्माद्रासक्रीडाविडम्बनं कामविजयख्यापनायेत्येव तत्त्वम्।'

रासलीला—आदर्शलीला

अब प्रश्न यह उठता है कि इस रासलीला से हमें किस आदर्श की प्राप्ति होती है? भूमिका को उपसंहृत करने से पूर्व इस प्रश्न का उत्तर देना भी आवश्यक समझता हूँ। यदि निष्पक्षभाव से श्रीकृष्ण की संपूर्ण लीलाओं का अध्ययन किया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण की सभी लीलाओं की अपेक्षा रासलीला ही आदर्श-पूर्ण लीला है। माखनचोरी आदि लीलाएं वास्तव में लीलामात्र ही हैं। इस रासलीला की मुख्य पात्र हैं गोपियाँ, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को आत्म-समर्पण करने का एक उच्च आदर्श उपस्थित किया है। यदि भगवान् श्रीकृष्ण को ही इस लीला का मुख्य पात्र समझ लिया जाय, तो एकान्त वन में रात्रि के समय अनुरक्त एवं अनुकूल प्रमदाओं के साथ रमण करके भी 'स्वात्मन्यवरुद्धसौरत' बने रहना—क्या उच्चतम आदर्श

नहीं है ? वस्तुस्तु श्रीकृष्ण की रासलीला में आदर्श ढूंढना ही अपराध या अन्याय है। ये लीलाएं आदर्श के लिए की ही नहीं गईं। ये तो लीला के लिए ही की गई थीं। आदर्श तो हमें भगवान् राम के चरित्रों से मिलता है—जो केवल इसी लिए ही किए गए थे। रासलीला तो भगवान् की गुप्त लीला है। गुप्त लीलाओं में आदर्श को स्थान ही कहां होता है। आदर्श के कार्य तो सर्वप्रत्यक्ष किए जाते हैं। परन्तु फिर भी यह आदर्श से रहित नहीं। इसीमें इस लीला की निगूढता है।

विदुषामनुचरः
आचार्य श्रीशंकरानन्द स्वामी,
M. A. (Phi.)
सर्व-दर्शनाचार्य, काव्य-तीर्थ
साहित्य-रत्न

अनुक्रमणिका

लेख-माला

प्रवचन-माला

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ
अनन्तश्रीविभूषित वेददर्शनाचार्य
महामण्डलेश्वर श्री १०८

स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज उदासीन

के

समय समय पर प्रकाशित

लेख

१

वेद में प्रेमयोग

कृष्णावसनविस्तारिकृष्णं कृष्णसखं भजे।
पारिजातं प्रपन्नानां सुप्राप्यं प्रेमयोगतः॥

भगवत्प्राप्ति का एक-मात्र सहज साधन प्रेम-योग है। इसीको भक्ति-योग भी कहते हैं। ऋग्वेद इसे महान् देव मानता है और अद्‌भुत वृषभ के रूपक द्वारा इसका चित्ताकर्षक चित्र प्रस्तुत करता है। यथा—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥
(ऋग्वेद ४, ५८, ३)

त्रिधा बद्धः = तीन प्रकार की चित्तावस्था-रज्जुसे जकड़ा हुआ।

वृषभः = बैल के समान मनोरथ-पूर्ति का साधन प्रेम-योग।

मर्त्यां = मनुष्य-समाज में।

आविवेश = आविष्ट अर्थात् मानव-कल्याण के लिए धराधाम पर मानव-समाज में प्रेम-योग का आविर्भाव हुआ।

रोरवीति = वह नवजात शिशु की भाँति बार बार या उच्च स्वरसे शब्द करत है। भक्त का सतत भगवत्-स्तुति-पाठ ही शब्द करना है।

अस्य = इस प्रेमयोग वृषभ के।

चत्वारि शृङ्गा = चार सींग।

द्वे शीर्षे = दो शिर।

सप्त हस्तास = सात हाथ और

अस्य त्रयः पादाः = इसके तीन चरण हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र द्वारा प्रेम-योग-रूपी अद्भुत वृषभ का वर्णन महान् देव के रूपमें किया गया है। तदनुसार अब प्रेम योग के विविध अंग विचारणीय हैं।

पाठकों की सुविधा के लिये यह बता देना उपयुक्त होगा कि शास्त्रों में भक्ति-योग की ग्यारह भूमिकाएँ वर्णित हैं। उनमें सात साधन और चार साध्य श्रेणी की हैं। साधन का अर्थ कारण और साध्य का अर्थ फल है। साधनीभूत सात भूमिकाएँ प्रेम-योग-रूपी वृषभ के सात हाथ हैं; क्योंकि उनके द्वारा भक्त भगवान् को आत्मसात् करने के लिए प्रयास करता है। श्रद्धाधन मधुसूदन मुनि ने भक्ति-रसायन के प्रथम समुल्लास में भक्ति-योग की भूमिकाओं के नाम इस प्रकार गिनाए हैं—

प्रथमं महतां सेवा तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुणश्रुतिः॥ ३२॥

ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतिस्ततः।
प्रेमवृद्धिः परानन्दे तस्याथ स्फुरणं ततः॥ ३३॥

भगवद्धर्मनिष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठेत्युदिता भक्तिभूमिकाः॥ ३४॥

प्रेमयोग-रूपी मंदिर के शिखरारोहण के लिए प्रथम सोपान भगवत्स्नेही महात्माओं की सेवा है। इस प्रथम भूमिका 'महत्सेवा' को श्रीमद्भागवत (५।५।२) में मुक्ति का द्वार कहा है—

"महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः"

(२) दूसरी भूमिका है—महात्माओं का दया-पात्र बनना। सेवक पर स्वामी अवश्य दया करता है और सच्चा सेवक स्वामी के हृदय में अपना विशेष स्थान बना लेता है। इसका वर्णन श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के नारदोपाख्यान के चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायों में किया गया है। वहाँ चातुर्मास्य के अवसर पर दासीपुत्र नारद अपनी माता के सहित मनसा वाचा कर्मणा महात्माओं की सेवा में संलग्न हो जाते हैं; जिससे महात्माओं के जूठन का

प्रसाद पाकर उनका अंतःकरण पवित्र हो जाता है। माता के देहान्त के पश्चात् वे दयालु महात्माओं द्वारा निर्दिष्ट प्रेमयोग की साधना के लिए जंगल में जाकर तपस्या करने लगते हैं। फल स्वरूप उन्हें भगवद्दर्शन होता है। बस, इसी प्रकार महात्माओं के सान्निध्य में रहकर सेवा द्वारा अपनेको उनका विशेष कृपा-पात्र बना लेना प्रेमयोग की द्वितीय भूमिका है। महात्माओं की कृपा से अनेक साधकों का कल्याण हुआ है, हो रहा है और आगे भी होता रहेगा। इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं।

इतिहास के पन्नों में भक्त फरीद की बहुत ही मनोरंजक कथा अंकित है। भक्त फरीद अपने गुरुदेव को उष्ण जलसे स्नान कराना अपना कर्तव्य समझते थे। पर उन दिनों चातुर्मास्य में रात के समय आग का मिलना बहुत कठिन था; क्योंकि आज-कल के समान तब दियासलाई का आविष्कार तो हुआ नहीं था। इसलिये जब आग की आवश्यकता पड़ती थी, तब लोग दूसरों के घर से माँग लाते थे। एक बार भक्त फरीद के यहाँ आग नहीं थी। वर्षा, वायु और शीत के कारण लोगों ने अपने घरों के द्वार बंद कर रखे थे। आग कहाँ से लावें—फरीद के सामने यह संकट उपस्थित था। चारो ओर दृष्टि दौड़ाने पर उन्हें केवल एक वेश्या के घर दिया टिमटिमाता दिखाई पड़ा। लोकापवाद की परवाह किए बिना ही भक्त फरीद वेश्या के कोठे पर चढ़ गए। वह वेश्या पहले से ही साधु-सन्तों से जली-भुनी बैठी थी। भक्त के आग माँगने पर उसने बदले में दाहिनी आँख माँगी। भक्त फरीद ने बिना आगा-पीछा किए अपनी दाहिनी आँख निकाल कर वेश्या के सम्मुख रख दी। वे आग लेकर चले आये। गुरुदेव को उष्ण जल से विधिवत् स्नान कराया। फरीद ने इस बात के लिये भरसक प्रयत्न किया कि गुरुदेव को इस घटना का पता न चले, परन्तु सर्वान्तर्यामी गुरुदेव की दिव्य-दृष्टिसे यह सब कैसे छिप सकता था? गुरुदेव ने शिष्य की उत्कट गुरु-भक्ति और सेवा से प्रसन्न होकर उसे हृदय से लगा लिया और अपना कमल-कोमल कर उसके सिर पर रख दिया। उसके स्पर्श-मात्र से भक्त के हृदय-कपाट खुल गए और वे आत्म-दर्शन द्वारा सदा के लिये भव-बन्धन से मुक्त हो गए।

(३) तीसरी भूमिका है—भागवत-धर्म श्रवण कीर्तनादि में विशेष अभिरुचि। श्रीमद्भागवत में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

शुश्रूषोः श्रद्धानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥

(भा० १, २, १६)

सूतजी कहते हैं कि हे विप्रगण! जो मनुष्य सेवा करता है, या जिसमें महात्माओं के मुख से भगवद्गुणानुवाद सुनने की उत्कंठा है, जिसकी श्रद्धा अटल है और जो पवित्र तीर्थ-स्थानों में निवास करता है—उसकी श्रवण कीर्तनादि भागवत-धर्म में विशेष अभिरुचि होती है। श्रवणादि नवधा साधन-भक्ति में विशेष अभिरुचि ही तृतीय भूमिका है।

(४) तदुपरान्त उस साधक की हरि-गुण-श्रवणादि में प्रवृत्ति—चौथी भूमिका है। मूल कारिका में हरिगुण-श्रुति-पद कीर्तनादि का भी उपलक्षण है। नवधा भक्ति में तीन त्रिक हैं। प्रथम त्रिक श्रवण, कीर्तन और स्मरण का है, जिसका संबंध नाम-निष्ठासे है। श्रवण-कीर्तन का भगवन्नाम से संबंध स्पष्ट है। स्मरण में भी शास्त्रकारों ने भगवन्नाम का संबंध माना है। स्मरण करते समय जबकि मनुष्य उच्च-स्वर से नहीं बोलता है, फिर भी धीरे धीरे सूक्ष्म उच्चारण तो होता ही है। यदि किसी मौनी मनुष्य ने कोई नया श्लोक बना कर लिख दिया तो यहाँ पर प्रत्यक्ष उच्चारण का अभाव होने पर भी श्लोक के शब्दों का सूक्ष्म उच्चारण तो रहता ही है। इसे प्रायः सभी जानते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो लोग भगवन्नाम को वक्ता के मुख से सुनते हैं, वे स्वयं उच्च-स्वर से उसका कीर्तन करते हैं। अतः श्रवण-कीर्तन के समय अनुभूत नाम का ही बार बार स्मरण करना—त्रिक में स्मरण शब्द का अर्थ है। नाम एवं नामी का तादात्म्य (अभेद) होने से अर्थ-चिंतन में नाम का और नाम-स्मरण में अर्थ का संबंध अवश्यमेव बना रहता है। अब श्रवणादि त्रिक नाम-निष्ठा के साथ संबंधित होता है। उसे वाचिक या आधिभौतिक भक्ति भी कह सकते हैं।

द्वितीय त्रिक में पाद-सेवन, अर्चना और वंदना हैं। इसका संबंध रूप-निष्ठा के साथ है। भगवान् की स्थावर-मूर्ति प्रतिमा एवं जंगम-मूर्ति महात्माओं का पाद-प्रक्षालन आदि ही 'पाद-सेवा' है। पुष्पादि से भगवान् की प्रतिमा की एवं जंगम-मूर्ति सन्तों की पूजा करना ही 'अर्चना' है। भगवान् की इन दोनों

प्रकार की मूर्तियों को साष्टांग प्रणाम करना ही 'वंदना' कहलाती है। इस रूप-निष्ठा-संबंधी त्रिक को शारीरिक या आधिदैविक भक्ति भी कह सकते हैं।

किसी कवि ने निम्नांकित श्लोकमें रूप-निष्ठा का कितना अद्भुत और सुंदर चित्र खींचा है—

> **अह्नाय प्रतिबुध्यतां किमभवद् रामाङ्गना ह्याहृता,**
> **भुक्ता नैव कुतो यतो न भजते रामात्परं जानकी।**
> **रामः किं न भवानभूद् वद सखे तालीदलश्यामलं,**
> **रामाङ्गं भजतो ममापि कलुषो भावो न सञ्जायते॥**

रावण कुंभकर्ण को जगा कर कहता है—

"शीघ्र उठो।"

"क्यों, क्या हुआ भाई! मुझे क्यों नहीं सोने देते हो?" कुंभकर्ण ने पूछा।

"मैंने राम की पत्नी सीता का हरण किया है।"

"तो क्या उसने आपके प्रेमाभिलाष को स्वीकार कर लिया?"

"नहीं।"

"क्यों?"

"सीता राम के अतिरिक्त अन्य किसीको नहीं चाहती। चाहने की बात तो दूर रही उसके हृदय में पर-पुरुष के लिए स्वप्न में भी स्थान नहीं है।"

"पर आप तो पक्के मायावी हैं। माया से राम का स्वरूप क्यों नहीं बना लेते?"

"मैंने अब तक कुछ उठा नहीं रखा। क्या करूं, जब मैं राम का स्वांग धारण करता हूँ तब मेरे हृदय से दूषित भावनाएँ दूर हो जाती हैं, जिससे मंदोदरी के अतिरिक्त सारा नारी-समाज जगदम्बा के रूपमें प्रतीत होने लगता है।"

पाठक-वृन्द! रावण-कुंभकर्ण के इस संवाद से आप भगवद्रूप-निष्ठा की महिमा भलीभांति समझ गए होंगे।

अफ्रीका की एक कहानी और सुनिए—

किसी गोरे अधिकारी के बँगले में हबशी का चित्र टँगा था, जिसका दर्शन प्रतिदिन उसकी गर्भवती स्त्री को होता रहता था। इसका परिणाम यह हुआ

कि नवजात शिशु का रंग काला हुआ, न कि गोरा। इससे पति को पत्नी के चरित्र पर सन्देह हुआ। उस देवी ने शपथ-पूर्वक पति को अपनी पवित्रता का विश्वास दिलाया। बड़े तर्क-वितर्क के पश्चात् उस गोरे अधिकारी की समझ में यह बात आई कि काले हबशी के निरन्तर चित्र-दर्शन के कारण ही बालक का रंग काला हुआ है।

महाभारत में एक और भी कथा प्रसिद्ध है—

किरात एकलव्य ने आचार्य द्रोण की प्रतिमा के समक्ष धनुर्विद्या का अभ्यास किया था—जिससे वह हस्त-लाघव में अर्जुन से भी बढ़ गया था। इसी लिये जब सिकन्दर भारत-पर आक्रमण करने के लिए यूनान से चलने लगा, तब उसने अपने गुरु सुकरातसे निवेदन किया—"गुरुदेव! मैं भारत-विजय के लिए जा रहा हूँ। आज्ञा कीजिए, आपके लिए उपहार स्वरूप कौन कौनसी वस्तुएँ वहाँ से लाऊं?"

तब गुरुने कहा था—

गीता गोरज गायत्री, रघुवर चरित महान्।
गंगाजल ज्ञानी गुरु चित्र श्याम भगवान्॥

इस प्रकार सुकरातने सात वस्तुओं की सूची बतलाई। इन सात वस्तुओं में मुरली-मनोहर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का चित्र भी है। सुकरात ने सोचा—मैंने पुण्य-भूमि भारत के आराध्य देवाधिदेव व्रज नन्दन श्यामसुंदर की मुरली का अलौकिक प्रभाव सुना है। मैं उस मुरली-माधुरीका दिव्यानन्द अनुभव करना चाहता हूँ; परन्तु "बिन गुरु होइ कि ज्ञान" बिना गुरु के मुरली वादन कैसे हो सकता है? इसी लिए उन्होंने अपने शिष्य सिकन्दर से कहा—मुरली-वादनाचार्य श्याम-सुन्दर का चित्र अवश्य लाना। मैंने सुना है कि भारत-वासियों ने एक नया आविष्कार किया है। अब उन्हें विद्यालयों या महाविद्यालयों में अध्यापक-प्राध्यापक नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं है। वे आचार्यों के चित्र सामने रखकर विद्याध्ययन कर सकते हैं—

"एकलव्य किरातने सीखा
द्रोण-चित्र से बाण चलाना।

फिर हम भी क्यों न सीखेंगे
श्याम-चित्र से मुरली बजाना ॥

जब किरात एकलव्य ने आचार्य द्रोण की प्रतिमा से बाण चलाना सीखा, तब श्यामसुन्दर के चित्र से हम मुरली बजाना क्यों नहीं सीख लेंगे ?

देखिए—भारतीय प्रतिमा-पूजन के सिद्धान्त के प्रति विदेशियों की कितनी गहरी आस्था है। पर दुर्भाग्यवश हम भारतवासी रूपनिष्ठा (प्रतिमा-पूजन) की महिमा भूल गए हैं। इसीलिए हम भगवद्-दर्शन से वंचित हो रहे हैं।

तृतीय त्रिक दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन का है। इसीको भाव-निष्ठा एवं मानसिक सेवा या आध्यात्मिक भक्ति भी कह सकते हैं। भगवत्सेवा को ही अपने जीवन का व्रत बना लेना चाहिए। बिना भगवत्सेवा के व्यर्थ जीवन को छोड़ देना ही ठीक है। उन प्राणोंका क्या प्रयोजन जो भगवत्सेवा के काम नहीं आते ? जीयें तो भगवत्सेवा के लिए, अन्यथा चल बसने से हानि ही क्या है ? अति दुर्लभ सेवा-व्रत की इस भावना का नाम ही दास्य है। सख्य, मैत्री को कहते हैं। इस भाव में भक्त भगवान् के साथ निःसकोच व्यवहार करता है। अपने शरीर आदि समग्र वस्तुओ को भगवत्सेवा के लिये ही नियत कर देना आत्मनिवेदन है। भक्त की जीभ पर भगवान् के अतिरिक्त और किसीका नाम आता ही नही। भक्त की आँखें भगवद्दर्शन के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख पातीं। भक्त के कान भगवन्नाम छोड़कर और कोई बात सुन ही नहीं सकते। भक्तों के लिए और अधिक क्या कहें ? महात्मा सूरदास के शब्दों में भक्तों के मन-मन्दिर से तो क्षणभर के लिए भी श्यामसुदर की मूर्ति अलग नहीं हो सकती—

'हृदय से वह श्याम मूरति छिन न इत उत जात'।

बस, इसी स्थिति का नाम आत्मनिवेदन है।

अब आत्मनिवेदन की एक मार्मिक कथा और भी सुनिए—

एक भक्त कुएं में उलटा लटका हुआ था। उसका शरीर सूखकर कांटा हो गया था। कौवे, चील, गिद्ध आदि मांसभक्षी पक्षी उसकी त्वचा और मांस को नोच नोचकर खा गए। जब आँख के आस-पास के बचे मांस पर उन

दुष्ट पक्षियों की दृष्टि पड़ी तो कौवा उसपर चोंच मारने लगा। उस समय भगवद्दर्शन की तीव्र लालसा के कारण उस भक्त के मुँह से निकला—"अरे कौआ! क्या तुम्हें इतना भी पता नहीं है कि केवल भगवद्दर्शन की अभिलाषा से ही मैंने अपने दोनों नेत्रों को सुरक्षित रखा है?" भक्त के इस वचन से पाठक अवश्य समझ गए होंगे कि भगवद्दर्शन के लिये ही भक्त अपनी आँखों को सुरक्षित रखता है। उक्त वचन कहने के पश्चात् सहसा उस भक्त के हृदय में यह विचार उठा कि कहीं मेरे इष्टदेव ही तो इस कौए का रूप धर कर नहीं आये हैं? मेरे आत्मनिवेदन भाव में कहीं त्रुटि न आ जाए। अतः भक्त सोचता है कि ऐसा करना चाहिए कि कौआ निराश होकर लौट भी न जाए, और अपना उद्देश्य भी पूरा हो जाए। इस लिए वह कहता है—

कागा ये दो नैन ले लेजा प्रिय के पास।
पहले दरस दिखाय के फिर खा लेना माँस॥

(हे काग! मेरी इन दोनों आखों को प्रियतम के पास ले जा। पहले तू इन्हें प्रिय के दर्शन करा देना, उसके पश्चात् भले मांस को खा जाना।)

इस प्रकार अपने अंग-प्रत्यंग को भगवान् के अतिरिक्त और किसी सांसारिक काम में न लगाकर केवल भगवत्सेवा में लगाने का नाम आत्मनिवेदन है। बस, साधन-स्वरूपा नवधा भक्ति का अनुष्ठान ही चतुर्थ भूमिका है।

(५) इसके पश्चात् पाँचवीं भूमिका है—भगवद्रति (भगवत्प्रीति) का उत्पन्न होना। जिस प्रकार जल-सिंचित भूमि में बीज बोने से विविध अंकुर प्रस्फुटित होते हैं—ठीक उसी प्रकार श्रद्धालु साधक की हृदय-भूमि में बोए हुए भगवद्-धर्मानुष्ठान-रूप बीजों का अंकुर भगवद्रति है। भगवद्धर्म कीर्तनादि के अनुष्ठान से पिघले हुए चित्त की सतत भगवदाकार वृत्ति ही भगवद्रति है। यही भक्ति की पाँचवीं भूमिका है। वस्तुतः देखा जाय तो यही भक्ति का वास्तविक स्वरूप है। आगे आने वाली छः भूमिकाएं इसी का परिपाक-मात्र हैं।

(६) इसके पश्चात् भक्त को स्थूल-सूक्ष्म शरीर से भिन्न अपने प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) का साक्षात्कार होता है। यदि ऐसा न हो, तो देहादि की आसक्ति के कारण साधक का चित्त विक्षिप्त होने से भगवद्रति की सहज स्थिति

संभव नहीं है। फिर तो साधक 'त्वंपदलक्ष्य' अपने स्वात्मा का 'तत्पदलक्ष्य' परमात्मा के साथ अभेद अनुभव करने लगता है। फिर वह सहसा बोल उठता है—'मैं वही हूँ—' 'सोऽहम्' 'अहं ब्रह्मास्मि'—भक्त के ये उद्गार उसी दशा के हैं। यही भक्ति की षष्ठी भूमिका है।

(७) सातवीं भूमिका में सांसारिक विषयों के प्रति भक्त का दृढ़ वैराग्य हो जाता है। उसका निरतिशयानन्द भगवान् से प्रेम बढ़ने लगता है। फिर वह प्रभु में तन्मय होकर जगत् की सारी बातें भूल जाता है—

न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत् तन्मनस्तया।
कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ॥
आसीनः पर्यटन्नश्नन्छयानः प्रपिबन् ब्रुवन्।
नानुसन्धत्त एतानि गोविन्दपरिरम्भितः ॥

(श्रीमद्भागवत ७, ४, ३७–३८)

(हे युधिष्ठिर!) प्रह्लाद बचपन में ही खेल-कूद छोड़कर भगवान् के ध्यान में जडवत् तन्मय हो जाया करते। भगवान् श्रीकृष्ण के अनुग्रह-रूप ग्रह ने उनके हृदय को इस प्रकार खींच लिया था कि उन्हें जगत् की कुछ सुध-बुध ही न रहती ॥ ३७ ॥ उन्हें ऐसा जान पड़ता कि भगवान् मुझे अपनी गोद में लेकर आलिंगन कर रहे हैं। इसलिये उन्हें सोते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, और बातचीत करते समय भी इन बातों का ध्यान बिल्कुल न रहता ॥ ३८ ॥

प्रवासी पुत्र की माता गृह-कार्य करते समय बार बार भूल करती है; क्योंकि उसका मन सर्वदा अपने प्रवासी पुत्र में लगा रहता है। भक्त को भगवान् इतना प्रिय लगता है कि उसकी तुलना में जगत् के सभी भोग्य पदार्थ उसे तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। रहीम के शब्दों में कहें तो आखों की सराय में जब भगवान् अपना पड़ाव डाल लेते हैं, तब उसमें और किसीके लिए—अन्य विचारों के लिये लेश-मात्र भी स्थान नहीं रह जाता। वे विचारे उलटे पाँव लौट जाते हैं—

प्रियतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय रहीम लखि आपु पथिक फिर जाय ॥

और अधिक क्या कहें, किसी रिक्त स्थान में कोई भी डेरा डाल सकता है; परन्तु भरे हुए स्थान को देखकर वहाँ पाँव रखने का कोई प्रयास नही करता। विवश होकर उसे लौटना ही पड़ता है। ऐसी दशा में भगवत्प्रेम-परिपूर्ण भक्त के हृदय में अन्य किसी भावना के लिये स्थान ही नहीं रहता। साधक के लिए भक्ति की यही सप्तम भूमिका है।

साधक को इस भूमिका तक साधना का अभ्यास करना पड़ता है। इसके पश्चात् आगे की भूमिकाओं में प्रवेश करने के लिए प्रयास करना अनावश्यक है। तात्पर्य यह कि भक्ति की शेष चार भूमिकाओं में साधक को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता। ये भक्त के जीवन में अनायास आप ही आप आ जाती हैं।

(८) प्रभु के प्रति भक्त का अतिशय प्रेम जाग्रत होनेपर परम-प्रेम-स्वरूप भगवान् की सतत झांकी भक्त के हृदयाकाश में होने लगती है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्,
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य,
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः,
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति॥

(भा० ३, २५, ३४-३५)

मेरी चरण-सेवा में प्रीति रखनेवाले और मेरी ही प्रसन्नता के लिए समस्त कार्य करनेवाले कितने ही बड़भागी भक्त, जो एक दूसरे से मिलकर प्रेम-पूर्वक मेरे ही पराक्रमों की चर्चा किया करते हैं, मेरे साथ एकीभाव (सायुज्य मोक्ष) की भी इच्छा नहीं करते॥ ३४॥ माँ! वे साधुजन अरुण-नयन एवं मनोहर मुखारविन्द से युक्त मेरे परम सुंदर और वरदायक दिव्य रूपों की झांकी करते हैं, और उनके साथ सप्रेम सम्भाषण भी करते हैं, जिसके लिये बड़े-बड़े तपस्वी भी लालायित रहते हैं॥ ३५॥

अतिशय प्रेम के कारण भक्तों के लिये सतत भगवद्दर्शन ही आठवीं भूमिका है। इस भूमिका में भगवान् भक्तों की दृष्टि से कदापि ओझल नहीं होते। सच पूछा जाय, तो प्रेम की अपूर्व शक्ति से स्वामी सेवक बनकर भक्त की इच्छा का अनुसरण करने लगता है।

(९) तदुपरान्त श्रवण कीर्तनादि भागवत धर्मों में निष्ठा का उदय होता है। भक्ति की यही नवीं भूमिका है। हां, इतना ध्यान में रहे कि पहले भागवत-धर्मानुष्ठान को भक्ति की चौथी भूमिका कहा गया है। अतः यदि नवीं भूमिका भी भगवन्निष्ठा है, तो फिर दोनो में अंतर ही क्या रहा? दोनों में केवल यही अंतर है कि चौथी भूमिका में भक्त को यत्न-पूर्वक श्रवण-कीर्तनादिका अनुष्ठान करना पड़ता है, जब कि इस नवमी भूमिका में वे अनायास ही जीवन में आ जाते हैं। उसके लिए साधक को तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ता। अतः सायास-निष्ठा चतुर्थी और अनायास-सिद्धा नवमी भूमिका है। विष्णुपुराण में जड़भरत का जीवन इस निष्ठा का ज्वलन्त उदाहरण है। श्रीमद्भागवत (९, ४, १५–२७) में भी राजा अंबरीष के जीवन में इस भूमिका का सविस्तर वर्णन किया गया है। राजा अंबरीष सदैव भागवत-धर्म श्रवण-कीर्तनादि में लीन रहते थे। संसार के समस्त पदार्थ उनकी दृष्टि में स्वप्नवत् मिथ्या थे। अतुल वैभव प्राप्त होने पर भी उनका हृदय अभिमान-शून्य था; जब कि सामान्य वैभव सम्पन्न होते ही लोगों का मन बिगड़ जाता है। पर वे सदैव भगवान् और भगवद्भक्त सन्तों की सेवा में संलग्न रहते थे। सारा विश्व उनकी दृष्टि में लोष्ठवत् (मिट्टी के ढेले बराबर) था। ऐसा स्वाभाविक भागवत-धर्मानुष्ठान ही भक्ति की नवमी भूमिका है।

(१०) भक्तों में भगवत्तुल्य अणिमादि सिद्धियों का आविर्भाव ही भक्ति की दशमी भूमिका है—

अथो विभूतिं मम मायाविनस्तामैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम्।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥

(भा० ३, २५, ३७)

अविद्या की निवृत्ति हो जानेपर यद्यपि वे मुझ मायापति के सत्यादि लोकों की भोग-सम्पत्ति, भक्ति की प्रवृत्ति के पश्चात् स्वयं प्राप्त होनेवाली अष्ट-सिद्धि

अथवा वैकुंठ लोक के भगवदीय ऐश्वर्य की भी इच्छा नहीं करते, तथापि मेरे धाम में पहुँचनेपर उन्हें ये सब विभूतियाँ स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं ॥ ३७ ॥

(११) 'प्रेम्णोऽथ परमा काष्ठा'—तदनन्तर प्रेम की चरम सीमा भक्ति की एकादशी भूमिका है। भक्त का प्रेम प्रभु के प्रति इतना अधिक प्रवृद्ध होता है कि अब उनकी अनुपस्थिति में वह जी ही नहीं सकता। विरहाग्नि में जलकर उसका हृदय भस्म बनने लगता है। उसमें विरह-सहन का सामर्थ्य नहीं रह जाता। विरह-व्याकुलता की अधिकता से उसके शरीर से प्राण-पखेरू सदा के लिए उड़ जाने को प्रस्तुत हो जाते हैं, और कभी कभी तो वे उड़ भी जाते हैं। श्रीमद्‌भागवत के दशम स्कंध के उन्तीसवें अध्याय की एक कथा है कि भगवान् की मुरली-माधुरी सुनकर गोपिकाएँ गृहकार्यों को अधूरा छोड़कर बंधु-वर्ग की इच्छा के प्रतिकूल व्रज-नंदन श्रीकृष्णचंद्र के चरणों में चली जाती हैं; पर कुछ गोपिकाएं बंधु-वर्ग के कठोर प्रतिबंध के कारण द्वार बंद कर देनेपर भी अपने प्रेमातिशय के कारण शरीर का परित्याग कर प्रियतम के पास पहुँच गईं। उन गोपिकाओं का प्रेम चरम सीमा पर पहुँच चुका था। उन्हें अब कोई शक्ति रोक नहीं सकती थी। अतः भगवद्दर्शन न होने के कारण प्राणों का परित्याग कर देना ही भक्ति की एकादशी भूमिका है।

भक्ति की ये एकादश भूमिकाएँ श्रीमधुसूदन सरस्वती के मतानुसार यहाँ वर्णित की गई हैं। इन भूमिकाओं में सात साधन-स्वरूपा और चार साध्य-स्वरूपा हैं। श्रीमद्‌भागवत में "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या" (११, ३, ३१) की उक्ति से भक्ति के साधन और साध्य दो स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। "भजनं भक्तिः" इस भाव-साधन व्युत्पत्ति से चित्त की भगवदाकार मनोवृत्ति-रूप भगवद्रति फल-भक्ति निर्दिष्ट हुई है, और प्रथम भक्ति-पद 'भज्यते अनया' जिससे चित्त को भगवदाकार किया जा सके, इस करण-साधन व्युत्पत्ति से श्रवण-कीर्तनादि भागवत धर्मों का वाचक है। इसी को साधन-भक्ति कहते हैं।

भागवतमें इस प्रसंग के उपसंहार में कहा गया है—

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥

(भा० ११, ३, ३३)

जो इस प्रकार भागवत-धर्मों की शिक्षा ग्रहण करता है, उसे उनके द्वारा प्रेम-भक्ति की प्राप्ति हो जाती है और वह भगवान् नारायण के परायण होकर उस माया को अनायास ही पार कर जाता है—जिसके पंजे से निकलना बहुत ही कठिन है।

इस श्लोक में प्रथम भक्ति-पद के स्थान में स्पष्ट भागवत-धर्मों का ही निर्देश किया गया है।

अब आप भलीभाँति समझ सकते हैं कि साधन-भूमिकाएँ हस्त-स्थानीय हैं, एवं अन्तिम फल-भूमिकाएँ प्रेमयोग-रूपी वृषभ के चार सींग हैं। शरीर में सींग सब अंगों के ऊपर होते हैं। फल-भूमिकाएँ भी अन्य भूमिकाओं की दृष्टि से सबसे ऊँची होती हैं। इसी समानता के कारण चारों फल भूमिकाओं को प्रेमयोग-रूपी वृषभ के चार सींग कहा गया है।

देहादि अनात्म वस्तुओं में आत्मबुद्धि को अहंभाव कहते हैं। इसी को अहंता या तादात्म्याध्यास भी कहते हैं। पुत्रादिक बाह्य व्यक्तियों या वस्तुओं में संबंध-बुद्धि रखना मम-भाव या ममता है। इसीका नाम संसर्गाध्यास भी है। अहंता और ममता इन दोनों का त्याग ही प्रेम-योग वृषभ के दो मस्तक हैं।

श्रीबलदेवजी के अभियोग लगाने पर माता यशोदा बाल-कृष्ण को बाँध रही है। व्रज की सारी रज्जुएँ और सांकलें काम में लाई गईं, फिर भी श्रीकृष्णजी बाँधे नहीं जा सके। दो अंगुल की कमी पूरी नहीं हो पाती। अंतमें यशोदाजी को निश्चय हुआ कि न तो श्रीकृष्ण मेरे पुत्र हैं और न मैं उनकी माता। यशोदा के यह सोचते ही भगवान् श्रीकृष्ण तत्काल बन्धन में आ गए। इस कथा से यह तात्पर्य निकलता है कि भगवान् को बाँधने की डोरी 'प्रेम' है। यशोदा कृष्ण को बाँध रही थी तो दो अंगुल की कमी इसलिए रह जाती थी कि उसके हृदय में अहंता-ममता थी। उसका प्रेम अपूर्ण था। इस अहंता-ममता को त्यागते ही वह दो अंगुल की कमी भी समाप्त हो गई और कृष्ण तत्काल बंधन में आ गए। क्योंकि उससे प्रेम पूर्ण हो गया। अहंता-ममता-त्याग के विना प्रेम अपूर्ण रहता। इसीलिए इनके त्याग को प्रेमयोग वृषभ के दो मस्तक कहा गया है।

प्रेमयोग के तीन पाद हैं। अंश या विभाग को पाद कहते हैं, जैसे रुपये के चार पाद चार चवन्नियाँ हैं। प्रेमयोग को भी तीन विभागों में बाँटा गया

है। यथा—दृष्टार्थ, अदृष्टार्थ और दृष्टादृष्टार्थ प्रेम। जिसका फल वर्तमान शरीर से ही अनुभव किया जाता है—उसे दृष्टार्थ या दृष्ट-फल कहते हैं—जैसे भोजन, जलपान आदि। उसका फल क्षुधा-निवृत्ति या तृषा-निवृत्ति इसी शरीर से अनुभूत है। जन्मान्तरीय शरीर द्वारा अगले जन्म में जिस फल का अनुभव हो सके—उसे अदृष्टार्थ कहते हैं, जैसे यज्ञ आदि। यज्ञ का फल भावी जन्म में शरीरान्तर द्वारा ही उपभोग्य है। जिसमें दोनों प्रकार के फल होते हैं उसे दृष्टादृष्टार्थ कहते हैं—जैसे गंगा-स्नानादि।

ग्रीष्म ऋतु में उष्णता के कारण किसी व्यक्ति का शरीर संतप्त और व्याकुल हो गया हो, गगा में गोता लगाते ही संताप मुक्त होकर उसे अद्भुत शीतलता का आनन्दानुभव होता है। यह सुखद आनन्द दृष्ट फल है। शास्त्रों में गंगा-स्नान का फल स्वर्ग-प्राप्ति बताया गया है। गंगा स्नान करने वाला जब वर्तमान शरीर त्यागकर स्वर्ग में देव शरीर धारण करेगा तब उस देव शरीर द्वारा उपभोग्य दिव्यानन्द अदृष्ट फल है। इस प्रकार ऐहिक एवं पारलौकिक आनन्द-प्रद गंगा-स्नान को दृष्टादृष्टार्थ मानना पड़ेगा।

भक्ति (प्रेम) तीन प्रकार की है। सात्त्विकी, राजसी और तामसी। राजसी और तामसी भक्ति अदृष्टार्थ है। साधकों की मिश्रित और शुद्ध सात्त्विकी भक्ति दृष्टादृष्टार्थ है, और सिद्ध सनकादिकों की शुद्ध सात्त्विकी भक्ति दृष्टार्थ है। चित्त की किसी भी प्रकार की भगवदाकार वृत्ति से सत्त्वगुण का संबंध होना अनिवार्य है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि कहीं रजोगुण, कहीं तमोगुण तो कहीं सत्त्वगुण की प्रधानता होती है। कभी कभी सत्त्वगुण के साथ रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण भी होता है। अतः जहाँ सत्त्वगुण से रजोगुण प्रबल होगा वहाँ राजसी भक्ति का उदय होगा। इसका उदाहरण शिशुपाल है। उसके अन्तःकरण में भगवदाकार वृत्तिका उदय सतत हुआ करता था। परन्तु वह भगवान् को देखकर ईर्ष्यासे जलता रहता था। भगवान् का उत्कर्ष उससे सहन नहीं होता था। किसीका उत्कर्ष न सह सकना ईर्ष्या है। ईर्ष्या से द्वेष उत्पन्न होता है। ईर्ष्या-जनित द्वेष से द्रवित चित्त में जो भगवदाकार वृत्ति है, उसे राजसी भक्ति कहते हैं। जिसमें तमोगुण द्वारा सत्त्वगुण दब जाता है, उस चित्त की भगवदाकार वृत्ति तामसी भक्ति कहलाती है। इसका उदाहरण कंस है।

कंस कृष्ण से सदैव डरता था। आकाश-वाणी से उसे निश्चय हो चुका था

कि श्रीकृष्ण द्वारा ही मेरी मृत्यु होगी। जिससे मनुष्य को भय होता है, उसके प्रति द्वेष होना स्वाभाविक है। इसलिए भय-जनित द्वेष से द्रवित चित्त में जो भगवदाकार वृत्ति है वह तामसी भक्ति है। इन दोनों भक्तियों में मन में स्वप्रकाश परानंद भगवदाकारता होनेपर सुख का विशेष अनुभव नहीं होता। इनकी सुख प्रतीति नहीं के बराबर ही है। जैसे प्रचंड पवन में दीपक। दीपक की ज्योति के समान रजोगुण तथा तमोगुण की प्रचंडता से सत्त्वगुण सर्वथा अभिभूत हो जाता है। वस्तुतः सत्त्वगुण में ही सुख की पूर्ण प्रतीति निहित है। इसीलिए श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है—

रजःप्रबलसत्त्वांशादीर्ष्याजद्वेषमिश्रिता।
मनोवृत्तिः परानंदे चैद्यस्य न सुखायते ॥ ५३ ॥

तमःप्रबलसत्त्वांशाद् भीतिजद्वेषमिश्रिता।
मनोवृत्तिः परानंदे कंसस्य न सुखायते ॥ ५४ ॥

(भक्ति-रसायन)

चैद्य (शिशुपाल) की रजःप्रधान सत्त्वांश से उत्पन्न ईर्ष्या-जनित द्वेष-परिपूर्ण जो मनोवृत्ति है, वह परमानन्द भगवदाकार रहनेपर भी सुख-प्रदायिनी नहीं है। तमःप्रधान सत्त्व अंश से उत्पन्न भय जनित द्वेष से मिश्रित परमानन्द भगवदाकार कंस की चित्त-वृत्ति भी उसके लिए सुखदायिनी नहीं है।

सारांश यह कि कंस तथा शिशुपाल का मन सतत द्वेष के कारण भगवदाकार तो रहता ही था, परन्तु अन्य भक्तों के समान वर्तमान शरीर में वे भक्ति-सुख से वंचित थे। अतः रजोगुण तथा तमोगुण से अभिभूत उनकी मनोवृत्ति में वर्तमान शरीर द्वारा भगवद्रति के दिव्यानन्दका अनुभव नहीं होता था। इसीलिए सुखाभिव्यक्ति के अभाव से इन दोनों भक्तियों का निर्देश भगवद्रति शब्द से नहीं किया जा सकता। शीत ऋतु का गंगास्नान इसका उदाहरण है। शीतल वायुसे पीड़ित व्यक्ति जब गंगा में गोता लगाता है, तब उसे दृष्ट आनन्दका अनुभव नहीं होता। शास्त्र की आज्ञानुसार उसको भावी जन्म में स्वर्गीय सुख अवश्य प्राप्त होगा। यहाँ गंगा-स्नान का दृष्ट फल न होनेपर भी अदृष्ट फल अवश्य होता है, यह निर्विवाद है। ठीक इसी प्रकार राजसी तथा

तामसी भक्ति में मरणोत्तर भगवत्-सायुज्य-प्राप्ति-रूप अदृष्ट फल अवश्य होता है। अतः कंस और शिशुपालादि राक्षसों की ज्योति का भगवत्-शरीरमें मरणोत्तर प्रवेश वर्णित है।

सात्त्विक भक्ति के भी दो भेद हैं—मिश्रिता और शुद्धा। यह तो कई बार कहा गया है कि अद्रवित चित्त में भगवदाकारता कभी आती ही नहीं। अतः चित्त को जतु (लाक्षा) के समान द्रवित करने वाले काम, क्रोध, भय, स्नेह, शोक, हर्ष, तथा दया आदि भाव माने गए हैं। जब हर्ष द्वारा चित्त द्रवीभूत होकर भगवदाकारता संपादित करता है, तब द्रवित चित्त की भगवदाकार वृत्ति शुद्ध सात्त्विक भक्ति कहलाती है। काम, क्रोध, शोकादि द्वारा द्रवित चित्त की भगवदाकार वृत्ति मिश्रित सात्त्विक भक्ति है। साधकों की शुद्ध सात्त्विक भक्ति अथवा मिश्रित भक्ति दृष्टादृष्ट-फला है। क्योंकि उन्हें भजन के समय वर्तमान शरीरमें दिव्यानन्द का अनुभव होता है, एवं देहावसान के पश्चात् निःसन्देह भगवत्-सायुज्य-प्राप्ति-रूप अदृष्ट-फल भी अवश्य मिलता है। इस भक्ति की तुलना ग्रीष्मकाल के गंगास्नान से की जाती है। सिद्ध सनकादिकों की शुद्ध सात्त्विक भक्ति केवल दृष्टफला है; क्योकि उनका पुनर्जन्म तो होनेवाला ही नहीं है। कर्म-नाश के कारण उनके नूतन शरीर का आरंभ संभव ही नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि भजन के समय भगवद्भक्ति के दिव्यानन्द वर्तमान शरीर में वे अवश्य अनुभव करते हैं।

कोई व्यक्ति प्रातःकाल शास्त्राज्ञानुसार विधिपूर्वक गंगास्नान किए विना भोजन करने बैठ गया। भोजनोपरान्त उसने गंगास्नान किया। उसका यह अवैध गंगास्नान भावी जन्म में स्वर्ग सुख देनेवाला तो कभी हो नहीं सकता। केवल स्नान से वर्तमान शरीर में उसे लौकिक आनन्द अवश्य मिलेगा। इस स्नान से सिद्ध सनकादिकों की दृष्ट-फला सात्त्विक भक्ति की तुलना की जा सकती है। निष्कर्ष—राजसी एवं तामसी भक्ति का केवल अदृष्ट फल, मिश्रित तथा साधकों की शुद्ध सात्त्विक भक्ति का दृष्टादृष्ट फल तथा सिद्ध सनकादिक जीवन्मुक्तों की शुद्ध सात्त्विक भक्ति का केवल दृष्ट फल है। इसी अभिप्राय से वेद ने प्रेमयोग वृषभ के तीन चरण कहे हैं।

प्रेमयोग का त्रिविध बंधन-रज्जु चित्त की त्रिविध अवस्था है।

चित्त की तीन अवस्थाएं हैं—कठोर, शिथिल और द्रवीभूत। कठोर चित्त

किसी भी वस्तु का आकार ग्रहण नहीं करता। जैसे लौह-निर्मित पात्र में किसी वस्तु का प्रतिबिंब नहीं पड़ता। शिथिल अवस्था में चित्त किसी वस्तु का आकार ग्रहण करता है, परन्तु वह स्थायी नहीं होता। जैसे—यदि कोई वस्तु दर्पण के संमुख रखी जाय तो जब तक वह वस्तु दर्पण के संमुख है, तभी तक वह उसका प्रतिबिंब ग्रहण करेगा और जब वह वस्तु उठा ली जायगी या दर्पण उठा लिया जायगा, तब दर्पण में पड़ा हुआ प्रथम प्रतिबिम्ब अदृश्य हो जायगा, उसका अस्तित्व नहीं रहेगा। चित्त की द्रवीभूत अवस्थामें प्राप्त वस्तु का आकार सदाके लिए स्थिर बन जाता है। फिर वह कभी भी अलग नहीं हो सकता, जैसे चित्र का कैमरा। कैमरा में जिस व्यक्ति का आकार खिंच जाता है फिर चाहे कैमरा कहीं भी ले जाइए या जिस व्यक्ति का आकार कैमरे में खिंच गया है–उस व्यक्ति को कहीं भी ले जाइए, कैमरा में लिया हुआ चित्र (आकार) कभी भी तिरोहित नहीं होगा। सहस्रों व्यक्ति आज विद्यमान नहीं हैं; परन्तु कैमरा के कारण उनके चित्र आज भी हम देखते हैं।

हमें अपने चित्त को कैमरा बना लेना चाहिए। पर यह तभी संभव है जब हम उसे हर्षादि भावाग्नि के संयोग से लाक्षा की भाँति पिघला देंगे। द्रवीभूत लाक्षा में यदि सिन्दूर मिला दें तो लाक्षा के कड़ी होजाने पर सिन्दूर का रंग कभी नहीं दूर होगा। लाक्षा की भाँति द्रवित चित्तमें पड़ा हुआ भगवदाकार या चढ़ा हुआ भगवद्भक्ति का रंग कदापि दूर नहीं होगा।

चित्त की कठोरता दूर करने के लिए प्रतिमा-पूजनादि भक्ति-योग की प्राथमिक दशा है।

ईश्वर के प्रति प्रेम, भगवद्भक्तों के साथ मैत्री, मूढ़ प्राणियों पर दया और शत्रु के प्रति उपेक्षा—यह भक्तियोग की मध्यमावस्था है। इस दशा में चित्त की थोड़ी बहुत कठोरता तो दूर हो जाती है, परन्तु उसमें पूर्ण द्रवीभाव नहीं आता। द्रवी-भाव का उसमें कुछ कुछ उदय अवश्य होता है। इसे ही चित्त की शिथिलावस्था कहते हैं।

पूर्ण द्रवित चित्त में प्रविष्ट हुई भगवदाकारता ही भगवद्रति या भगवद्भक्ति कहलाती है। इस स्थिति में भक्त को भगवान् का सतत भान रहता है। समस्त विश्व भगवद्रूप प्रतीत होता है। इसी दशा को प्रेम-रज्जु या प्रेम-बंधन कहते हैं। उससे बद्ध होकर प्रभु भक्त के हृदय में सतत विराजमान

रहते हैं। 'प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः (भा० ११।२।५५) इस उक्ति से उपर्युक्त सिद्धान्त पुष्ट हो जाता है। गर्गसंहिता में कहा गया है कि भक्त भगवान् के उभय चरणों को प्रेम-रज्जु से बाँध लेता है, जिससे भक्त का हृदय छोड़कर भगवान् अन्यत्र जाने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं। इसका प्रमाण गर्गसंहिता में उपलब्ध है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे पदारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं लवं लवार्धं न त्यजत्यतीव ॥

राधिका के हृदय-कमल में मेरे युगल चरणकमल सतत विराजमान रहते हैं। क्यों कि राधा ने मुझे प्रेमपाश में बांध लिया है। निमिष या अर्ध निमिष मात्र के लिए भी मैं उनके हृदय से पृथक् होने में असमर्थ हूँ।

भक्ति-योग की यह उत्तम कक्षा है। उस दशा का भगवद्-भान भी तीन प्रकार का है। प्रथम दशा में प्रपंच की सत्यता प्रतीत होती है। द्वितीय दशा में प्रपंच में सत्यता का बाध होकर मिथ्यात्वका अनुभव होने लगता है। तृतीय दशामें प्रपंच का मिथ्यापन और उसकी सत्यता दोनो की प्रतीति नही होती। प्रपंच की सर्वथा विस्मृति होकर केवल भगवान् ही भासमान होते हैं।

श्रीमद्भागवत में इन तीनों दशाओं का वर्णन क्रमशः इस प्रकार किया गया है—

प्रथम दशा—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्यः ॥

(भा० ११,२,४१)

यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएं, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र—सब के सब भगवान् के शरीर हैं। सभी रूपों में स्वयं भगवान् प्रकट हैं। ऐसा समझकर वह, जो कोई भी उसके सामने आ जाता है—चाहे वह प्राणी हो या अप्राणी—उसे अनन्यभाव से भगवद्भाव से प्रणाम करता है।

द्वितीय दशा—

> **तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं,**
> **स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।**
> **त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते,**
> **मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥**

(भा० १०,१४,२२)

भगवान् की माया का खेल होने से यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न-तुल्य अस्तधिषण निरस्त-प्रतिभास चेतना-शून्य अचेतन "दुःखदुःखम्" महान् दुःख-स्वरूप अर्थात् निस्सीम दुःख-प्रद है। आप नित्य-सुख ज्ञानस्वरूप तथा अनन्त हैं। समस्त जगत् की कल्पना के अधिष्ठान भी आप ही हैं। अतः जगत् आप में माया से उत्पन्न एवं विलीन होता है।

तृतीय दशा

> **ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा ।**
> **औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ॥**

(भा० १, ६, १७)

> **प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः ।**
> **आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ॥**

(भा० १, ६, १८)

भक्ति-भाव से वशीकृत चित्त द्वारा भगवान् के चरण-कमलों का ध्यान करते ही भगवत्प्राप्ति की उत्कट लालसा से मेरे नेत्रों में आंसू छलछला आए और हृदय में धीरे धीरे भगवान् प्रकट हो गए। (व्यास जी!) उस समय प्रेम-भाव के अत्यन्त उद्रेक से मेरा रोम रोम पुलकित हो उठा। हृदय अत्यन्त शान्त और शीतल हो गया। उस आनन्द की बाढ़ में मैं ऐसा डूब गया कि मुझे प्रभुके सिवाय प्रपञ्च की सत्यता और मिथ्यात्व दोनों का तनिक भी भान न रहा। यही प्रेमयोग वृषभ का त्रिधा बंधन है।

इस प्रकार वेद में जन कल्याणकारी प्रेमयोग का संक्षिप्त परिचय हमें मिलता

है। महर्षि व्यास ने अठारह पुराणों में इसपर सविस्तर विचार किया है। भक्ताग्रणी मधुसूदन, जीव गोस्वामी आदि संस्कृत साहित्य के प्रखर पंडितों ने प्रेमयोग का दार्शनिक स्वरूप 'भक्ति-रसायन', 'षट् संदर्भ', 'भक्ति-रसामृत सिंधु' एवं 'उज्ज्वल नीलमणि' आदि अद्‌भुत पुस्तकों की रचना कर जनता की सेवा में उपस्थित किया है। महात्मा सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, सन्त कबीर, भक्त रैदास आदि सन्त समाज एवं बिहारी देव आदि हिन्दी के प्राचीन कवियों ने विद्वत्ता से भरपूर कृतियों द्वारा अति सूक्ष्म एवं निराकार स्वरूप को सर्व-जनोपभोग्य साकार मूर्तिमान् बना कर जनता का महान् उपकार किया है।

अब हमारा कर्त्तव्य है कि उपर्युक्त प्रेमयोग की साधना द्वारा निराकार प्रभु का साकार रूप में दर्शन कर अपने जीवन को सफल बनायें।

निबन्धं प्रेमयोगस्य रुचिरं वेदसम्मतम्।
प्रेमरत्नं प्रभुः प्रेम्णा निधत्तां निजवक्षसि ॥

२

वेद में सन्त

वन्दे रामं रमानाथं धीरं सत्यप्रतिश्रुतम्।
विनयोत्साहदानेभ्यो हिन्दुभावनिदर्शनम्॥

ऐसा हतभाग्य कौन प्राणी होगा जो त्रिविध दुःख-निवारण के लिये सचेष्ट न हो। त्रिविध दुःख का निवारण तभी होगा जब उसके कारण अज्ञान का ब्रह्मविद्या के द्वारा नाश हो। ब्रह्मविद्या का उदय संत-कृपापर निर्भर है। इसी भाव से गर्गसंहिता में कहा है—

'नृणामन्तस्तमोहारी साधुरेव न भास्करः'

'बाह्य अंधकार का नाश सूर्य निःसन्देह कर सकता है; किन्तु मनुष्यों के आन्तरिक अन्धकार का नाश साधु (संत) ही कर सकते हैं, सूर्य नहीं।' उन संतों के लक्षण, संत शब्द का अर्थ क्या है, वह शब्द साधु है वा अपभ्रंश, उसका वेद में प्रयोग है या नहीं, यदि है तो कर्मयोगी, भक्त और ज्ञानी इन सबके लिये या किसी एक के लिये—इत्यादि विषयों की मीमांसा इस लेख द्वार की जाती है।

सन्त शब्द चार तरह से बन सकता है—**'षण् सम्भक्तौ'** (४६५) धातु से औणादिक तन् प्रत्यय करने से निष्पन्न संत शब्द का अर्थ **'सनति सम्भवति लोकाननुगृह्णाति'** इस व्युत्पत्ति से लोकानुग्रहकारी होता है। वह संत शब्द साधु तो है, परन्तु शास्त्र में प्रयुक्त नहीं है। (१) शम् शब्द से **'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः'** (अष्टा० ५।२।१३८८) इस पाणिनीय सूत्रद्वारा 'त' प्रत्यय होकर 'शान्त' शब्द बनता है—जिसका अर्थ **'शं सुखं ब्रह्मानन्दात्मकं विद्यते यस्य'** इस व्युत्पत्ति से ब्रह्मानन्द-सम्पन्न व्यक्ति है। इसीका अपभ्रंश संत शब्द है (२) **'षणु दाने'** १४६५ धातु से **'क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्'** (३।३।१७४) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार 'क्तिच्' प्रत्यय होकर

'सन्ति' शब्द बना, जिसका अर्थ '**सनोति प्रार्थितं फलं प्रयच्छति**' इस व्युत्पत्ति से 'फलदाता' है। उस 'सन्ति' शब्द से 'तत्र साधु' अर्थ में यत् प्रत्यय होकर 'सन्त्य' शब्द बनता है। 'फल-दाताओं में श्रेष्ठ' इसका अर्थ है। इस शब्द का ऋग्वेद में बहुत स्थलो में प्रयोग हुआ है—

गार्हपत्येन सन्त्य ऋतुना यज्ञनीरसि। देवान् देवयते यज।

(ऋ० मं० १ सू० १५ मं० १२)

'फल प्रदाताओं में श्रेष्ठ अग्निदेव! आप गृहपति संबंधी रूप से युक्त हैं, ऋतुदेव के साथ यज्ञ के निर्वाहक हैं। देव-कृपाकांक्षी यजमान के लिये देवयजन को निर्विघ्न सम्पादन करें'। मन्त्र में अग्निदेव के लिये फलदाताओं में श्रेष्ठ अर्थ को लेकर सन्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्मवित् महात्माओं का देव-दुर्लभ ब्रह्मविद्या-रूपी फल देने के कारण फलदाताओं में सर्वोच्च स्थान है। अतः लोग अधिकतर उन्हें ही 'सन्त्य' कहने लगे। वही शब्द कुछ विकृति के साथ संत शब्द के रूप में आजकल महात्मा के अर्थ में प्रयुक्त होता है। '**अस भुवि**' से शतृ प्रत्यय होकर 'सत्' शब्द बनता है, जिसके प्रधान अर्थ दो हैं—विद्यमान और श्रेष्ठ। यथा गीता में—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।

'विद्यमान वस्तु तथा श्रेष्ठ वस्तु के बोधन के लिये सत् शब्द प्रयुक्त होता है।' अर्थात् सत्ता और श्रेष्ठता सच्छब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है। वेदान्त-सिद्धांत में किसी पदार्थ की भी ब्रह्म को छोड़कर स्वतंत्र सत्ता नहीं। ब्रह्म कल्पित समस्त विश्व में शुक्ति-कल्पित रजत में इदंताके समान अधिष्ठान ब्रह्म-सत्ता का ही भान होता है। अतः त्रिकालाबाध्य ब्रह्म-तत्त्व ही पारमार्थिक सत्ता-युक्त होने से 'सत्' शब्द का वाच्यार्थ है। अत एव गीतोक्त ब्रह्मत्रयी में सत् शब्द की गणना की गयी है—

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

जिस तत्त्वको ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं—कर्मयोगी और भक्त उसीको ईश्वर कहते हैं। अतः माया की मोहक शक्ति को पद-दलित कर अशास्त्रीय पथ में प्रवर्तक लोभ-मोहादि राजस-तामस भावों की दासता से मुक्त हो शास्त्र-विहित मार्ग की

ओर अग्रसर होने का जो सतत प्रयास करते हैं—वे महापुरुष, कर्मयोगी, भक्त, ज्ञानी, किसीभी कोटि के क्यों न हों, सत्—परम तत्त्वपर निष्ठा रखने के कारण 'सत्' शब्द द्वारा व्यपदिष्ट होते हैं। प्रथम सत्ता-रूप प्रवृत्ति-निमित्त को लेकर ब्रह्म-वाचक सत् शब्द का प्रयोग उनमें लक्षणया होता है। सत् शब्दका प्रथमा विभक्ति के बहुवचन में 'सन्तः' ऐसा रूप बनता है। उसीका अपभ्रंश 'संत' शब्द सत्पुरुषों के लिये हिंदीमें प्रयुक्त है। द्वितीय श्रेष्ठता-रूप प्रवृत्ति-निमित्त पक्ष में सत् शब्द का प्रयोग उनमें मुख्य ही है, गौण नहीं है। कारण कि अष्ट आत्मगुण तथा वैराग्यादि सात्त्विक-भाव-संपन्न होने से वे सर्वश्रेष्ठ हैं।

बस, किसी प्रकार भी संत शब्द को सिद्ध किया जाय, सर्वथा उसका अर्थ सत्पुरुष है। वे सत्पुरुष दो प्रकार के हैं—प्रवृत्तिसेवी और निवृत्तिसेवी। कर्मियो को प्रवृत्तिसेवी तथा ज्ञानियों को निवृत्तिसेवी कह सकते हैं। भक्तोंका सम्बन्ध दोनों ओर है। अत एव भगवान् ने गीता में कर्म और ज्ञान के मध्य में भक्ति को स्थान दिया है। कर्मयोगी संतो का ऋग्वेद के निम्ननिर्दिष्ट मन्त्र में इस प्रकार वर्णन है—

विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वमानशुः।
सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षसः संवत्सरे समपृच्यन्त धीतिभिः॥

(१।११०।४)

वाघतः=ऋत्विजोंके सहित, **सौधन्वना**=सुधन्वाके पुत्र, **ऋभवः**=ऋभु नामक, **सन्तो मर्तासः**=सत्पुरुष, **शमी**=यज्ञदानादि एवं तपश्चर्या परोपकारादि कर्म का, **विष्ट्वी**=अनुष्ठान कर, **तरणित्वेन**=शीघ्र ही, **अमृतत्वम्**=देवभावको, **आनशुः**=प्राप्त हुए।

अर्थात् ऋभु नाम के सत्पुरुष कर्मानुष्ठान की अलौकिक प्रज्ञा-सम्पन्न इन्द्रादि देवों के समान, **संवत्सरे**=वर्ष के अवयव वसन्तादि भिन्न-भिन्न ऋतुकाल में अनुष्ठान करने के योग्य, **धीतिभिः**=अग्निष्टोमादि यज्ञों से, **समपृच्यन्त**=सम्बद्ध अर्थात् हविर्भाग के योग्य हुए। तात्पर्य यह कि कर्मयोग का अलौकिक सामर्थ्य है। आत्मोन्नति-प्रासाद के उच्चातिउच्च शिखरपर आरूढ होने के लिये कर्मयोग ही प्रशंसनीय सोपान है। ऋभु नामके सत इसके ज्वलन्त निदर्शन

हैं। वे मनुष्य ही थे, परन्तु उनकी कर्मयोग के प्रभाव से वेदों में गणना हुई। इतना ही क्यों, अग्निष्टोमादि बड़े-बड़े यज्ञों में यजमान-दत्त हवियोंके भोजन में इन्द्रादि देवोंके समान उन्हें अधिकार प्राप्त हुआ।

निवृत्तिसेवी संतो का वर्णन अथर्ववेद में इस प्रकार हुआ है—

पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन्॥
(अ० कां १९ सू० ५३ मं० ३)

भाष्य—काले सर्वजगत्कारणभूते नित्ये अनवच्छिन्ने परमात्मनि स्वस्वरूपे, अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी। पूर्णः सर्वत्र व्याप्तः कुम्भः कुम्भवत् कुम्भ अहोरात्र-मासर्तुसंवत्सरादिरूपः अवच्छिन्नो जन्यः कालः आहितः निहितो वर्तते सर्वस्य कार्यस्य स्वकारणेऽवस्थानात्। अत्र विदनुभद्रवश्रुतिं प्रमाणयति। तं जन्यं कालं सन्तः सत्पुरुषा बहुधा नानाप्रकारम् अहोरात्रादिभेदेन पश्यामो नु अनुभवामः खलु। अथवा तं जन्यकालाधारं परमात्मानं बहुधा बहुभिः श्रवणमनननिदिध्या-सनैः पश्यामः साक्षात्कुर्मः सन्तः सद्रूपब्रह्मोपासका वयम्। 'अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुः' इति हि श्रुतिः (तै० आ० ८।६)। वै—नु—शब्दौ प्रसिद्ध्यर्थौ। सः कालः इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि व्याप्तानि भुवनानि भूतजातानि प्रत्यङ् प्रत्यञ्चनः अभिमुखाञ्चनः आव्याप्नुवन् भवति। तं कालं परमे उत्कृष्टे सांसारिकसुखदुःखादिद्वन्द्वदोषरहिते व्योमन् व्योमनि आकाश-वन्निर्लेपे सर्वगते विविधं रक्षके परमानन्दप्रदायके स्वस्वरूपे वर्तमानम् आहुः विद्वांसः। व्योमन्निति 'सुपां सुलुक्०' इति सूत्रेण सप्तम्या लुक्, 'न ङिसंबुद्ध्योः' इति नलोपप्रतिषेधः।

समस्त जगत् का कारण अपरिच्छिन्न नित्य परमात्मा जो जीवात्मा का अपना स्वरूप है, भिन्न नहीं—काल नाम उसीका है। प्रत्येक वस्तु से सम्बद्ध, कुम्भ की भांति परिच्छिन्न, अहोरात्र-मासादिरूप जन्यकाल उसीमें स्थित है, क्योंकि सम्पूर्ण कार्य अपने कारण में रहा करते हैं। इस विषय की पुष्टि में वेदपुरुष विद्वदनुभव को प्रमाणित करते हैं। उस जन्य काल को, सन्तः=सत्पुरुष हम अहोरात्रादिभेदसे अनन्त प्रकारका ठीक अनुभव करते हैं। अथवा जन्यकाल का आधार उस महाकाल परमात्मा का श्रवण, मनन और निदिध्यासन—इन

अनेक साधनों से, सन्तः = सद्ब्रह्म के उपासक हम साक्षात्कार करते हैं। वै, नु शब्द श्रवणादिकों की ब्रह्मसाधनता की प्रसिद्धि के प्रदर्शक हैं। इस पक्ष में 'संत' इस शब्द का अर्थ सद्ब्रह्म के उपासक है। इस अर्थ की पुष्टि श्रुति स्वयं ही कर रही है। '**अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद। सन्तमेनं ततो विदुः।** (तै० उ० २।६।१) वह सर्वाधार परमात्मा कालरूप से इस दृश्यमान भूत-वर्ग को व्याप्त कर रहा है। विद्वान् उस काल को उत्कृष्ट सांसारिक सुखदुःखादि द्वन्द्वों से निर्मुक्त आकाश की तरह निर्लेप सर्वव्यापी विविध प्रकार से रक्षक परमानन्द-प्रदायक स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित कहते हैं।

इस मन्त्र में कैसी उत्तम रीति से निवृत्तिसेवी संतों का कैसा सुन्दर चित्र खींचा गया है। वे सदा सद्ब्रह्म के ध्यान में तत्पर एवं श्रवणादि साधनों द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार के सम्पादनार्थ सदा सचेष्ट रहते हैं। मुनि, कवि, धीरादि अन्य नाम भी संतों के वेद में मिलते हैं। उनमें से मुनि शब्द निवृत्तिसेवी संतों के लिये प्रायः प्रयुक्त होता है। निवृत्तिसेवी संत सदा प्रभु का अवलम्बन लेते हैं। वे कभी भूलकर भी अन्य की ओर नहीं ताकते। उनमें कतिपय दिगम्बर, और कुछ वल्कल, कषाय, अम्बरादि वस्त्र धारण किया करते हैं। वे अपने सतत प्रयास से उस ब्रह्म पद को प्राप्त कर लेते हैं। जिसे यम, हिरण्यगर्भ, प्रजापति प्रभृति देवों ने प्राप्त किया है। इस विषय का स्पष्टीकरण आगे उद्धृत मन्त्र के अवलोकन से अच्छी तरह हो जाता है—

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मलाः।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत॥

(ऋ० मं० १० सू० १३६ मं० २)

वातरशनाः = ब्रह्मपरायण वा दिगंबर, **मुनयः** = निवृत्तिसेवी संत होते हैं, और कतिपय संत, **पिशङ्गाः** = कपिल-वर्ण-युक्त, **मलाः** = मलिन अर्थात् चमकदमक से रहित वल्कलादि के वस्त्रों को, **वसते** = पहनते हैं, **वातस्य** = परब्रह्मके, **ध्राजिं** = उस पद को, **अनुयान्ति** = ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर प्राप्त होते हैं, **यत्** = जिस पद को, **देवासः** = देवों ने, **अविक्षत** = प्राप्त किया है।

संतों के लक्षण

संतों के जीवन में आत्मा के आठ गुणों का विकास होता है। दशविध अशुभ प्रवृत्तियों के त्याग-पूर्वक दशविध शुभ प्रवृत्तियों का अनुष्ठान संत सतत किया करते हैं। गौतम स्मृतिमें आत्मा के आठ गुण ये लिखे हैं—

अथ अष्टावात्मगुणाः—'दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहा' इति।

इनके लक्षण बृहस्पति स्मृति में इस प्रकार दिये हैं—

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा सदा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता॥ १॥

दूसरा हो वा अपना, बन्धु अथवा मित्र हो वा शत्रु, विपद्ग्रस्त होनेपर उसके दुःख दूर करने की हार्दिक इच्छा को दया कहा है।

बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चोत्पादिते क्वचित्।
न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता॥ २॥

किसीके द्वारा शारीरिक वा मानसिक पीड़ा पहुँचाये जानेपर क्रोध न होना और न उसे मारने की चेष्टा करना—इसका नाम क्षमा है।

न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणानपि।
नान्यदोषेषु रमते सानसूया प्रकीर्तिता॥ ३॥

गुणी के सद्गुणों का हनन अर्थात् अपलाप न करना, थोड़े गुणवाले प्राणियों की भी प्रशंसा करना और दूसरे के दोषों पर दृष्टि न डालना ही अनसूया है।

अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चापि निर्गुणैः।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत्प्रकीर्तितम्॥ ४॥

अभक्ष्य वस्तु का परित्याग, दुर्गुण-रहित प्राणियों के साथ संसर्ग रखना और स्वधर्म में दृढ रहना ही शौच है।

शरीरं पीड्यते येन सुशुभेनापि कर्मणा।
अत्यन्तं तन्न कर्तव्यमनायासः स उच्यते ॥ ५ ॥

जिस श्रेष्ठ कर्म से भी शरीर को अधिक कष्ट हो उसे अत्यन्त करना उचित नही है। इसको विद्वानों ने अनायास कहा है।

प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविसर्जनम्।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥ ६ ॥

सदा शुभ कर्म का करना और अशुभ कर्म का न करना तत्त्वदर्शी मुनियों ने इसे मगल कहा है।

स्तोकादपि प्रदातव्यमदीनेनान्तरात्मना।
अहन्यहनि यत्किञ्चिदकार्पण्यं हि तत्स्मृतम्॥ ७ ॥

स्वल्प वस्तु से भी अन्तरात्मा को प्रसन्न रखते हुए प्रतिदिन कुछ अवश्य देना चाहिये, ऐसी धारणा का नाम ही अकार्पण्य है।

यथालाभेन सन्तोषः कर्तव्यो ह्यर्थवस्तुना।
परस्याचिन्तयित्वार्थं सास्पृहा परिकीर्तिता॥ ८ ॥

दूसरे के वैभव की इच्छा न रखते हुए यथा-प्राप्त अभीष्ट वस्तु से सन्तोष करना ही अस्पृहा है।

त्याज्य दशविध अशुभ प्रवृत्ति का वर्णन मनु भगवान् ने इस प्रकार किया है—

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम्॥

पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम्॥

त्रिविधं च शरीरेण वाचा चैव चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं कर्म दशाधर्मपथांस्त्यजेत् ॥

(मनु० अ० १२।५–८)

परद्रव्य को अन्याय से ग्रहण करने की भावना, शास्त्र-प्रतिषिद्ध ब्रह्म-वधादिकी आकांक्षा, परलोक नहीं शरीर ही आत्मा है, ऐसा विपरीत विश्वास—यह तीन प्रकार का मानसिक अशुभ कर्म है। पारुष्य (कठोरता), अनृत (मिथ्याभाषण), पैशुन्य (परनिंदा), असंबद्ध प्रलाप—यह चार प्रकार का वाचिक अशुभ कर्म है। बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण, हिंसा, परदार-रति— यह तीन प्रकार का शारीरिक अशुभ कर्म है। पूर्वोक्त त्रिविध शारीरिक कर्म, चतुर्विध वाचिक कर्म, त्रिविध मानसिक कर्म—सब मिलकर दस हुए। धर्म-प्रक्षेपकारी (धर्मविरोधी) होनेसे इनका नाम धर्मपथ है। इस स्थल में पथ शब्द 'पथ प्रक्षेपे' इस चौरादिक धातु से बना है, अतः इसका अर्थ मार्ग नहीं है। अतः भद्रपुरुष इन दस धर्मपथों का अवश्य त्याग करें।

मनु भगवान् के दशविध अशुभ प्रवृत्ति का कण्ठतः प्रतिपादन करनेसे तत्प्रति-द्वन्द्वी दशविध शुभ प्रवृत्ति अर्थतः सूचित हो जाती है। क्योंकि 'शुभाशुभफलं कर्म' (मनु० अ० १२·३) इस उक्तिसे द्विविध प्रवृत्ति ही प्रस्तुत है। दशविध शुभाशुभ प्रवृत्ति का न्यायदर्शन के द्वितीय सूत्र के भाष्य में वात्स्यायन महर्षि संक्षिप्त शब्दोंमें इस प्रकार वर्णन करते हैं।

दोषैः प्रयुक्तः=शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति, वाचानृतपरुषसूचनासम्बद्धानि, मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति; सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्माय। अथ शुभा—शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं चेति, वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति, मनसा दयामस्पृहां श्रद्धां चेति; सेयं धर्माय।

रागादि दोषों की प्रेरणा से प्रवृत्त पुरुष शरीर से हिंसा, परपीड़न, स्तेय-(चोरी) प्रतिषिद्ध मैथुन—पर-दार-सेवा, इन कुकर्मों को करता है। वाणी द्वारा पर-निन्दा, अनर्थक प्रलाप, मिथ्या भाषण, कठोर भाषण इन चार कुकर्मों को करता है। पूर्वोक्त दशविध अशुभ प्रवृत्ति अधर्म का कारण है। अब शुभ प्रवृत्ति कहते हैं—शरीर द्वारा दान, परित्राण और परिचरण

(वृद्धसेवा); वाणी से सत्य-भाषण, हित-भाषण, प्रिय-भाषण, वेदादि सच्छास्त्रोंका अध्ययन और मनद्वारा दया, अस्पृहा, श्रद्धा इन सत्कर्मों को प्राणी करता है। यह दशविध शुभप्रवृत्ति धर्म का कारण है।

संतोंके स्वरूप-परिचयार्थ गीताके अनेक स्थलोंमें श्रीकृष्ण परमात्माने संत-लक्षणोंका वर्णन किया है। वे लक्षण सिद्ध संत (ज्ञानी) में अयत्न-सिद्ध अर्थात् स्वाभाविक हैं। मुमुक्षु सन्तों के लिए यत्न-द्वारा सम्पादनीय हैं। विस्तारभय से व्याख्यासहित श्लोकोंका उद्धरण अशक्य है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् वेदव्यासने कई स्थलोंपर संतोंके लक्षण कहे हैं।

वैराग्य, तत्त्व-बोध, उपरति भी संतोंके लक्षण हैं। परन्तु उनका सहावस्थान नियत नहीं। पञ्चदशीके चित्रदीपमें विद्यारण्य स्वामीने इसका वर्णन किया है।

सन्तों के उद्गार

कर्मयोगी संत

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

हे परम गुरु परमात्मन्! इच्छा अथवा अनिच्छा से शुभ या अशुभ जो कर्म मैं कर रहा हूँ, वे सब आपके श्रीचरणों में अर्पित करता हूँ। क्योंकि मेरी कोई भी क्रिया स्वतंत्र नहीं है। प्रत्येक क्रिया के मूल में आपका हाथ है।

भक्त संत

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे,
यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत्प्रार्थ्यं मम बहु मतं जन्मजन्मान्तरेऽपि,
त्वत्पादाम्भोरुहयुगगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

याग-दानादि धर्म, धन-संग्रह और सांसारिक विषय-भोग इन सब पदार्थों में मेरी ज़रा भी रुचि नहीं है। भगवन्! पूर्व-कर्म के अनुसार जो कुछ होना है वह भले ही हो। आपके समक्ष मुझ अनाथ की ज़ोरदार शब्दों में एकही

प्रार्थना है—इस जन्म में ही नहीं, अपितु जन्म-जन्मान्तर में भी सर्वदा आपके चरण-युगल में मेरा अटल प्रेम बना रहे।

ज्ञानी संत

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम्॥

(पञ्चदशी तृप्ति. श्लो ९३-९४)

आज अविनाशी स्वात्मदर्शन से सतत ब्रह्मानन्द का भान हो रहा है। ढूँढनेपर भी दुःखमय संसार कहीं दृष्टि-गोचर नहीं होता। हो भी क्यों? उसका कारण मेरा अज्ञान ब्रह्म-बोध के त्रास से सदा के लिये कहीं भाग गया है, अतः मुझे बारंबार धन्यवाद है। मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ, क्योंकि अब ऐसा कोई कार्य शेष नहीं रहा जिसके करने की मुझे अपेक्षा हो। समस्त प्राप्तव्य वस्तु मुझे प्राप्त हो गयी। ऐसी कोई वस्तु शेष नहीं है जिसकी मुझे लिप्सा हो। अतः मुझे कोटिशः धन्यवाद है।

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयमहो वयम्॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः।
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्॥

संगः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्त्यक्तुं न शक्यते।
सद्भिरेव स कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम्॥

(कल्याण, 'सन्त अङ्क' अगस्त १९३७)

३

वेद में गुरु

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम्।
औदास्यप्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे ॥ १ ॥

शतोत्तरचतुःषष्ठितमं ततस्तपोनिधिम्।
अविनाशिमुनिं नौमि वेदवेदांगपारगम्॥ २ ॥

वेदभाष्यकृतं स्तौमि वेदिवंशसमुद्भवम्।
वेदवेद्यं गुरुं भक्त्या श्रीचन्द्रं शिवविग्रहम्॥ ३ ॥

ततोऽनु षोडशस्थाने मद्गुरुं विश्वविश्रुतम्।
आनन्दपश्चिमं रामं नमामि वेदवेदिनम्॥ ४ ॥

वर्तमान युग में पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से हिन्दू संस्कृति का ज्ञान विलुप्तसा हो रहा है। लोग दर्शनों के दर्शन, स्मृतियों का स्मरण, पुराणों का पारायण, वेदों का वेदन तो करते ही नहीं, फिर भी 'शास्त्र में गुरु-शिष्य प्रथा है ही नहीं—यदि हो भी तो पति-प्राणा नारी के लिये वह सर्वथा शास्त्र-निषिद्ध है, अथवा 'शास्त्र में कहीं भी नारी को गुरु करने का विधान नहीं है'। इस प्रकार कहने का कतिपय सज्जन निन्दनीय दुःसाहस करते हैं। अतः इस लेख में गुरु-शिष्य प्रथा वैदिक है और नारी का गुरु-मंत्र-ग्रहण शास्त्र-सम्मत है—इन विषयों की मीमांसा की जाती है।

गुरुगीता, पुराण, तन्त्र आदि शास्त्रों में गुरु-शिष्य प्रथा का विशद प्रतिपादन एवं प्रचुर वर्णन पाया ही जाता है। वेद में भी गुरु-गौरव का जगदीश्वर ने क्या ही सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। पाठक निम्नलिखित वेद-मन्त्रों के अवलोकन का कष्ट करें।

यो नोऽग्ने अररिवाँ अघायुररातिवा मर्चयति द्वयेन ।
मन्त्रो गुरुः पुनरस्तु सोऽस्मा अनुमृक्षीष्ट तन्वं दुरुक्तैः ॥

(ऋग्वेद मं० १, सूक्त १४७, मन्त्र ४)

अग्ने = अग्रणी परमात्मदेव, यः = जो, अररिवान् = दूसरों के दानादि सत्कार्यों में विघ्न डालनेवाला; अरातिवा = स्वयं दानादि सत्कार्य न करनेवाला, अघायु = पाप-निरत प्राणी, नः = हमें, द्वयेन = मन और वाणी से, मर्चयति = तिरस्कृत करता है। सर्वथा हमें नीचा दिखाने में सयत्न, अस्मै = इसके (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) अनुग्राहक, मंत्रः = मन्त्र-दाता, गुरुः = गुरुदेव, अस्तु = हों। अर्थात् उस पापिष्ठ व्यक्ति को मन्त्रदाता गुरुदेव कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगायें। सः = वह गुरुदेव, दुरुक्तैः = दुर्वचनों से महापुरुषो की निन्दा से युक्त, दुष्ट वाक्यों से दूषित, तन्वम् = इसके शरीर को, अनुमृक्षीष्ट = अनुमार्जन करे अर्थात् पावन करे।

इमे तुरं मरुतो रामयन्तीमे सहः सहस आनमन्ति ।
इमे शंसं वनुष्यतो निपान्ति गुरु द्वेषो अररुषे दधन्ति ॥

(ऋ० वे० ७, ५६, १९)

इमे = ये, गुरु = गुरवः (जसोऽत्र लुक्) गुरुदेव, मरुतः = पवन के समान लोककल्याण के लिये सतत भ्रमण करनेवाले वा पावन करनेवाले हैं। वे, तुरम् = सेवा में शीघ्रकारी, अर्थात् गुरुसेवा में निरन्तर तत्पर शिष्य को रामयन्ती = रमयन्ति = रमण कराते हैं। माता पिता जैसे बालक को विविध प्रकार के खिलौनों से प्रसन्न किया करते हैं, ठीक उसी तरह से विविध भोग-सामग्री को उपस्थित करके शिष्य को सदा प्रसन्न रखते हैं। इमे = ये गुरुदेव, सह = अपने आत्म बल से योग-साधना द्वारा प्राप्त दिव्य शक्ति से, सहसः = बलवान् घमण्डी, जगत् पीड़ाकारी, चौर, दस्यु आदि हिंस्र मनुष्यों को, आनमन्ति = झुका लेते हैं। तात्पर्य—अपने दिव्य प्रभाव से कुमार्ग-गामी प्राणि-वर्ग को सन्मार्ग की ओर आकृष्ट करते हैं।

सन्त गुरु नानक का कौडे राक्षस को तथा चैतन्य महाप्रभु का दो डाकुओं को प्रभु-भक्त बनाना इतिहास-प्रसिद्ध ही है। इतना ही नहीं—इमे = ये, शंसं =

अपने प्रशंसक शिष्य की अर्थात् स्तुति, नमस्कार आदि गुरुपूजा-निरत साधक की, वनुष्यतः = हिंसक से, बाह्य क्रूर-प्रकृति सिंह-मनुष्य आदि और आन्तर काम क्रोध आदि शत्रुओं से, निपान्ति = निरन्तर रक्षा भी किया करते हैं। यदि कोई व्यक्ति गुरुदेव की सेवा के लिये अपने शरीर, मन, वाणी तथा धनादि साधनों का उपयोग नहीं करता, घमण्ड में चूर रहता है, भक्तिशास्त्र संमत गुरु के चरणों में आत्म-निवेदन का मार्ग नहीं ग्रहण करता तो, अररुषे = उस आत्म-निवेदन करनेवाले ढोंगी शिष्य के लिये, द्वेषः = अप्रिय अनिष्ट को भी ये गुरुदेव, दधन्ति = धारण करते हैं। अर्थात् शापादि कठोर दण्ड प्रदान द्वारा ढोंगी शिष्य को 'चमत्कार को नमस्कार' की उक्ति के अनुसार सीधे रास्तेपर लाया करते हैं।

न तं तिग्मंचन त्यजो न द्रासदभि तं गुरुः।
यस्मा उ शर्म सप्रथ आदित्यासो अराध्वमनेहसो
व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥

(ऋग्वेद ८, ४७, ७)

आदित्यासः = आदित्याः = सूर्य समान प्रतापी, सप्रथः = प्रख्यात = परोपकृति योग-चमत्कार आदि से लब्ध ख्याति गुरुदेव, अनेहसः = निष्पाप सरल-हृदय आप, यस्मै = जिस प्रिय शिष्य के लिये, शर्म = सुख अर्थात् लौकिक पारलौकिक भोग एवं मोक्ष को, अराध्वम् = सम्पादन करें, तम् = उस, अभिगुरु = अभिगुरुम् = गुरु आज्ञाकारी गुरु-भक्त शिष्य को, तिग्मचन = तीक्ष्ण स्वभाववालों को भी, त्यजः = क्रोध, न द्रासद् = बुरी तरह नहीं पकड़ता। (द्रा = कुत्सायां गतौ) अर्थात् उसके समीप भूल कर भी नहीं फटकता। केवल क्रोध ही नहीं क्रोध का कारण काम और काम की अवान्तर जाति लोभ और उनके सहचारी मोह, मद, मत्सर भी, तम् = उस साधक को, न ह्रासत् = नहीं आक्रान्त कर पाते।

गुरुदेव! कोटिशः धन्यवाद-पूर्वक हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि, व ऊतयः = आप के संरक्षण अर्थात् शिष्य-रक्षाके प्रकार, सुऊतयः = सुन्दर संरक्षण हैं। 'व ऊतयः' यह द्विरुक्ति पूर्व उक्ति की विशेष पुष्टि के लिये की गयी है।

यद्वो देवाश्चकृम जिह्वया गुरु मनसो वा
प्रयुति देवहेलनम्।
अरावा यो नो अभि दुच्छुनायते।
तस्मिन्तदेनो वसवो निधेतन ॥

(ऋग्वेद १०, ३७, १२)

वसवः = वसुमन्त (मतुपोऽत्र लुक्) ज्ञान-धन-सम्पन्न अर्थात् संसार में भली भाँति रहने के मार्ग-दर्शक, गुरु = गुरवः, देवाः = गुरुदेव, जिह्वया = वाणी से वा, मनसः = मन के, प्रयुती = प्रयोग से अर्थात् वाणी व मन से, यत् = जो, वः = आपकी, देवहेलनम् = व देवों की अवज्ञा तिरस्कार-रूप, एनः = पाप, चकृम = (वयम् = हमने) किया है, यः = जो, नः अभि = हमारे समक्ष, अरावा = गमन करनेवाला। तात्पर्य—हमारी ओर आक्रमणकारी, दुच्छुनायते = विपरीत आचरण करता है। तस्मिन् = उसमें, तत् = उस पाप को, निधेतन = स्थापन करो। भावार्थ–गुरुदेव की शरण ग्रहण करते ही पहले प्रमाद से किये हुए मानसिक व वाचिक पाप—वे चाहे गुरु अथवा देव की अवज्ञा—किसी भी प्रकार के क्यों न हों, तत्क्षण भगवत्-स्वरूप गुरुदेव की अमृतमयी कृपादृष्टि से नष्ट हो जाते हैं, और गुरु-भक्त साधक का विरोधी व्यक्ति गुरु-विमुखता के कारण समस्त पाप-पुञ्ज की निवास-भूमि बन जाता है।

ऋग्वेद १–३९–३ मन्त्र में 'गुरु' और ४–५–६ मन्त्र में 'गुरुम्' ऐसा उल्लेख पाया जाता है। उन मन्त्रों की व्याख्या लिखना स्थानाभाव के कारण शक्य नहीं। ऋग्वेद ३–५२–२ मंत्रमें 'गुरुस्व' और शुक्ल यजुर्वेद २१–६१ मन्त्र में 'गुरुस्व' तिङन्त शब्द का प्रयोग हुआ। महीधर भाष्य में उसकी व्याख्या 'उद्यच्छ' ऐसी की है। प्रभु से प्रार्थना की गयी है कि हे प्रभो! आप हमारे उद्धार के लिये वैसा प्रयास करें जैसे गुरु शिष्य के कल्याण के लिये सतत प्रयत्नशील रहता है।

'गुरुस्व' शब्द गुरुशब्द से आचार अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय करनेसे निष्पन्न हुआ है। उसकी व्युत्पत्ति है 'गुरुरिवाचर' गुरु की तरह आचरण करो। महीधर ने भाव की व्याख्या की है, शाब्दिक नहीं। अधिक क्या

लिखें, उपर्युक्त मन्त्रों के अवलोकन से कल्याणकारी कृपा-निधि गुरुदेव के गौरव का वेदों ने हृदय खोल कर स्पष्ट प्रतिपादन किया है। अब किसी को यह कहने का दुःसाहस कैसे होगा कि वेद में गुरु-शिष्य-प्रथा का कहीं उल्लेख ही नहीं है?

अथर्ववेद के निम्न लिखित मंत्र पर दृष्टिपात करनेसे और भी पाठकों के हृदय-पटल पर गुरु-महिमा अङ्कित होगी—

मा नः पाशं प्रतिमुचो गुरुर्भारो लघुर्भवः ।
बधूमिव त्वा शाले यत्र कामं भरामसि ॥

(अथर्ववेद ९,३, २४)

हे परमात्मन्। नः=हमारी, प्रति=ओर, पाशम्=बन्धन को, मा=मत, मुचः=निक्षित करें। अर्थात् हमारी ग्रीवा में अविद्या की डोरी मत डालें। कृपया अपनी माया का हमारे फँसाने के लिए प्रसार न करें। अपितु, गुरु=गुरु-विग्रह धारण कर या गुरु-शरीर केन्द्र में प्रविष्ट हो, लघुः भारः=लघुं भारम्=(द्वितीयार्थे प्रथमा) हमारे भार को हल्का करें। हम अनन्त जन्मों से माया में फँस कर माया-कल्पित विविध प्रकार के संसार के दुःखों का बोझा उठा रहे हैं। वह भार प्रतिक्षण बढ़ता ही जा रहा है। नये-नये कर्मों के फल भोग के लिये विविध योनियों में जीवात्मा को भटकना पड़ रहा है। आप उस भार को, भवः=भव=भावय=हलका बना दो। अर्थात् हृदय में ब्रह्मविद्या की प्रचण्ड अग्नि प्रदीप्त कर समस्त कर्म-राशि को तूल की तरह भस्म कर दो। कर्मों के विनष्ट होने से कर्मों के फल शरीर धारण करने का अवसर ही उपस्थित न होगा। फिर त्रिविध दुःख-भार मुझे कभी स्पर्श न कर सकेगा। हे प्रभो! मैं बहुत तंग आगया हूँ। अधिक समय तक इन दुःखों की गठरी उठाना सहन नहीं किया जा सकता। संसार के अन्ध-कूप में गिरे हुए मुझ अनाथ साधक की भुजा पकड़ कर शीघ्र ही निस्तार करें।

मैं, बधूमिव=नव-विवाहिता नारी की तरह, त्वा=तुझे, शाले=वस्त्राभरण आदिके प्रदानसे सजाता हूँ। अर्थात् भक्ति-भावसे आपकी विविध प्रतिमाओं

की सपर्या करता हूँ। यत्र = जिस आपके पूजन करने पर हम साधक, कामम् = मनोवांछित मनोरथको, भरामसि = सम्पादन करते हैं। इस मन्त्र में शिष्य को अविद्या-पाश-मुक्त कराने एवं विविध दुःख भार से बचाने के लिये भगवान् गुरु विग्रह धारण करते हैं। अथवा दीक्षा के समय गुरु के शरीर में अपनी दिव्य-शक्ति का प्रादुर्भाव करते हैं। शास्त्र में गुरु-केन्द्र में भगवच्छक्ति के आविर्भाव को ही आवेशावतार माना गया है।

वेद के पुष्कल मन्त्रों से गुरु-शिष्य-प्रथा भलीभान्ति प्रमाणित की गयी।

उपनिषत्, श्रीमद्भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र गुरु-शिष्य-प्रथा के प्रबल समर्थक हैं। क्योंकि प्रस्थानत्रयी की प्रक्रिया के अनुरूप ब्रह्मविद्या के साधन-कलाप में गुरूपसदन का (शमदमादि साधन-सम्पन्न शिष्य का गुरु के समीप उपस्थित होने का) मुख्यतम स्थान है।

आर्ष ग्रन्थों में स्त्री-दीक्षा

अब नारी के गुरु बनाने में शास्त्रों में उपलब्ध असंख्य प्रमाणों में से कतिपय मुख्य प्रमाण दिये जाते हैं—

अत्राश्रमे रघुश्रेष्ठ गुरवो मे महर्षयः।
स्थिताः शुश्रूषणं तेषां कुर्वती समुपस्थिता ॥

(अध्यात्म रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग १०, श्लोक ११)

बहुवर्षसहस्राणि गतास्ते ब्रह्मणः पदम्।
गमिष्यन्तोऽब्रुवन्मां त्वं वसात्रैव समाहिता ॥

(अ० रा०, अर० का०, सर्ग १०, श्लोक १२)

भगवान् राम लक्ष्मण के सहित पम्पा सरोवर के पश्चिम तटपर स्थित मातङ्ग मुनि के आश्रम में गये। गुरु-सेवा के अद्भुत प्रभाव से शबरी को अति

दुर्लभ भगवद्दर्शन प्राप्त हुए। उस देवी ने राम की प्रतीक्षा में चिरकाल से संगृहीत आश्रम के बदरी वृक्षों के अति मधुर फलों से अनुज-सहित प्रभु राम का स्वागत किया। प्रभु राम के पूछने पर अपना परिचय दिया—रघुनंदन! इस आश्रम में मेरे गुरुदेव महर्षि मातङ्ग हज़ारों वर्ष तक रहे। मैं भी उनकी सेवा करती हुई यहीं रहती थी। वे ब्रह्मलीन हो गये और अन्तिम समय में मुझे आज्ञा दी कि तू इसी आश्रम में एकाग्रचित्त हो निवास कर। आप के आगमन की भी उन्होंने मुझे सूचना दी थी। उनके देह-त्याग के समय आप चित्रकूट में थे।

यहाँ शबरी ने स्पष्ट ही अपने गुरुदेव महर्षि मातङ्ग का उल्लेख किया है। फिर स्त्री को गुरु-मन्त्र ग्रहण करने में शंका के लिये अवकाश ही कहाँ? इसी प्रसंग में वाल्मीकि मुनि का भी इसी अभिप्राय का लेख मिलता है—

कच्चित्ते नियमाः प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्।
कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥

(वा० रा०, अरण्य का०, सर्ग ७४, श्लोक ९)

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव संदर्शनान्मया।
अद्य मे सफलं जन्म गुरवश्च सुपूजिताः ॥

(वा० रा०, अर० का०, स० ७४, श्लोक ११)

राम शबरी के आश्रम में अनुज-सहित गये। आतिथ्य स्वीकार करने के अनन्तर शबरी से पूछ रहे हैं – क्या आपकी तपश्चर्या की साधना भली-भाँति हो रही है? क्या तुम्हारा मन प्रसन्न है?

"हे मधुरभाषिणी शबरी! क्या आपकी गुरु-सेवा सफल हुई है?" इस श्लोक में प्रभु राम शबरी की गुरु-सेवा के सफल होने का प्रश्न पूछ रहे हैं। यदि स्त्री को गुरु-मन्त्र ग्रहण करने का अधिकार ही नहीं, तो फिर शबरी का गुरु भी कोई हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में राम का गुरु सेवा के सम्बन्ध में पूछना सर्वथा असगत होगा। अत एव स्त्री के गुरु होने का सिद्धान्त अवश्य मानना पड़ेगा। प्रभु के प्रश्नपर शबरी उत्तर दे रही है—

"प्रभो! आपके भलीभाँति दर्शन से मेरा तप सिद्ध हुआ और आज ही मेरा जन्म सफल हो रहा है। मैंने अनन्त वर्षों तक मन, वाणी एवं शरीर से भली प्रकार जो गुरु-चरणों की सेवा की थी, उसका सुमधुर फल निःसन्देह आज मुझे प्राप्त हुआ।" प्रभु के प्रश्नों के उत्तर में शबरी ने अपनी गुरुपूजा का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः स्त्री के गुरु के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह अब रहेगा ही कैसे? इतना ही नहीं, श्रीमद्भागवत में श्रीपार्वती जी की उक्ति से भी यह विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है—

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं निशम्य देहः सुरवर्य नेङ्गते।
अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम्॥

(श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ४, अध्याय ३, श्लोक १३)

सुरश्रेष्ठ प्रभो महादेव! पिता के घर में महोत्सव का समाचार सुनकर किस पुत्री का शरीर जाने के लिये नहीं छटपटायगा? आप मुझे अवश्य मेरे पिता द्वारा आयोजित यज्ञ-महोत्सव देखने के लिये आज्ञा दें।

शंकर ने पार्वती को रोका और कहा—पार्वती! इस महोत्सव में अपना जाना अनुचित है, क्योकि आपके पिता द्वारा हम आमंत्रित नहीं किये गये। इसके उत्तर में पार्वती बोली—"प्रभो! बिना बुलाये भी अर्थात् बिना आमंत्रण के ही अकारण-स्नेही एवं पति, गुरु और मातापिता के घर लोग निःसंकोच जाते ही हैं। फिर आमन्त्रण न आने के बहाने से आप मुझे पिता के घर जाने से क्यों रोक रहे हो? मुझे अवश्य जाना है। कृपया आप शीघ्र आदेश दें।" पाठक विचार करें कि यहाँ जगज्जननी अकारण-स्नेही, पति, माता तथा पिता के अतिरिक्त गुरु का भी निर्देश कर रही है।

अब नारी के गुरु के सम्बन्ध में शंका का अवकाश ही कहाँ? केवल श्रीपार्वती जी के मुख से गुरु का उल्लेख ही नहीं अपितु उनके गुरु कौन थे? उन्हें गुरु द्वारा किस गुरु-मन्त्र की प्राप्ति हुई? किस स्थिति में उन्हें गुरु-मन्त्र ग्रहण करने की आवश्यकता पड़ी? गुरु-मन्त्र के जप से उन्हें किस फल की

प्राप्ति हुई?—इन्हीं सब बातों का प्रतिपादन शिवपुराण में विस्तार के साथ किया है।

श्री शिवमहापुराण, श्रीवेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सम्वत् १९८२ में छपा। रुद्रसंहिता (पार्वती खण्ड) तृतीय, अध्याय २१, श्लोक ३१ से ४१—

शिवोवाच

त्वं तु सर्वज्ञ जगतामुपकारकर प्रभो।
रुद्रस्याराधनार्थाय मन्त्रं देहि मुने हि मे ॥ ३१ ॥

न सिद्ध्यति क्रिया कापि सर्वेषां सद्गुरुं विना।
मया श्रुता पुरा सत्यं श्रुतिरेषा सनातनी ॥ ३२ ॥

ब्रह्मोवाच

इति श्रुत्वा वचस्तस्याः पार्वत्या मुनिसत्तमः।
पञ्चाक्षरं शम्भुमन्त्रं विधिपूर्वमुपादिशत् ॥ ३३ ॥

अवोचश्च वचस्तां त्वं श्रद्धामुत्पादयन्मुने।
प्रभावं मन्त्रराजस्य तस्य सर्वाधिकं मुने ॥ ३४ ॥

नारद उवाच

शृणु देव्यस्य मन्त्रस्य प्रभावं परमाद्भुतम्।
यस्य श्रवणमात्रेण शंकरस्सुप्रसीदति ॥ ३५ ॥

मन्त्रोऽयं सर्वमन्त्राणामधिराजश्च कामदः।
भुक्तिमुक्तिप्रदोऽत्यन्तं शंकरस्य महाप्रियः ॥ ३६ ॥

सुभगे येन जप्तेन विधिना सोऽचिराद् द्रुतम्।
आराधितस्ते प्रत्यक्षो भविष्यति शिवो ध्रुवम् ॥ ३७ ॥

चिन्तयन्ती च तद्रूपं नियमस्था शराक्षरम्।
जप मन्त्रं शिवे त्वं हि संतुष्यति शिवो द्रुतम् ॥ ३८ ॥

एवं कुरु तपस्साध्वि तपस्साध्यो महेश्वरः ।
तपस्येव फलं सर्वैः प्राप्यते नान्यथा क्वचित् ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा तदा कालीं नारद त्वं शिवप्रियः ।
यादृच्छिकोऽगमस्त्वं तु स्वर्गं देवहिते रतः ॥ ४० ॥

पार्वती च तदा श्रुत्वा वचनं तव नारद ।
सुप्रसन्ना तदा प्राप पञ्चाक्षरमनुत्तमम् ॥ ४१ ॥

काम-दहन के अनन्तर शिव अदृश्य होगये। पार्वती शिव-विरह से अति-व्याकुल हुईं। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही है। वह दीर्घ निःश्वास ले रही है। शोक-सागर-निमग्ना पुत्री की शोचनीय दशा देख हिमालय-दम्पति भी अतिचिन्तित हो उठे। उनकी प्रार्थना से नारद भगवती पार्वती से मिले। नारद का स्वागत करती हुई काली कहती है—

हे प्रभो! हे मुने! आप सर्वज्ञ हैं। संसार के उपकारक हैं। शिवजी की आराधना के निमित्त मुझे आप अवश्य मन्त्र दें। ३१।

सभी की कोई भी क्रिया या अनुष्ठान की क्रिया सद्गुरु के विना सिद्धि को प्राप्त नहीं होती—मैंने यह बात पहले सुनी है और यह सत्य है। सनातन श्रुति का ऐसा ही आदेश है। ३२।

जगन्निर्माता विधाता नारद पार्वती के प्राचीन सम्वाद को नारद को ही सुना रहे हैं।

ब्रह्माजी बोले–मुनिसत्तम नारद! पार्वती की इस प्रकार की प्रार्थना सुन आपने विधि-पूर्वक पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) शम्भु-मन्त्र का उसे उपदेश दिया ॥ ३३ ॥

हे मुने! श्रद्धा को बढ़ाते हुए आप उससे बोले–हे देवि! यह पञ्चाक्षर मन्त्र मन्त्रों का राजा है और इसका सर्वाधिक प्रभाव है ॥ ३४ ॥

नारद बोले—देवि! इस मन्त्र के अद्भुत प्रभाव को सुनो, जिसके स्मरण-मात्र से शंकर प्रभु अत्यन्त प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

यह मन्त्र सब मन्त्रों का अधिराज है और मनोरथों का देने वाला है। यह भुक्ति-मुक्ति-दाता और शंकर को अत्यन्त प्रिय है ॥ ३६ ॥

अखण्ड सौभाग्यवती कालिके! इसके विधि-पूर्वक जप करने से अतिशीघ्र शिवजी की आराधना पूर्ण होती है। वे आपको अवश्य ही इस मन्त्र-जप के फल-स्वरूप प्रत्यक्ष दर्शन देंगे ॥ ३७ ॥

शिवे! तुम शराक्षर (पञ्चाक्षर) मन्त्र का जप करो और नियमित रह कर उनके रूप का ध्यान करो तो शीघ्र ही शंकर सन्तुष्ट होंगे ॥ ३८ ॥

साध्वी पार्वति! इस प्रकार तुम तपश्चर्या करो। महेश्वर तप के द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं, और कोई उनकी प्राप्ति का मार्ग नहीं।

केवल आप ही नहीं—सभी प्राणी तपश्चर्या से ही अभीष्ट फल की प्राप्ति कर सकते हैं ॥ ३९ ॥

काली को इस प्रकार कह, देवताओं के हित में अनुरक्त हे शिव प्रिय स्वेच्छाचारी नारद! तुम स्वर्ग को चले गये ॥ ४० ॥

हे नारद! पार्वती आपके वचन सुन कर बहुत खुश हुई और उसे अत्युत्तम सर्वश्रेष्ठ पचाक्षर मंत्र की प्राप्ति हुई ॥ ४१ ॥

महाभारत में कुन्ती का दुर्वासा गुरु से मन्त्र ग्रहण स्पष्ट लिखा है—

निगूढनिश्चयं धर्मे यं तं दुर्वाससं विदुः।
तमुग्रं संशितात्मानं सर्वयत्नैरतोषयत् ॥ ५ ॥

तस्यै स प्रददौ मन्त्रमापद्धर्मान्ववेक्षया।
अभिचाराभिसंयुक्तमब्रवीच्चैव तां मुनिः ॥ ६ ॥

यं यं देवं त्वमेतेन मन्त्रेणावाहयिष्यसि।
तस्य तस्य प्रभावेण तव पुत्रो भविष्यति ॥ ७ ॥

(महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १११ श्लोक ५–६–७)

शूरसेन की औरस पुत्री निःसन्तान कुन्तिभोज राजा की दत्तक कन्या कुन्ती देवी अपने धार्मिक पिता के आदेश से राजभवन में आगत अतिथियों की सेवा में नियुक्त हुई। उसने धर्म-मर्मज्ञ संयतात्मा उग्र-प्रकृति दुर्वासा को सर्व प्रकार के प्रयत्नों से सेवा द्वारा प्रसन्न किया।

महर्षि दुर्वासा ने प्रसन्न होकर उसे भावी विपत्ति के पर्यालोचन से मन्त्र दिया—जिसके द्वारा देवों को वश एवं आकृष्ट किया जाय, और मुनि ने उस कन्या से कहा—पुत्री! इस मन्त्र के द्वारा जिस जिस देवता का तुम आवाहन करोगी, उस उस देवता के प्रभाव से तुम्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति होगी। जब, मन्त्र-दाता गुरु और मन्त्र-ग्रहीता शिष्य होता है—ऐसा शास्त्रीय सिद्धान्त है तो अब कुन्ती को दुर्वासा की शिष्या होने में किसी को कुछ कहने का स्थान ही नहीं। शास्त्र में यह भी लिखा है—

पतिव्रता तु या नारी गुरुमन्त्रं समाश्रयेत् ।
योगिनं गुरुमभिगम्य प्रार्थयेत् मोक्षसाधनम् ॥

या स्त्री भर्त्रा वियुक्तापि स्वाचारैः संयुता शुभा ।
सा च मन्त्रं प्रगृह्णातु मुक्तिसाधनकांक्षया ॥

जो पतिव्रता नारी है वह अवश्य गुरु-मन्त्र ग्रहण करे। योगिराज गुरु की शरण में उपस्थित हो प्रार्थना करे—भगवन्! मुझे कृपया मुक्ति का उपाय बतलायें। पति से वियुक्त विधवा देवी भी जो शास्त्र विहित स्वधर्म में दृढ़ एवं प्रकृति-शोभना हो, वह भी गुरु-मन्त्र ग्रहण करे। कारण, गुरु मन्त्र का अधिकार उस प्राणी को है जो मुक्ति के उपाय को जानना चाहता है। मुक्ति-साधन की जिज्ञासा पुरुष व नारी को समान ही है।

भूखे का भोजन में तथा पिपासु का जल में जिस प्रकार अधिकार सर्वमान्य है, इसी प्रकार जिज्ञासु का मुक्ति कामना से गुरु-मन्त्र ग्रहण करने में अधिकार मान्य ही है। अब नीचे कतिपय उन प्रमाणों को उद्धृत करके समाधान किया जायगा, जिन प्रमाणों के आधार पर लोग बहुत नाचा करते हैं और यह कहने की धृष्टता किया करते हैं कि स्त्री को गुरु बनाने का शास्त्र में सर्वथा निषेध है—

नैतदाश्चर्यमार्यायां यन्मां त्वमनुभाषसे ।
विदितं तु ममाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥

(वाल्मी० रा० अ. का. ११८–२)

भर्ता नाथो गुरुर्भर्ता देवता दैवतैः सह।
भर्ताऽतिथिश्च पूज्यश्च नारीणां नृपनन्दन॥

(प. पु. भूमि खं. अ. ४१ श्लोक ७५)

पतिर्बन्धुः पतिर्भर्ता दैवतं गुरुरेव च।
सर्वस्माच्च परः स्वामी न गुरुः स्वामिनः परः॥

(ब्र. वै. पु. ब्र. खं. ३ अ. ५७।१०)

स्वप्ने जागरणे चापि पतिः प्राणाँश्च पोषितः।
पतिरेव गुरुः स्त्रीणामिह लोके परत्र च॥

(ब्र. वै. पु. ब्र. खं. ३ अ. ६९ श्लोक ६६)

व्रतं पतिव्रतायाश्च पतिरेव श्रुतौ श्रुतम्।
गुरुश्चाभीष्टदेवश्च तपो धर्ममयः पतिः॥

(ब्र. वै. पु. कृ. ख. अ. १७।६७।५९)

नहि कान्तात् परो देवो नहि कान्तात् परो गुरुः।
गुरुसेवा विप्रसेवा देवसेवादिकं च यत्॥

स्वामिनः पादसेवायाः कलां नार्हन्ति षोडशीम्।
गुरुविप्रेन्द्रदेवेषु सर्वेभ्यश्च पतिर्गुरुः॥

(ब्र. वै. पु. ब्र. ख. अ. ४२।३०)

भर्ता देवो गुरुर्भर्ता धर्मतीर्थव्रतानि च।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं भजेत् सती॥

(सुभाषित रत्नाकर पं. च. पृष्ठ ४१–१३२)

श्लोकों का अर्थ स्पष्ट ही है।

केवल इन श्लोकों में पति के लिये गुरु होने के उल्लेख से भ्रम हो जाता है कि पति के अतिरक्त स्त्री का गुरु नहीं। यदि ऐसा मान लिया जाय तो उपर्युक्त भागवत, शिवपुराण, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण के स्त्री के गुरु-बोधक

श्लोकों की संगति कैसे होगी ? अतः परस्पर विरोध-परिहार का यह मार्ग ही श्रेयस्कर होगा कि पति के गुरु-बोधक श्लोकों का पति सेवा की उत्कृष्टता में तात्पर्य है—पति के अतिरिक्त गुरु के निषेध में नहीं। जैसे—

पतिर्माता पतिर्विष्णुः पतिर्ब्रह्मा पतिः शिवः।

इस श्लोक में पति को माता, विष्णु, ब्रह्मा तथा शिवरूप कहा है। क्या ऐसा कहने से यह परिणाम निकल सकेगा कि पति के अतिरिक्त स्त्री के माता होती ही नहीं ? अतः जिस प्रकार प्रसिद्ध माता का निषेध असङ्गत है, ठीक इसी प्रकार पति को गुरु कहने का भी अभिप्राय प्रसिद्ध पति के अतिरिक्त गुरु-निषेध में नहीं है, अपितु गुरु के समान मनसा वाचा कर्मणा पति की सेवा से ही तात्पर्य है। शास्त्र में जैसे—

गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो महेश्वरः।

इस उक्ति का गुरु की सर्वोत्कृष्ट स्थिति के वर्णन में तात्पर्य है, गुरु के अतिरिक्त प्रसिद्ध माता पिता देवादि के निराकरण में कदापि नहीं। अब—

'पतिरेव गुरुः स्त्रीणाम्'

इस वाक्य पर भी कुछ विचार करना होगा। श्लोक के इस तृतीय चरण से पूर्व प्रथम चरण पर दृष्टिपात करें। प्रथम चरण में 'गुरुरग्निर्द्विजातीनाम्' इस कथन से द्विजाति-मात्र का गुरु अग्नि को कहा गया है। क्या इस उक्ति से कभी यह अभिप्राय निकाला जा सकता है कि अग्नि के अतिरिक्त द्विजाति का कोई गुरु ही नहीं ? ऐसा मान लेने से गुरुकुल की स्थापना, वहाँ शिष्यों का गुरुओं से वेद पढ़ना और पढ़ाना—सभी सनातन-धर्म की प्रथा विलुप्त हो जायगी। विवश इस उक्ति का यही अर्थ मानना होगा कि द्विजाति के लिये अग्नि गुरु-तुल्य आदरणीय है। द्वितीय चरण में वर्णों का गुरु ब्राह्मण और चतुर्थ चरण में सब का गुरु अभ्यागत अतिथि को कहा है। वहाँ भी ब्राह्मण और अतिथि गुरु के समान आदरणीय हैं। यही अर्थ युक्ति-संगत है। अन्यथा वैदिक गुरु-शिष्य प्रथा का ही विलोप हो जायगा। अतः अतिथि-ब्राह्मण भले ही पूज्य रहें, प्रत्येक प्राणी को अपने कल्याण के लिये निज निज गुरु से मन्त्र-ग्रहण अत्यावश्यक है।

सम्भव है आप यह कहे बिना न रहेंगे कि यदि ऐसा ही था तो 'पतिरेव' न कह कर 'पतिरपि गुरुः स्त्रीणां' ऐसा क्यों नहीं कहा? 'एव' शब्द के प्रयोग से तो अन्य का निषेध ही है। प्रतीत होता है कि यह केवल आपकी भ्रान्ति 'एव' आदि निपातों के नानाविध अर्थों के न समझने के ही कारण है। यास्क लिखते हैं—

निपाताः–उच्चावचेषु अर्थेषु निपतन्ति।

(निरुक्त अ. १ पाद २)

नानाविध अर्थों में प्रयुक्त होते हैं—इसी लिये वे निपात कहलाते हैं।

सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र महावैयाकरण नागेशभट्ट ने 'परमलघुमञ्जूषा' के निपात-प्रकरण में 'एव' शब्द के चार अर्थ लिखे हैं—

प्राचुर्य, असम्भव, अवधारण और अप्यर्थ समुच्चय।

अवधारण के तीन भेद हैं—

अन्ययोग-व्यवच्छेद, अयोग-व्यवच्छेद तथा अत्यन्तायोग-व्यवच्छेद।

त्रिविध अवधारण का विस्तृत विचार प्रकृतानुपयुक्त है, अतः हम केवल इसी बात पर विचार करेंगे कि 'एव' शब्द का अर्थ **'पतिरेव गुरुः स्त्रीणां'** इस वाक्य में अवधारण नहीं किंतु अप्यर्थ समुच्चय है। यथा 'घट एव प्रसिद्धः' इस वाक्य का अर्थ 'घट भी प्रसिद्ध है'। यहाँ घट इतर पटादि की प्रसिद्धि का निषेध इस वाक्य से नहीं होता। बस, सिद्ध हो गया कि 'पतिरेव गुरुः स्त्रीणां' इस वाक्य का यही अर्थ है कि पति भी स्त्री-वर्ग का गुरु-तुल्य सम्माननीय तथा समादरणीय है।

परमलघुमञ्जूषा के पृष्ठ ६० पर लिखा है—

"लवणमेवासौ भुङ्क्ते इत्यादौ प्राचुर्यार्थकस्य, घट एव प्रसिद्ध इत्यादावप्यर्थकस्य, क्वेव भोक्ष्यसे इत्यादावसम्भवार्थकस्य च सत्त्वम्।"

गुरु शिष्य-प्रथा वेद-सम्मत है। केवल मनुष्य का ही गुरु-मन्त्र-ग्रहण में अधिकार नहीं—नारी का भी अधिकार है। पति के गुरु-बोधक वाक्यों का पति-सेवा की उत्कृष्टता में तात्पर्य है।

'गुरु' शब्द का अर्थ

अब गुरु शब्द का अर्थ व्याकरण, निरुक्त एवं पुराण-शास्त्र-वाक्यों के आधार पर व्युत्पत्ति-प्रदर्शन-पूर्वक दिखलाने का प्रयास किया जायगा।

व्याकरण-रीति से गुरु शब्द—

धातु-अंक	धातु	अर्थ	गण	
५७४	गुर्वी	उद्यमने	भ्वादि	परस्मैपदी
९२७	गृ	सेचने	भ्वादि	परस्मैपदी
१४११	गॄ	निगरणे	तुदादि	परस्मैपदी
१४९९	गॄ	शब्दे	क्र्यादि	परस्मैपदी
१७०	गॄ	विज्ञाने	चुरादि	आत्मनेपदी

—इन पाँच धातुओं से निष्पन्न होता है। अतः इसकी व्युत्पत्ति (विग्रह) इस प्रकार है—

१– गूर्वति उद्यच्छति।

जो साधकों को संसार सागर से पार करने का उद्योग करता है।

२– गरति शिष्यदक्षिणकर्णे गुरुमन्त्रामृतं सिञ्चति, शिष्यहृदि समुद्भूतां वैराग्यलतां प्रेमलतां वा वर्धनार्थं स्वोपदेशैः सिञ्चति।

शिष्य के दक्षिण कर्ण में गुरु-मन्त्र-रूप अमृत का सिञ्चन करता है। अथवा शिष्य के हृदय में उत्पन्न वैराग्यलता वा ज्ञानलता को बढ़ाने के लिये उपदेश-रूपी जल से सिञ्चन करता है।

३– गिरति सविलासाविद्यां ग्रसते, संसृतिं समूलघातमपहन्ति।

कार्य-सहित अविद्या को भक्षण करता है। अर्थात् मूल-सहित संसार का विनाश करता है।

४– गृणाति ब्रह्मतत्त्वम् उपदिशति।

ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करता है।

५– गारयते विजानाति स्वयं परान् विज्ञापयति चेति गुरुः।

स्वयं ब्रह्म को जानता है तथा दूसरों को ब्रह्म का बोध कराता है। स्वयं ब्रह्म का साक्षात्कार करके दूसरों को ब्रह्म साक्षात्कार कराने के लिये जो सचेष्ट है— वह गुरु है।

गुरुर्गूढरुतो भवति गूढं रौति इति वा।

इस निर्वचन से जिसकी उक्ति गूढ़ हो अथवा जो गूढ़ तत्त्व का उपदेष्टा हो वह गुरु है। शास्त्र-वाक्यों के आधार पर गुरु शब्द की व्युत्पत्ति निम्न-निर्दिष्ट है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥

गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्ममायाभ्रान्तिविमोचकः।

गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः॥

'गु' शब्द का अर्थ अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ तमोनाशक है। इस कारण जो अज्ञान-रूप अन्धकार का नाश करते हैं, वे ही गुरु-शब्द-वाच्य हैं। 'गुरु' इस शब्द के प्रथम वर्ण 'गु' से माया आदि गुण प्रकाशित होता है। द्वितीय वर्ण 'रु' से माया-जनित भ्रान्ति के नाशकारी अद्वितीय ब्रह्म का बोध होता है। इस कारण 'गु' सगुण को और 'रु' निर्गुण अवस्था को प्रतिपन्न करके 'गुरु' शब्द बना है। 'गकार' का अर्थ सिद्धि-दाता, 'रकार' का अर्थ पाप-हर्ता और 'उकार' का अर्थ शिव है। सिद्धि दाता शिव और पाप हर्ता शिव ऐसा अर्थ (ग+उ+र+उ) बोधक शब्द से समझना उचित है।

निष्कर्ष यह हुआ कि जिस महापुरुष की कृपा से अज्ञानान्ध जीव का ज्ञान-नेत्र प्राप्त कर जन्म-मरण चक्र से निस्तार हो जाता है—वही 'गुरु' है।

प्रश्नः—विश्ववन्द्य आचार्य श्रीचन्द्रदेव आपकी कृति 'श्रौतमुनिचरितामृत' उत्तरार्ध पृ. ३१ पर उद्धृत 'मा नो ऽग्ने'—इस मन्त्र के भाष्य में मंत्र को गुरु लिखते हैं। क्या मन्त्र-दाता मनुष्य को गुरु मानने से आप का आचार्य की उक्ति से विरोध न होगा ?

समाधान—आचार्य की उक्ति का तात्पर्य मन्त्र और मन्त्र-दाता गुरु में द्वैत-दृष्टि के निराकरण में है—जिस दृष्टि से मनुष्य नरकगामी होता है। यथा रुद्रियामल तन्त्र में कहा गया है—

अहं गुरुरहं देवो मन्त्रार्थोऽहं न संशयः।
भेदका नरकं यान्ति नानाशास्त्रार्थवर्जिताः॥

मैं (परमात्मा) ही गुरु और देवता हूँ। मैं ही मन्त्रार्थ हूँ। परमात्मा, गुरु और मन्त्र में भेद-बुद्धि रखनेवाला शास्त्र मर्म ज्ञान हीन मनुष्य नरक में जाता है।

अब गुरु-महिमा के उपयुक्त कतिपय श्लोक लिख कर मैं अपनी लेखनी को विराम दूँगा। भव-रोग-वैद्य गुरुदेव की प्रशंसा लिखने में मेरी लेखनी का सामर्थ्य ही कहाँ ? वेद पुराण, तन्त्र, सन्त-वाणी गुरु-महिमा से भरपूर हैं। केवल मैंने कतिपय वेद-मन्त्रों का ही उल्लेख किया है।

संसारापारपाथोधेः पारं गन्तुं महेश्वरि।
श्रीगुरुचरणाम्भोजनौकैवैकावलम्बनम्॥

(तन्त्र शास्त्र)

ब्रह्माण्डभारमध्ये तु यानि तीर्थानि सन्ति वै।
गुरोः पादतले तानि निवसन्ति हि सन्ततम्॥

गुरु-गीता में भी कहा है—

गुरौ मानुषबुद्धिन्तु मन्त्रे चाक्षरभावनाम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्॥

गुरौ मनुष्यताबुद्धिः शिष्याणां यदि जायते ।
नहि तस्य भवेत् सिद्धिः कल्पकोटिशतैरपि ॥

(गुरु तन्त्र)

कार्तिके मासि सम्प्राप्ते कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
अकृत्वा गुरुशुश्रूषां नरकानेव विन्दति ॥

(स्कन्ध पुराण, वैष्णव खं० कार्तिक मा० अ० २)

निर्गुरोर्दर्शनं कृत्वा हतपुण्यो भवेन्नरः ।
गुरोः सेवाविधिं शिक्षेत् श्रीकृष्णपरमात्मनः ॥

(गर्ग सं० खं० ८)

सदारामो गुणग्रामो विरामो विपदां सदा ।
निष्कामो रमतां रामो हृदि हर्षानुगो गुरुः ॥

(परमार्थ, मासिक पत्र । गुरु महिमा अंक । १५।१।१९६३)

४

गीता का मुख्य तात्पर्य वेदसम्मत समन्वय में

विश्ववन्द्यपदो वन्दे विबुधान् वेदविश्रुतान्।
पञ्च हेरम्बवैकुण्ठशक्तिशंकरभास्करान् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता के वास्तविक मुख्य तात्पर्य के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न आचार्यों और मनीषियों ने अपने पृथक् पृथक् दृष्टिकोण के अनुसार विविध मत निर्धारित किये हैं। जैसे एक ही पुष्प के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होते हैं। भक्त उसे प्रभु के पूजन की सामग्री समझता है। ज्ञानी उसी पुष्प में अपने प्रभु की दिव्य आनन्द-सत्ता का दर्शन करता है। वैद्य उसे एक औषध के रूप में देखता है। माली की दृष्टि में वही पुष्प कुछ पैसे दिलाने का साधन है। बच्चा उसे एक सुन्दर खिलौना समझता है, और कवि की दृष्टि में वही पुष्प प्रकृति का नयनानन्ददायी सुन्दर स्मित है। ये सब अपने दृष्टिकोण में अपने आपको सन्देह की भूमि से बहुत दूर समझते हैं।

ठीक इसी तरह भिन्न भिन्न आचार्य और मनीषियों ने भी अपने अपने पूर्व-निर्धारित मत की पुष्टि-मात्र गीता में बताकर अपने से प्रतिकूल मतों की समीक्षा की है। हम किसी पूर्व-निश्चित सिद्धान्त विशेष को न लेकर गीता के वास्तविक मुख्य तात्पर्य के विषय में अपना स्वतंत्र विचार करेंगे।

कई एक माननीय मनीषियों की मान्यता है कि गीता 'ज्ञान-शास्त्र' है। किसी के मत में गीता 'कर्मयोग-शास्त्र' है। कोई इसे 'भक्ति-शास्त्र' के रूप में देखते हैं। और आज के सुधारवादियों की दृष्टि में गीता साम्यवाद का प्रतिपादन करती है। इसकी पुष्टि में ये लोग ऐसा कहते हैं—**"शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः"। "समत्वं योग उच्यते"। "इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः"।** गीता के ये वाक्य उनके मत की पुष्टि करते हैं। इतना ही क्यों? गीता में तो ध्यान-योग, शरणागति, वर्ण-व्यवस्था, देव-पूजन, श्राद्ध-कर्म,

संन्यास, स्वधर्माचरण, कामना-त्याग, निष्काम-कर्म तथा अनासक्ति आदि सभी का प्रतिपादन है। यह सब कुछ होते हुए भी हमारे विचार में वास्तविक मुख्य तात्पर्य किसी एक पर ही है।

गीता धर्म-शास्त्र है

धर्म-अर्थ-कर्म-भक्ति-ज्ञान-समन्वय-शास्त्र—श्रीमद्भगवद्गीता को हम धर्म-शास्त्र मानते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के आरम्भ में हम धर्म शब्द का श्रवण करते हैं। यदि गीता कर्म-योग शास्त्र होता तो आरम्भ में "धर्मक्षेत्रे" के स्थान में "कर्मक्षेत्रे" कहना युक्ति-सगत होता। क्योंकि कुरुक्षेत्र कर्मक्षेत्र भी तो है। श्रीमद्भगवद्गीता को जो लोग "ज्ञान-शास्त्र" कहते हैं, उन्हें भी ज्ञान होना चाहिये कि यदि गीता का तात्पर्य केवल ज्ञान-परक होता तो "धर्म-क्षेत्रे' की जगह "ज्ञान-क्षेत्रे" पाठ लिखा हुआ मिलता। इसी तरह गीता को "भक्ति-शास्त्र" कहने वालों को भी अपने इस मतपर विचार करना चाहिये।

गीता धर्मशास्त्र है—हमारे इस विचार की पुष्टि तो इसी बात से हो जाती है कि गीताका आरम्भ "धर्म" शब्द से होता है और अन्त में भगवान् "मम" शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसका तात्पर्य "धर्मो मम" अर्थात् गीता में आरंभ से समाप्ति तक जो भी कुछ प्रभुने अर्जुनसे अपना संवाद कहा है, वह अपने अभिप्रेत धर्म का (समन्वय) ही प्रतिपादन किया है। अर्जुन से प्रभु ने यही कहा है कि अर्जुन! आरंभ से अन्त तक हमारे संवाद में जो भी कुछ तुमने सुना है—वह मेरा अभिप्रेत धर्म है।

गीता के धर्म शब्द का अर्थ व्यापक रूपेण कर्म, भक्ति और ज्ञान का समन्वय है। आजकल जो धर्म-शब्द सम्प्रदाय, फिरका, पन्थ, हिन्दु-धर्म, ईसाई-धर्म, मुसलिम-धर्म, यहूदी धर्मादिकों में प्रयुक्त होने लगा है, यह धर्म का संकुचित और एकदेशीय प्रयोग है। इसे सर्वथा अशुद्ध तो हम नहीं कह सकते—हां, यह धर्म का अपूर्ण प्रयोग अवश्य है। कर्म, भक्ति और ज्ञान के अर्थ में वैदिक वाङ्मय में धर्म का प्रयोग बहुधा पाया जाता है।

"धर्मेण पापमपनुदति" (तै० आ० १०–६३)

वेद-विदित धर्माचरण द्वारा पापों का अपसरण होता है। यहां पर धर्म शब्द वेद विदित कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इति भागवतान् धर्मान् शिक्षन् भक्त्या तदुत्थया।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥

(भा० ११, ३, ३३)

यहां पर धर्म शब्द श्रवण-कीर्तनादि नवधा भक्ति अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

कठोपनिषत् प्रथम वल्ली मन्त्र २१ में "नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः" में धर्म शब्द का प्रयोग ज्ञान अर्थ में हुआ। अतः यह निर्विवाद है कि गीता का धर्म शब्द कर्म, भक्ति और ज्ञान के समन्वय का बोधक है।

मुक्ति का साधन

भिन्न भिन्न आचार्य और मनीषियों ने मुक्ति के सम्बन्ध में अपनी अपनी पृथक पृथक् सम्मति दी है। किसी के मत में मुक्ति का साधन भक्ति है। किसीने ज्ञान से मुक्ति मानी है और कुछ आचार्य कर्म द्वारा मुक्ति-प्राप्ति की सिद्धि करते हैं।

गीता की मान्यता है कि मुक्ति की प्राप्ति भक्ति-सहित ज्ञान से होती है।

अविद्या और माया

अद्वैत-वाद के आचार्योंने अविद्या और माया को एक मान कर इनका निरास ज्ञान द्वारा स्वीकार किया है। वस्तुतस्तु माया और अविद्या में ईषत् भेद होता है। कुछ आचार्योंने दोनोंमें–"अनिर्वचनीयता, त्रिगुणात्मकत्व और भावत्व" तीनों धर्मों के सादृश्य से माया और अविद्या को एक माना है। परन्तु ये दोनों एक नहीं हैं। दोनोंमें परस्पर ईषत् भेद है; क्योंकि अविद्या की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा होती है। अविद्या व्यष्टि बन्धन है और माया समष्टि बंधन है।

निम्नलिखित निदर्शन से उपर्युक्त प्रकरण आसानी से समझा जा सकता है।

एक नगर है। उसके चारों ओर विशाल प्राचीर (परकोटा या चहार दीवारी) है। प्राचीर के विशाल द्वारका फाटक राजाज्ञासे खुलता है और बन्द होता है। नगर में बसे हुए लोग अपने अपने घरों के द्वार खोलने में स्वतंत्र हैं। जब कोई नगर-निवासी रात के समय नगर से बाहर जाना चाहेगा तो वह अपने घर के द्वार को तो स्वयं खोल कर बाहर आ सकेगा, परन्तु प्राचीर-द्वारके फाटक का खुलना तो राजाज्ञा के अधीन है।

ठीक इसी प्रकार अविद्या जो कि व्यष्टि बन्धन है, उसकी निवृत्ति तो साधक ज्ञान द्वारा कर सकता है। परन्तु प्राचीर-द्वारके फाटक के समान समष्टि बन्धन माया का अपसरण तो भक्ति द्वारा प्रभु की प्रसन्नता पर ही निर्भर करता है।

ज्ञान के द्वारा व्यष्टि अविद्या की निवृत्ति हो जानेपर साधक को समष्टि-बंधन माया के अपसरण के लिए भक्ति-मार्गका सहारा पाकर प्रभु को प्रसन्न करना ही होगा। समष्टि-बन्धन माया के अपसरण के बिना मुक्ति संभव नहीं।

अतः यह निर्विवाद और निश्चित सिद्धांत है कि भक्ति-सहित ज्ञान ही मुक्ति का मुख्य साधन है।

जैव बन्धन दैव बन्धन

गीता अ० ५ श्लो० १६ में भगवान् कह रहे हैं—'**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।**' (जिन जीवात्माओं का अपना अज्ञान परमात्मा के यथार्थ ज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है)। इस श्लोक में अज्ञान व्यष्टि-बन्धन जैव है। इसकी सूचना के लिए ही 'आत्मनः' यह पद प्रयुक्त हुआ है। अन्यथा यहां पर यह पद अनावश्यक है। गीता के इस वचन से यही सिद्ध होता है कि जैव-बन्धन अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति ज्ञान द्वारा होती है और दैव-बन्धन माया का अपसरण तो भगवद्-भक्तिद्वारा ही संभव है। इस बात की पुष्टि गीता के निम्न श्लोक द्वारा होती है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥ (गीता ७, १४)

यह अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल मेरी शरण में आ गये हैं, वे इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं। अर्थात् संसार से तर जाते हैं।

इस श्लोक में भगवान् ने कहा कि इस माया का पार वे ही साधक पा सकते हैं जो अनन्यभाव से मेरी शरण में आ जाते हैं। श्लोक में 'प्रपद्यन्ते' शब्द का अर्थ है—प्रपत्ति, शरणागति, भक्ति को स्वीकार कर लेना।

यदि गीता के मत में अविद्या और माया, व्यष्टि बन्धन और समष्टि-बन्धन, तथा जैव-बन्धन और दैव-बन्धन एक ही होता तो श्लोक में 'प्रपद्यन्ते' के स्थान पर 'प्रपश्यन्ति' पाठ पढ़ा जाता और किसी प्रकार से छन्दोभंग का भय भी न था। 'प्रपश्यन्ति' अर्थात् 'साक्षात्कुर्वन्ति'। इस विषयको स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित निदर्शन समझना पड़ेगा।

नदी में लगाए जा रहे जाल की हल-चल से घबरा कर जो मछलियां जाल की ओर बढ़ जाती हैं, वे जाल में फँस जाती हैं, और जो मछलियां मल्लाह के चरणों की ओर आ जाती हैं, वे बच जाती हैं। ठीक इसी तरह जो भक्त प्रभु की शरणागति में आ जाते हैं, वे माया-जाल से बचकर मुक्त हो जाते हैं।

प्रमाणान्तर

गीता अ० ७ श्लोक २५ में भगवान् ने कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष में नहीं आता। साधारण मनुष्यों की दृष्टि उस माया के पर्दे से पार नहीं हो सकती।

यहां पर भगवान् ने कहा है कि मैं अपनी योग-माया से छिपा रहता हूँ। जैसे बादलों से सूर्य का ढका जाना कहा जाता है।

यहाँ पर माया का "योग" विशेषण विशेष अर्थ का द्योतक है। अर्थात् योगमाया का अर्थ है—'भगवत्सकल्पवशवर्तिनी माया।' (योगो भगव-

त्संकल्पः—मधुसूदन सरस्वती) दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रभु का संकेत मिलते ही मायाका अपसरण हो जाता है और साधक कृतकृत्य हो जाता है। योगमाया भारतीय सती नारी की तरह प्रभु के संकेत के अनुसार कार्य किया करती है। एक स्वच्छन्द यूरोपियन लेडी की तरह स्वेच्छानुसारिणी नहीं है। जब साधक अपनी भक्ति के द्वारा प्रभु की प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है। तब प्रभु के संकेत को पाकर प्रभु की योगमाया उस साधक का पीछा छोड़ देती है, और वह साधक मुक्त हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि माया का अपसरण भगवद् भक्ति द्वारा ही संभव है।

मुक्ति-प्राप्ति में भक्ति का साक्षात् उपयोग नारद पंचरात्रने भी माना है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढो सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्ता तया मुक्तिर्नचान्यथा॥

इस श्लोक में ज्ञान-सहित भक्ति द्वारा मुक्ति की प्राप्ति मानी गई है, केवल ज्ञान से नहीं। तया = 'ज्ञानसहितया भक्त्या'।

श्रीमद्भागवत में इसी भाव की पुष्टि की गई है—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥

(भा० १०, १४, ४)

जो साधक भक्ति की उपेक्षा करके केवल ज्ञान के बलपर मुक्ति पाने का यत्न करते हैं, उनका परिश्रम केवल स्थूल तुष को पीटकर चावल प्राप्ति की कामना की तरह व्यर्थ ही जाता है।

माया और अविद्या

यद्यपि संक्षेप-शारीरक के कर्ता श्रीसर्वज्ञमुनिने और पञ्चपादिका-विवरण-कार श्रीप्रकाशात्मयति ने माया और अविद्या में अभेद सिद्ध किया है; फिरभी कुछ प्रसिद्ध प्रतिष्ठित आचार्योंने दबी ज़बानसे माया और अविद्यामें भेद मान ही तो लिया।

प्रकटार्थ कारने समष्टि प्रकृति को माया और प्रकृति के एकदेश को अविद्या लिखा है, जिससे समष्टि बन्धन माया और व्यष्टि-बन्धन अविद्या पृथक् पृथक् प्रतीत होती हैं। पञ्चदशीकार श्रीविद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी के 'तत्त्व-विवेक' में—

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते॥

शुद्ध सत्त्व-प्रधाना माया और मलिन सत्त्व-प्रधाना अविद्या कहकर दोनों में किञ्चित् भेद स्वीकार किया है।

इस तरह और भी कतिपय अनिर्दिष्ट-नामा आचार्योंने माया और अविद्या में भेद माना है—यथा आवरण शक्ति प्रधाना अविद्या और विक्षेप शक्ति-प्रधाना माया—ऐसा कहकर दोनों में भेद की स्फुट स्थापना की है।

गीता ही नहीं अपितु वेद भगवान् भी भक्ति-ज्ञान-समुच्चय का मुक्त-कण्ठ से गुण गान करता है—

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयँ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥

(शुक्ल यजुर्वेद काण्व शाखा अध्याय ४० मंत्र ११, माध्यन्दिनी शाखा मन्त्र १४)।

चान्द्रभाष्यम्—यः = पुमान्। विद्याम् = ज्ञानम् आत्मदर्शनम्। अविद्याम् = भगवदुपासनाम्—अकारोवासुदेवस्तस्य विद्योपासनेति व्युत्पत्तेः। तत् = ज्ञानो-पासनालक्षणम्। उभयम् = द्वयम्। सह = समुच्चितं समुदितं मिलितम्। वेद = मन्यते, मुक्तिसाधनम् इति शेषः।

अत्र च शब्दो द्विधा प्रयुक्तः, न मोक्षाय क्षमते केवलमात्मदर्शनमिति प्रथम 'च' शब्दार्थः। भगवदुपासनाऽपि केवला क्रमते नाऽपवर्गायेति द्वितीय-'च' शब्दार्थः।

स = साधकः। अविद्यया = भगवदुपासनया। मृत्युम् = तत्साधनं मायाख्यं समष्टिबन्धनम्। तीर्त्वा = अतिक्रम्य अपसार्य। विद्यया = ज्ञानेन व्यष्टिबंधनं

विद्याख्यं निवर्त्य। अमृतम् = अविनाशि ब्रह्मस्वरूपम्। अश्नुते = प्राप्नोति मुच्यते इत्यर्थः।

अयं भावः— समष्टिव्यष्टिभेदेन द्विविधो बन्धो मायाऽविद्याभिधानस्तत्र भक्त्या मायाबन्धो अपसरति ज्ञानेन च अविद्या निवर्तते ततश्च निष्प्रत्यूहं साधकः स्वरूपं सच्चिदानन्दैकरसं समासादयति—इति।

जो पुरुष ज्ञान और भगवद् उपासना दोनों को एक साथ मुक्ति का साधन मानता है, वह साधक भक्ति से मृत्यु-साधन समष्टि-बन्धन माया को हटाकर ज्ञान से अविद्या के नाश द्वारा स्वस्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है।

बन्धन दो प्रकार का है—समष्टि और व्यष्टि। इन्हें ही क्रमशः माया और अविद्या कहते हैं। उनमें माया बन्धन का भक्ति से अपसरण होता है, और ज्ञान से अविद्या का नाश हो जाता है। फिर साधक निष्कटक हो तत्क्षण मुक्ति-माता की गोद में उपविष्ट हो जाता है। जब तक दोनों में से एक भी बन्धन शेष रहेगा तब तक मुक्ति की प्राप्ति कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है।

इस मन्त्र में 'च' शब्द द्विधा प्रयुक्त है। प्रथम 'च' शब्द का अर्थ है कि केवल ज्ञान मोक्ष-सम्पादन में समर्थ नहीं। द्वितीय 'च' शब्द से ध्वनित हुआ कि केवल भगवदुपासना से भी अपवर्ग प्राप्ति शक्य नहीं।

अविद्या शब्द का अर्थ भगवदुपासना कैसे?

उत्तर—'अ' शब्द का अर्थ भगवान् वासुदेव विष्णु है। इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं। अतएव 'अस्यापत्यम्' विष्णु की सन्तान—इस अर्थ में विष्णु-वाचक 'अ-शब्द' से 'इञ्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न 'इ' शब्द 'काम' अर्थ में तथा 'अस्य स्त्री' विष्णु की पत्नी इस अर्थ में विष्णु वाचक 'अ' शब्द से 'ङीष्' प्रत्यय होनेपर निष्पन्न 'ई' शब्द लक्ष्मी अर्थ में यत्र तत्र प्रयुक्त है। इसी तरह 'अस्य विद्या' विष्णु की उपासना—इस अर्थ में विष्णु-वाचक 'अ' शब्द के साथ उपासना वाचक विद्या शब्द का षष्ठी समास होकर बने हुए 'अविद्या' शब्द का विष्णु-उपासना या भगवदुपासना अर्थ में प्रयोग होने से किसी प्रकार की बाधा नहीं। अतः अविद्या शब्द के भगवदुपासना अर्थ होने में किसी प्रकार का संशय सर्वथा निराधार है।

शंका—'योगाद्रूढिर्बलीयसी' योगशक्ति की तुलना में रूढ़िशक्ति प्रबल होती है, इस शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार रूढ़ि अर्थ का त्याग करना अनुचित है ?

उत्तर—इस मन्त्र में वृत्तिकार भर्तृप्रपञ्च तथा भाष्यकार भगवत्पाद शंकराचार्य अविद्या शब्द का अर्थ कर्म मानते हैं। वह रूढ़ि अर्थ के त्याग पर निर्भर है। बिना रूढ़ि की उपेक्षा किये अविद्या शब्द का कर्म अर्थ सम्भव ही नहीं। कहीं कहीं श्रुति-वाक्य में रूढ़ि अर्थ की उपेक्षा प्राचीन आचार्योंकी शैली है। उसका अनुगमन त्याज्य नहीं, अपितु ग्राह्य है। निन्दनीय नहीं, किन्तु प्रशंसनीय है।

भगवान् व्यासने भी वेदान्त-दर्शन १–१–२२ 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस सूत्र में रूढ़ि-विरुद्ध लिङ्ग के अनुरोध से आकाश-रूढ्यर्थ भूताकाश की उपेक्षा की और 'आ समन्तात् काशते प्रकाशते' इस योग-शक्ति के अनुसार आकाश शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' स्वीकार किया है। यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि जिस स्थल में पूर्वोत्तर वाक्यों के अर्थ के विरुद्ध रूढ़ि अर्थ प्रतीत हो—वहां उसकी उपेक्षा कर योगार्थ ही आदरणीय होता है।

शंका—वृत्तिकार भर्तृप्रपञ्च और भाष्यकार भगवत्पाद शंकराचार्य ने उक्त मंत्र में अविद्या शब्द का अर्थ कर्म, लक्षणा से माना है; क्योंकि कारणवाचि-शब्द का कार्य में और कार्यवाचि शब्द का कारणमें लक्षणा से प्रयुक्त होना विद्वत्सम्मत है। यथा "आयुर्वै घृतम्" इस वाक्य में कार्यवाची आयु शब्द का आयु-वर्द्धक कारण में और 'अन्नं वै प्राणाः' इस उक्ति में कारणवाचि-शब्द का अन्न-कार्य—तत्साध्य जीवन में लक्षणा से प्रयोग दृष्टि गोचर होता है।

उत्तर—यदि उपर्युक्त नियमके अनुसार अज्ञानवाची अविद्या शब्दका अज्ञान-कार्य कर्म में लक्षणा से प्रयोग वृत्तिकार तथा भाष्यकार मानते हैं, तो कर्म की तरह उपासना को भी अज्ञान का कार्य होनेसे अविद्या शब्द का लक्षणा से प्रयोग होने में क्या आपत्ति है ?

पाठक को उपर्युक्त चान्द्रभाष्य-सहित मन्त्र के परिशीलन से भलीभान्ति यह ज्ञात हो ही गया कि भक्ति ज्ञान समुच्चय सिद्धान्त सर्वथा युक्ति-संगत है। क्योंकि एक पक्ष के प्रबल दो योद्धाओं के साथ द्वन्द्व-युद्ध के लिये दूसरे पक्ष के दो योद्धाओं का होना अनिवार्य है।

महाभारत में पाण्डव-पक्ष के द्रुपद और अर्जुन दो योद्धाओं के साथ कौरव पक्ष के द्रोणाचार्य और कर्ण दो प्रतिस्पर्धी योद्धाओं का द्वंद्व-युद्ध स्पष्ट वर्णित है।

ठीक इसी तरह जब व्यवहार-पक्ष के समष्टि-व्यष्टि बन्धन दो योद्धा हैं, तो उनके साथ द्वंद्व-युद्ध में लोहा लेने के लिये परमार्थ-पक्ष के दो योद्धा अवश्य मानने होंगे। परमार्थ-पक्ष के ज्ञान और भगवदाराधन दो योद्धाओं का वर्णन उपर्युक्त मन्त्र में स्पष्ट हो चुका।

अब उनके प्रतिस्पर्धी जो व्यवहार-पक्ष के दो योद्धा दो प्रकार के बन्धन हैं—उनका स्फुट परिचय प्राप्त करने के लिये प्रश्नोपनिषत्, प्रथम प्रश्न, मन्त्र १६ के अवलोकन का पाठक कष्ट उठावें—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतम् न माया चेति ॥

(प्रश्नोपनिषत्, प्रथम प्रश्न, मन्त्र १६)

चान्द्रभाष्यम्—येषु = आत्मदर्शिभगवदाराधकेषु। जिह्मम् = कुटिलं विपरीतप्रत्ययोत्पादकम्। अनृतम् = ऋतं सत्यं ब्रह्म तद्विरोधि तत्स्वरूपाच्छादकमज्ञानम्। "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" (छा० ८–३–२) इत्यत्राऽनृतशब्दस्याऽज्ञानार्थे प्रयोगदर्शनात्। न = नैव वर्तते इति शेषः। ज्ञानेन तस्य निवृत्तेः। न माया च = चोऽप्यर्थः, मायाऽपि न वर्तते भगवदाराधनेन तदपसरणात्। तेषाम् = ज्ञानभगवदाराधनाभ्यां निवर्त्याज्ञानमायाख्यव्यष्टिसमष्टिबन्धनानाम्। असौ = प्राकृतजनाऽप्रत्यक्षः शास्त्रप्रसिद्धो वा, विरजः = विशुद्धः। ब्रह्मलोकः = स्वात्मभूतं स्वप्रकाशनित्यानन्दघनैकरसब्रह्मस्वरूपं लभ्यते इति शेषः।

जिन आत्मदर्शी भगवदाराधकों में ब्रह्मस्वरूपाच्छादक विपरीत बुद्धि का कारण अनृत अज्ञान नहीं है। कारण—भगवदाराधन से माया हट चुकी है।

अनृत शब्द का अर्थ अज्ञान—छांदोग्य-श्रुति-सम्मत है—

इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥

(छा० अ० ८, ख० ३, मं० २)

इस वाक्य में अनृत शब्द सत्य-स्वरूपाच्छादक अज्ञानार्थ में प्रयुक्त हुआ है।

वाक्यार्थ निम्न प्रकार है—

प्रतिदिन सभी प्राणी स्वप्रकाश ब्रह्म-धाम में जानेपर भी ब्रह्म को प्राप्त नहीं करते। कारण, वे अनृत—अज्ञान द्वारा ब्रह्म-स्वरूप से बहिष्कृत हैं, अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप अज्ञान से आवृत है।

अद्वैताचार्य-मूर्धन्य, विद्वद्वरेण्य श्रद्धाधन मधुसूदन मुनि भी अद्वैतसिद्धि में उक्त श्रुति-स्थित अनृत शब्द का अर्थ अज्ञान ही मानते हैं।

विशेष विस्तार अस्मदीय कृति "भक्तिज्ञान-समुच्चय-चन्द्रिका" में द्रष्टव्य है।

श्रौतवंशसमुद्भूतः श्रौतमार्गप्रवर्तकः।
भक्तिविरक्तिसमुच्चेता श्रीचन्द्रः पातु नो गुरुः॥

(गीताजयन्ती सेमिनार—२३-११-१९६०)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ वेददर्शनाचार्य
महामण्डलेश्वर श्री १०८

स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज
उदासीन

द्वारा

अहमदाबाद

में किए गए

प्रवचन

मङ्गलाचरण

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥

गोपालबालं भुवनैकपालं संसारमायामतिमोहजालम् ।
यशोविशालं शिशुपालकालं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि ॥

वेदं सवेदं ह्यवगत्य सारं संसारखेदं यततेऽपनेतुम् ।
कामादिजेतुं क्षमते च येन प्रख्यातकीर्तिं भुवि तं प्रपद्ये ॥

श्रीचन्द्रदेवं शिवमद्वितीयं भस्मावलिप्तं शशिशुभ्रवर्णम् ।
पद्मासनस्थं सुखदं मुनीन्द्रं वाक्कायचित्तैः सततं भजेऽहम् ॥

कृष्ण ! त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते अद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः ।
प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ॥

मनोभूमौ जाता प्रकृतिचपलायां विधिवशात्,
प्रभो सा संवर्ध्या प्रचुरगुणपुष्पप्रसविनी ।
तथा संसेक्तव्या स्मरणसलिलेनानुदिवसम्,
यथा नेयं ग्लानिं व्रजतु मधुरा प्रेमलतिका ॥

१

प्रेम—मानव का परम कर्तव्य क्यों ?

(४-८-१९३८)

सज्जनो ! आज एकादशी का व्रत है, उस पर भी मलमास (पुरुषोत्तम मास)। क्यों न हम ऐसे शुभ अवसर पर प्रभु के प्रेम का प्याला पीएं ? प्रभु-प्रेम से रहित व्यक्ति मानो अपने चिन्तामणि रूपी शरीर को काच के भाव बेच रहा है। इससे बढ़कर उसकी और क्या हतभाग्यता हो सकती है ? मानव शरीर मिलने पर भी वह उस अमूल्य जीवन को पशु पक्षियों की भान्ति व्यर्थ में ही खो देता है। यह तो अपने हाथों अपने गले पर छुरी चलाने के सदृश ही हुआ। सृष्टि-कर्ता ने इस भूतल पर विविध प्रकार के जीवों को उत्पन्न किया—उनमें से प्रतिदिन हज़ारों मरते हैं हज़ारों उत्पन्न होते हैं। परन्तु उनका कोई महत्त्व नहीं। महत्त्वशाली तो मानव जीवन है। ब्रह्मा को भी मानव की सृष्टि रचने पर ही परम प्रसन्नता हुई थी। जैसा कि भागवत में कहा है—

> सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या,
> वृक्षान् सरीसृपपशून् खग-मत्स्य-दंशान्।
> तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय,
> ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ (भा० ११,९,२८)

ब्रह्मा ने संसार की रचना करते समय बहुत कुछ रच डाला। उसने वृक्ष, रेंगकर चलने वाले प्राणी, पशु, पक्षी, मत्स्य तथा दांत से काट खाने वाले प्राणियों को बनाया। फिर भी उसके मन में सन्तोष नहीं हुआ। फिर उसने अपने समग्र कला-कौशल से मानव की सृष्टि की। उसे देखकर ब्रह्मा जी को बहुत प्रसन्नता हुई क्योकि यह मानव अपने हृदय में विराजमान प्रभु के प्रेम का पात्र बनेगा–प्रभुप्रेम में सरावोर होगा तथा अपने स्वरूप को समझ सकेगा।

मानव यदि ऐसा उच्च जन्म लेकर भी प्रभु–प्रेम-धारा में नहीं बहा तो वह

मानव कहलाने का अधिकारी ही नहीं रहा। उसे तो पशु कह देना ही युक्ति-संगत होगा। वह केवल मनुष्य का आकार धारण करने वाला पृथ्वी का भारभूत ही समझा जायगा। इस लिए मानवजीवन प्राप्त कर उसका मुख्य कर्तव्य यही है कि वह प्रभुप्रेम में ही मग्न हो। शेष कार्य तो प्रभुप्रेम का पात्र बनने पर स्वयमेव सम्पन्न होते जाएंगे।

प्रायः सभी का यह अभियोग है कि मन बहुत चञ्चल है। टिकता ही नहीं, तो फिर प्रभुचरणों में भक्ति कैसे हो सकेगी। मन तो कभी एकाग्र होता ही नहीं। मन की चंचलता ही हमें डांवाडोल बनाए रखती है। सज्जनो ! जब प्रेम-रूपी बाज की झपट आपके पक्षी-रूपी मन पर पड़ेगी तब मन की सब चञ्चलता कपूर बन कर उड़ जाएगी। कबूतर आदि पक्षी आकाश में मण्डराते हुए बाज के देखने मात्र से ही अपने अपने स्थानों में सहम कर बैठ जाते हैं; मानों वे चित्र में चित्रित हैं। ठीक ऐसी ही आपके पक्षी रूपी मन की अवस्था हो जायगी। कबीर साहिब ने क्या ही सुन्दर कहा है—

मन-पँछी तब लगि उड़ै, विषय-वासना माँहि ।
प्रेम-बाज की झपट में, जब लगि आयो नाँहि ॥

प्रेम—बाज की झपट में आते ही समझो आप का कायाकल्प होगया। यहाँ पर एक विशेष विचित्रता ध्यान देने योग्य है। बाज पक्षी पर झपट कर उसके प्राण ले लेता है। परन्तु प्रेम का बाज उसे मारता नहीं, केवल उसका काया-कल्प कर देता है। एक ही झपट में कौए को हंस बना देता है। सुनिए, कबीर साहिब क्या कहते हैं—

पहले यह मन काग था करता जीवन घात।
अब तो मन हँसा भया मोती चुग चुग खात ॥

कौआ छोटे छोटे जीवजन्तुओं को मार कर ही जीवन—यापन करता है। परंतु हँस कभी किसी जीव के प्राण नहीं लेता, वह तो मोती चुग चुग कर ही अपना जीवन व्यतीत करता है।

हमारा मन भी कौआ बना हुआ इधर उधर की वासनाओं में फँस कर सांसारिक पदार्थों के पीछे दौड़ता रहता है। यह मन कभी विषयोपभोग को ही

अपनी शान्तिका कारण समझ बैठता है। कभी धनप्राप्ति को, तो कभी स्वादिष्ट भोजनों को। वह कभी कभी अनाथ और दीनदुःखियों के पसीने की कमाईसे अपनी जठराग्नि की ज्वाला शान्त करना चाहता है। कभी दीन–हीन–प्रभु–भक्तों की अवहेलना में ही शान्ति मान बैठता है। परन्तु इनमें भटकता हुआ भी वह कौए की भांति मन की चंचलता में फँसा ही रहता है। इसी लिए वह परमसुख का अधिकारी भी नहीं होने पाता। किन्तु जब किसी प्रकार प्रेम-बाज की झपट लग जाती है तो हँस बनते देर नहीं लगती। हंस जैसा उज्ज्वल चरित्र धारण कर मोती ही चुग चुग कर खाता है। प्रभु प्रेम के प्याले का आस्वाद लेने लगता है। ब्रह्म-समाधि में अखण्ड आनन्द का ही अनुभव करता है।

भक्त के हृदय में प्रेमभाव का उदय हो जाने पर उसका कुत्सित मनोराज्य ही पलट जाता है। उस समय प्रभु-भक्त को यह अनुभूति होने लगती है कि उसका बहुमूल्य जीवन क्षणभङ्गुर पदार्थों के उपभोग के लिए ही नहीं है। पुत्र, पौत्र तथा पत्नी आदि के झँझट में फँसना ही उसका ध्येय नहीं है। प्रेम की यही तो विचित्रता है कि प्रभु-भक्त अपने जीवन को प्रभु-चरणों में ही न्योछावर कर डालता है। सच्चिदानन्द स्वस्वरूप का अनुभव करने लगता है। जो प्रभु-भक्त अब तक अपने आप को प्रभु का सेवक समझता रहा अब वह अपनी भक्ति के प्रभाव से प्रभु को ही अपना सेवक बना लेता है। देखी आपने प्रेम की विचित्रता? सेवक स्वामी बन गया और स्वामी सेवक बन गया। यह सब प्रेम का ही तो प्रभाव है। यह क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रेम की पराकाष्ठा पर ही निर्भर करता है। ऐसे प्रेम की पराकाष्ठा को प्राप्त भक्त ही प्रभु को अपना दास बना सकते हैं। ऐसे भक्तों के वश में पड़कर प्रभु को उनके यहाँ पुत्र रूप में भी प्रकट होना पड़ता है। उदाहरण ढूँढने के लिए दूर जाने की आवश्यकता नहीं। आप यशोदा के प्रेम से ही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। उस प्रेममयी यशोदा के विषय में ऐसा कहा गया है—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे! कति कति सुकृत–क्षेत्र–वृन्दानि पूर्वम्,
गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादम्,
तत्पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोड़मारोढुकामः॥

भक्त कहता है हे यशोदे! किन शब्दों में तुम्हारे भाग्य की प्रशंसा करें। अकेली तुमने ही न जाने कितने पुण्यक्षेत्रों में जा जाकर किन किन विधि विधानों द्वारा क्या क्या पुण्य कर्म किए हैं। अयि यशोदे! जिसके कृपाकटाक्ष को इन्द्र, ब्रह्मा तथा शंकर में से कोई भी प्राप्त नहीं कर सका—वही पूर्ण ब्रह्म (श्रीकृष्ण) तेरी गोद में चढ़ने के लिए रोता हुआ पृथ्वी पर लोट रहा है।

यही तो है प्रेम का महत्त्व। इसी सच्चे प्रेम रूपी रज्जु से भक्त भगवान् को जकड़ लेता है। वैसे संसार की कोई भी शक्ति उन्हें बांधने में असमर्थ है। क्योंकि वे तो सदामुक्त हैं। भगवान् ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा है—"सदामुक्तोऽपि बद्धोऽस्मि भक्तेषु स्नेहरज्जुभिः।" यशोदा ने भी इसी स्नेह-रज्जु से उस भगवान् को जकड़ लिया था। प्रेम के क्षेत्र में माताओं के लिए यशोदा एक आदर्शस्वरूपा नारी है।

यहाँ कुछ लोग यह शंका उठाते हैं कि देवकी को यशोदा जितना ऊँचा स्थान क्यों नहीं दिया जाता। देवकी ने कृष्ण को नौ मास तक कुक्षि में धारण करके उत्पन्न किया। अतः जन्मदात्री माता का स्थान तो सर्वोच्च होना चाहिए। इस रहस्य को हम आप को एक उदाहरण द्वारा समझाते हैं। एक व्यक्ति वृक्ष का अंकुर लगाता है। माली उसकी पालना करता है। जब वह वृक्ष फलता है तो तीसरा ही व्यक्ति उसके फलो का आस्वाद लेता है। यहाँ सबसे अधिक लाभ में समझा जाएगा फलों का आस्वाद लेने वाला व्यक्ति। वृक्ष लगाने का उद्देश्य तो उसी तीसरे व्यक्ति के लिए सम्पन्न हुआ। उसी ने फल खाने का आनन्द लूटा। ठीक यही बात यहाँ पर भी है इसी लिए कहा गया है—

मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकामभुवि भुञ्जते गोप्यः॥

शुकदेवजी परम ज्ञानी थे, जीवन्मुक्त थे। उनकी दृष्टि में स्त्री-पुरुष का भेदभाव ही नहीं था। एक समय शुकदेवजी घर छोड़ कर जंगल की ओर चल पड़े। उन्हें वापिस लौटाने के लिए उनके पिता व्यासजी उनके पीछे पीछे चल पड़े। मार्ग में नदी के किनारे कुछ स्त्रियां स्नान कर रही थीं। वे शुकदेवजी से न लजाकर ज्यों की त्यों स्नान करती रही। ज्योही व्यासदेवजी वहाँ से

निकलने लगे तो उन्होंनें लजा कर वस्त्र धारण कर लिए। इसे देख व्यासदेवजी को बहुत आश्चर्य हुआ। वे सोचने लगे। मेरे नौजवान पुत्र को देखकर इन्होंने वस्त्र नहीं धारण किया परन्तु मुझे देखकर झट से वस्त्र पहन लिए। इसका क्या कारण है। वे अपनी इस जिज्ञासा को रोक न सके और स्त्रियों के पास जाकर इस का कारण पूछ ही डाला। स्त्रियों ने उत्तर दिया—हे ऋषिप्रवर! शुकदेवजी यद्यपि युवक हैं पर हैं उच्च कोटि के तत्त्वज्ञानी। वे उस परमतत्त्व ब्रह्म के ध्यान में इतने मग्न हैं कि उन्हें स्त्री-पुरुष के भेदभाव का ध्यान ही नहीं रह गया। उन्हें यह भी पता नहीं कि हम यहाँ स्नान कर रही हैं। आप में अभी स्त्री-पुरुष की भेदभावना विद्यमान है। इसी लिए हमने आप से लजाकर वस्त्र धारण किया।

हाँ, तो सारांश यह हुआ कि ऐसे शुकदेव जैसे परम ज्ञानी योगी भी जिसकी खोज में दिन रात घूमा करते हैं—उसीको देवकी ने उत्पन्न किया। उसीको यशोदा ने पालपोस कर बड़ा किया। उसी पालेपोसे फल का उपभोग किया गोपियों ने। उन्होंने उस परम-तत्त्व के चरणों में रहकर निष्काम प्रेम तथा भक्ति द्वारा परम आनन्द का अनुभव किया। इसी लिए देवकी से अधिक आदरणीया यशोदा तथा यशोदा से भी अधिक आदरणीया हुई गोपियाँ। प्रेम की न्यूनता तथा अधिकता के अनुसार परम प्रभु प्रेम-रज्जु में बँधते गए। यह सब प्रेम की ही विशेषता है।

कहाँ तक वर्णन करें—इस प्रेमरूपी बाज की झपट में कौन नहीं आया? मधुसूदन स्वामी अद्वैतवाद के प्रधान आचार्य थे। उन्होंने "अद्वैतसिद्धि" नामक अद्वैतवाद के उच्च कोटि के ग्रन्थरत्न की रचना की। इस ग्रन्थ में सभी शंकाओं का समाधान मिल जाता है। गीता के टीकाकारों में भी मधुसूदन स्वामी का प्रतिष्ठित स्थान माना जाता है। वे अद्वैत जगत् के देदीप्यमान मार्तंड थे। वे भी प्रेम की झपट में आकर कहने लगे—

अद्वैत-वीथी-पथिकैरुपास्याः स्वानन्द-सिंहासन-लब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

वे कहते हैं कि—जो अद्वैतवाद के कट्टर समर्थक हैं, जो अद्वैत-वेदान्त को ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं—वे भी मेरी पूजा करते हैं। यह बात भी नहीं कि

मैं दूसरों द्वारा की गई प्रतिष्ठा से ही प्रतिष्ठित हूं, परन्तु मैं स्वयं भी वेदान्त के आनन्दरूपी सिंहासन से दीक्षा प्राप्त कर चुका हूँ। एक शठ ऐसा आया कि उसने बलात् मुझे अपना दास बना लिया। चलो, दास बनने में तो कोई हानि नहीं परन्तु चिन्ता इस बात की है कि हम अच्छे भलेमानस के दास नहीं बने। हमें दास बनानेवाला वह शठ तो गोपियों का धूर्त प्रेमी निकला। यहां मधुसूदन स्वामी प्रेम प्रवाह में इतने बह गए कि वे प्रभु से उपहास करने में भी नहीं चूकते।

यही तो प्रेम की वास्तविक निशानी है कि प्रेम की पराकाष्ठा द्वारा प्रभु को अपना सखा बना ले। हम मित्र से हँसी मज़ाक में बहुत कुछ कह देते हैं। प्रभु को सखा बना कर भक्त भी उससे हँसी कर सकता है। प्रभु के साथ प्रेम-भाव प्रकट करने के चार मार्ग हैं—१ दास्यभाव, २ सख्यभाव, ३ वात्सल्य भाव तथा ४ मधुर भाव।

दास्यभाव में अपने आपको सेवक तथा प्रभु को स्वामी मान कर प्रभु से प्रेम किया जाता है। इस दास्यभाव के उदाहरण हम हैं ही। जिसमें प्रभु को अपना सखा माना जाता है वह है सख्यभाव। भक्त इतनी आत्मीयता उत्पन्न करें जिससे बाध्य होकर प्रभु उसे अपना सखा मानने लग जाएं। इस भाव को व्यक्त करने वाले हैं अर्जुन, श्रीदामा तथा सुदामा आदि। वात्सल्य-भाव में भक्त प्रभु को अपना पुत्र मान कर स्वयं मातापिता बन बैठता है। इसका उदाहरण हुई यशोदा। मधुर भाव की जीती जागती मूर्तियां हैं गोपियाँ। प्रेम के इन चार भावों में से आपको सख्यभाव का थोड़ासा दिग्दर्शन कराते हैं—

एक दिन श्रीकृष्ण तथा श्रीदामा आदि एक खेल खेल रहे थे। इस खेल में एक लड़का आगे भागता है। दूसरा उसे हाथ या गले से पकड़ने का प्रयास करता हुआ उसके पीछे दौड़ता है। पहला इस पकड़ से बचने के लिए दूसरे की छाती में दोनों हाथो से थप्पड़ मारता हुआ भागता जाता है। जब दूसरा लड़का पहले को गले या हाथ से पकड़ कर रोक लेता है तो वह विजयी घोषित किया जाता है। श्रीदामा कृष्ण को हाथ से पकड़ने के लिए दौड़ा। परंतु श्रीकृष्ण कभी पश्चिम कभी दक्षिण दिशा में भाग जाते। उनमें से किसी के भी हाथ न आसके। अन्त में श्रीदामा हार कर हँसी रूप में श्रीकृष्ण से कहने लगा—

यतस्त्व श्रीकृष्ण ! स्वदिशि पतितानां धृतिविधौ,
त्वमङ्ग ! क्रीडायां विगुणदिशि यानं परिहर ।
गलग्राही त्याज्यस्तव च परिहार्यः करधरः,
बली वा क्षीणो वा न परिहरणीयो धृतपदः ॥

हे प्रभो ! आपको उचित तो यह था कि जो आपकी ओर बढ़े उसे आप उठाकर प्रेमपूर्वक आलिंगन करें। आप तो उलटे ही चल रहे हैं। अपने नियम को तोड़ कर इधर उधर भाग रहे हैं। प्रभो ! जो भक्त आप के गले को पकड़ता हो, अथवा जो भक्त एक दो माला फेर कर झट आपके ऊपर टैक्स लगा देता हो, प्रभो ! मुझे पुत्र दे दो, मुझे धन दे दो—आदि—ऐसे भक्त का तो त्याग करना उचित ही है। क्योंकि आप हैं निष्काम—आपके पास जो निष्काम बन कर आयगा उसीका आप सम्मान करेंगे। साधारणतया लोग अपने समान स्तर-वाले की ही प्रतिष्ठा करते हैं। आपके पास हमारा आना किसी कामना से तो है नहीं। भगवन् ! जो आपके चरणों को पकड़ना चाहे उसका त्याग तो आप को कभी भी नहीं करना चाहिए। चाहे वह बलवान् हो चाहे निर्बल हो।

श्लोक के 'बली' पद से यह भी अर्थ ध्वनित होता है कि हे कृष्ण ! तुम तो बलवान् के ही वश में आते हो। जब पाताल लोक में बली राजा ने आपके चरण पकड़ लिए थे, तब आप कुछ भी चूँ-चाँ नहीं कर सके थे। यदि ब्रह्मादिक आप के सहायक न होते तो सम्भवतः आपको बली का आयुभर पहरेदार ही बनना पड़ता।

श्रीदामा की इस उक्ति को सुन श्रीकृष्ण उत्तर में कहते हैं—

शंका चेयं भवति विपुला बाधकात्ते सुदामन्,
धार्यः पादः कथमपि न मे केनचिद्वा कदापि ।
धर्तुं कश्चित्त्वभिलषति चेत्पादयुग्मं मदीयम्,
स्वीयक्रोड़े तमिह कुरुते भुक्तिमाता तदानीम् ॥

हे श्रीदामन् ! तुमने जो कुछ कहा वह एकदम मिथ्या है। तुमने कहा कि जो आपके पैर पकड़ने दौड़ता है उस की आप उपेक्षा करते हैं। परन्तु मैं तो

दावे के साथ यह कह सकता हूँ कि मेरा पॉव आज तक किसीने पकड़ा ही नहीं। यदि किसी ने मेरा पाँव पकड़ा होता तब तो तुम्हारा अभियोग ठीक था। मेरे पैर पकडने की बात तो दूर रही, मेरे पाँव को पकड़ने की इच्छा मात्र करने वाले को मेरी पत्नी तथा उसकी माता मुक्ति तत्काल अपनी गोद में धारण कर लेती है। भगवान् के कहने का आकूत यहाँ पर यह है कि भक्त मेरे पास पहुँचने पर ही मेरे पॉव पकड़ सकेगा; परन्तु मेरे पास तो वह आने ही नही पाता। मैं पहले ही उसे मुक्त कर देता हूॅ।

श्रीदामा भी अब विना उत्तर दिए न रह सका—बोला—

सत्यं सत्यं भवतु भवतो भाषितं भक्तिलभ्य !
सा नाऽस्माकं भवति जननी मुक्तिमाता विमाता।
भक्त्या मातुर्हरिचरणदाद् गर्जनाद् भीतभीता,
वृन्दारण्ये विचरणविधौ साऽसमर्था सदैव॥

हे श्रीकृष्ण ! वैसे तो आपका कथन सोलह आने सत्य है। परन्तु आपका यह कहना कि आपकी पत्नी मुक्ति आपके चरणों की ओर बढ़ने वाले को तत्काल अपनी गोद में ले लेती है—उचित प्रतीत नहीं होता। मुक्ति और भक्ति आपकी दो पत्नियाँ हैं। इस नाते से मुक्ति हमारी माता तो हो सकती है परन्तु जन्म देने वाली नहीं। कुक्षि से पैदा करने वाली तो भक्तिमाता ही है। मुक्ति हमारी माता भक्ति की सपत्नी है और हमारी लगी सौतेली माँ। जब तक हमारी माता भक्ति को पता नहीं चला तब तक हमारी सौतेली माँ मुक्ति ध्रुव-प्रह्लाद आदि हमारे अनेक भाइयों को कवलित करती रही। जब इस तथ्य का पता चला हमारी माता भक्ति को तो हरिचरणों तक पहुँचाने वाली उसने ऐसी गर्जना की जिसके डर के मारे हमारी सौतेली माँ वृन्दावन छोड़कर न मालूम कहाँ भाग गई ?

२

देश की स्वतन्त्रता में उपस्थित बाधाएं

(६-८-१९३८)

सज्जनो! भगवान् श्रीकृष्ण का अद्भुत एवं अलौकिक चरित आपको सुनाया जा रहा है। श्रीकृष्ण के इन चरित्रों से हम अनेक प्रकार की व्यवहारोपयोगी शिक्षाएं ग्रहण कर सकते हैं। हमारे दृष्टिकोण के अनुसार ही भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्रों का विस्तार होता चला जाएगा। हम श्रीकृष्ण-चरित्र द्वारा उसमें से आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों की खोज कर सकते हैं। इसे हम ऐसे भी समझ सकते हैं कि सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण का सद्भाव—दिव्य विराट् आधिभौतिक स्वरूप है, चिद्भाव—आध्यात्मिक है तथा आनन्दभाव है आधिदैविक। इस पूर्ण चरित्र के समझने में पूर्णभक्त ही समर्थ हो सकता है। वनस्पतिशास्त्र का विद्वान् ही वृक्षलता आदि के गुणों को जानने में समर्थ हो सकता है। वनस्पति शास्त्र से अनभिज्ञ हम उनके गुणों को नहीं जान सकते। हम सहदेवी बूटी को ज्यों ही साधारण घासफूस समझते हैं परन्तु एक जानकार वैद्य उसे पहिचान कर झट से कह देगा—

सहदेवी शिरोबद्धा ज्वरं वै हन्ति तत्क्षणम् ॥

ज्वराक्रान्त व्यक्ति यदि सहदेवी बूटी को सिर पर बान्ध लेता है तो उसका ज्वर तत्काल ही कपूर की भान्ति उड़ जाता है। परन्तु हम साधारण व्यक्ति इन बातों से अनभिज्ञ होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण के चरित्र को समझने के लिए भी पूर्ण भक्त होना आवश्यक है। शास्त्रों का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करने वाला ही इन रहस्यों को समझ सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से कृष्ण एक पराक्रमी राजा समझा जाता है। यह भाव आधिभौतिक है। परन्तु भक्तलोग उनके दिव्य तथा अलौकिक कर्तव्यों से आधिदैविक अर्थ निकालते हैं। वेदान्ती लोग इनसे ब्रह्मविद्या तथा

इसकी प्राप्ति के साधनों का पता लगा लेते हैं। यह भाव आध्यात्मिक कहलाता है। आध्यात्मिक तत्त्व उसे कहा जाता है जिसका सम्बन्ध मन, बुद्धि, प्राण तथा आत्मा से हो। आज आपको श्रीकृष्ण के चरित्र के आधिभौतिक अथवा स्थूल अंश को समझाएंगे। शेष दो अंशों को बाद में। इसी आधिभौतिक चरित्र से हमें बहुत ही महत्त्वपूर्ण शिक्षाएं मिलती हैं। भगवान् की गोवर्धन-धारण लीला से वर्तमानकालीन राष्ट्रों ने क्या गवेषणा की और इसका अनुसरण करते हुए उन्होंने कहां तक उन्नति की—यह भाव आज आपको सुनाएंगे—

ब्रज-वासी प्रतिवर्ष "ऐन्द्र-यज्ञ" किया करते थे। इसमें इन्द्र देवता की पूजा की जाती थी। श्रीकृष्ण ने ब्रजवासियों से कहा कि तुम इन्द्र की पूजा करना छोड़ कर गोवर्धन की पूजा किया करो। ब्रजवासियों में ऐसा साहस नहीं था कि कृष्ण की आज्ञा का उल्लंघन करें। कृष्ण के प्रेम ने उन्हें वशीभूत कर रखा था। समग्र ब्रज-जनता का प्रेमप्रवाह कृष्ण की ओर ही बहता था। श्रीकृष्ण के संकेत पर ब्रजवासी प्राणों की बाजी लगाने को भी सन्नद्ध रहते थे। प्रेम की यही तो विचित्रता है कि प्रेमी, प्रेमपात्र तथा प्रेम कभी भिन्न रह ही नहीं सकते। इनका एक ही स्वरूप हो जाता है। ऊपर से भेद प्रतीत होने पर भी भीतर से होता है एकीकरण। ईश्वर तथा ईश्वर के प्रेमी में भेदभाव माना ही नहीं गया। इसी लिए किसी ने कहा है—

LOVE IS GOD, GOD IS LOVE.

प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। दूर रहते हुए भी प्रेमी तथा प्रेमपात्र के प्रेम में कोई अन्तर नहीं आपाता। किसी कवि ने क्या ही सुन्दर कहा है—

इन्दुः क्व क्वच सागरः क्वच रविः पद्माकरः क्व स्थितः,
क्वाभ्रं वा क्व मयूरपंक्तिरमला क्वालिः क्व वा मालती।
मन्दाध्व-क्रम-राजहंस-निचयः क्वासौ क्व वा मानसम्,
यो यस्याभिमतः स तस्य निकटे दूरेऽपि वा वल्लभः॥

कहाँ तो चन्द्रमा है, कहाँ समुद्र? अपने प्यारे पूर्ण चन्द्रमा को देखकर समुद्र मारे प्रसन्नता के अपनी लहरों-रूपी भुजाओं को फैलाकर उसे आलिङ्गन

करना चाहता है। कहाँ सूर्य और कहाँ कमलवन? प्रातःकाल अपने प्यारे सूर्य का दीदार करते ही कमलवन खिल उठता है। कहाँ बादल और कहाँ मयूरों की विमल पंक्ति? आकाश में स्थित अपने प्रियतम श्याम-घन को देखते ही केकारव से अपने प्राणप्रिय को विरहव्यथा का उपालम्भ देना प्रारम्भ कर देता है। कहाँ तो भ्रमर और कहाँ मालती लता? भ्रमर चाहे दूर भी गुँजार क्यों न करता हो और उसकी प्रिया मालती चाहे कहीं भी हो तो भी भ्रमर उसकी सौरभ से आकृष्ट हो ही जाता है। कहाँ तो मन्द-मन्द गमन करने वाले राजहंसों का झुण्ड और कहाँ मानसरोवर? सच है जो जिसको चाहता है वह चाहे उसके पास रहे चाहे दूर, उसका प्रियतम ही है।

ठीक यही दशा थी कृष्ण और व्रजवासियों के प्रेम की। कृष्ण को मूर्तिमान् प्रेम समझ कर वे उसकी ओर बहुत ही आकृष्ट रहते थे। हाँ तो कृष्ण के कहने से व्रजवासियों ने इन्द्र-यज्ञ करना बन्द कर दिया। उन सभी ने मिलकर गोवर्धन की पूजा की। प्रतिवर्ष किए जानेवाले इन्द्र-यज्ञ के बन्द होने से इन्द्र बहुत क्रुद्ध हुआ। उसने व्रज तथा व्रजवासियों के नाश के लिए प्रलयङ्कर मेघों को आदेश दिया। कई दिन तक अनवरत मूसलाधार वृष्टि होती रही। इस प्रलयकारी दृश्य से व्रजवासियों का हृदय काँप उठा। वे कृष्ण की शरण में गए। कृष्ण ने उनकी रक्षा के लिए गोवर्धन पर्वत को उठाया और सात दिन तक अपनी अङ्गुली पर धारण किये रखा।

इस आधिदैविक कथा से एक विचित्र तथा रहस्यपूर्ण आधिभौतिक अर्थ का संकेत मिलता है। इन्द्र का अर्थ यहाँ पर 'राजा' है। क्योंकि इन्द्र का अर्थ होता है ऐश्वर्यशाली। ऐश्वर्यशाली राजा ही होते हैं। 'नरेन्द्र' आदि शब्दों में इन्द्र शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—नरों = मनुष्यों में इन्द्र = ऐश्वर्यशाली, अर्थात् उनका राजा। उस समय मथुरा प्रदेश का इन्द्र-राजा कंस था। यज्ञ का अर्थ हुआ भेंट अर्थात् कर। तो अब 'इन्द्रयाग' का अर्थ हुआ 'राजा को दिया जाने वाला कर'। व्रजवासियों द्वारा इन्द्रयज्ञ बन्द करने का तात्पर्य हुआ कि वे प्रतिवर्ष अपने राजा कंस को भेंट-पूजा के रूप में जो कर दिया करते थे, कृष्ण के कहने से उन्हों ने कंस को वह कर देना बन्द कर दिया। इस प्रकार कृष्ण की आज्ञा से व्रजवासियों ने "सविनय आज्ञा-भंग आन्दोलन" प्रारम्भ कर दिया। राजा कंस को भूमिकर आदि देना रोक

दिया। इस पर राजा कंस का क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही है। उसने अपने राजकर्मचारियों को आज्ञा दी कि व्रजवासियों के इस आन्दोलन का दमन करो। दमन करने के लिए राजकर्मचारियों ने व्रजवासियों पर अनेक प्रकार के अत्याचार प्रारम्भ किए। बस ये विविध प्रकार के अत्याचार ही बादल थे जो व्रजवासियों पर बरस पड़े। विपद्ग्रस्त व्यक्ति आजकल भी कह ही देते हैं कि 'आजकल हमारे ऊपर विपत्ति के बादल मँडरा रहे हैं'।

गोवर्धन का अर्थ है—व्रजराष्ट्र। 'गावो वर्धन्ते यत्र' इस व्युत्पत्ति से गोवर्धन का अर्थ हुआ—यहाँ हरा हरा घास खाकर गौएँ वृद्धि को प्राप्त हो। 'वन्दे मातरम्, शस्यश्यामलाम्' इस राष्ट्रीय गीत में भी इसी भाव की झलक प्रतीत होती है। अङ्गुलीपर धारण का तात्पर्य हुआ संकेत पर चलना। जब भारत राष्ट्र अपने प्राणप्रिय नेता महात्मा गान्धी के संकेत पर चलने लगा तो विदेशी शासक कह उठे "आजकल सारा भारत महात्मा जी की अङ्गुली पर नाच रहा है"। संघटित राष्ट्र का अपने नेता के संकेत पर चलना ही उसका अङ्गुली पर नाचना या धारण करना है। जैसे उष्ट्र-प्रधान देश का नाम अरब, अश्व-प्रधान देश का नाम गान्धार उसी प्रकार गो-प्रधान राष्ट्र का नाम है व्रज। गो-पोषक होने के कारण गोवर्धन शब्द व्रज का ही दूसरा पर्याय है। अतः संघटित व्रज प्रदेश का अपने नेता श्रीकृष्ण के संकेत पर कार्य करने लगना ही गोवर्धन का अङ्गुली पर धारण करना था। जब कोई राष्ट्र पूर्णतया संघटित होजाए तो फिर राष्ट्रविरोधी राजा के कर्मचारी वहाँ पॉव रखने का कभी भी साहस नहीं कर सकते। जब विरोधियो का यातायात ही राष्ट्र में रुक जाय तो फिर उनके अत्याचारों के बादल सहज में ही खण्डविखण्ड होकर छितरा जाते हैं। राष्ट्र के सुदृढ संगठन के समक्ष विरोधी राजसत्ता टिक ही नहीं सकती—बस यही गोवर्धन लीला का आधिभौतिक रहस्य है।

इसी प्रकार कुब्जा-समागम-लीला की आधिदैविक कथा में भी राष्ट्रीयता का आधिभौतिक भाव कूट कूट कर भरा है। कंस ने देखा कि अब व्रज में तो मेरी दाल गलेगी नहीं, क्यों न उनके साथ समझौते की बातचीत चलाई जाए। यह सोच कर कंस ने एक धनुर्याग का महोत्सव रचा। उसमें कृष्ण और बलराम को आमन्त्रित किया। अक्रूर जी को उन्हें लाने के लिए भेजा। साथ

में यह सन्देश भी भेजा कि कंस व्रजवासियों से सन्धि करना चहता है। बस फिर क्या था गान्धी–इरविन समझौने की भान्ति कृष्ण–कंस समझौते का सूत्रपात होने लगा। कंस के मन में दुर्भावना यह थी कि मथुरा आने पर दोनों भाइयों को किसी न किसी ढंग से यमधाम का अतिथि बना दिया जायगा। दूसरे का अनिष्ट सोचने वालेका अपना ही अनिष्ट होता है। इसका फल कंस को ही स्वयं भोगना पड़ा। व्रजवासियों की भान्ति कहीं कृष्ण और बलदेव मथुरा की जनता को भी अपने पक्ष में न करलें इस लिए कंस ने मथुरा-वासियों को यह चेतावनी दी कि यदि कोई भी कृष्ण के साथ वार्तालाप करेगा तो उसे कड़ा दण्ड दिया जाएगा। राष्ट्रीय नेताओं का सहयोग देने वालों को सरकार का कोपभाजन बनना ही पड़ता है। मथुरा के किसी भी नागरिक ने कंस के भय से कृष्ण का सहयोग नहीं दिया। धन्य है वीरहृदया कुब्जा, जिसने राष्ट्रीय सेवा के लिए प्राणों की बाजी लगा दी। उसने कंस की कठोर यातनाओं की भी परवाह नहीं की। वह चंदन और फूलो का हार कंस के लिए ले जा रही थी। परन्तु जैसे ही उसने अपने हृदयसम्राट् राष्ट्रीय नेता श्रीकृष्ण को देखा उसी समय उसने श्यामसुन्दर को चन्दन का तिलक किया तथा फूलों का हार पहना दिया।

कुब्जा की शुभकामना के परिणामस्वरूप कृष्ण की विजय हुई तथा कंस की पराजय। कृतज्ञ शिरोमणि श्रीकृष्ण संकट के समय किए कुब्जा के इस सहयोग को नहीं भूले। शासन की बागडोर संभालते ही उन्होंने राष्ट्रसेविका कुब्जा के आत्मत्याग के अनुरूप उसका सम्मान करना चाहा। छोटे व्यक्ति का बड़े व्यक्ति के घर में आना कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। महत्त्व इसीमें होता है कि बड़ा व्यक्ति छोटे के घर स्वयं जाए। इसीमें छोटे का सम्मान है। इसी लिए कृष्ण ने राजदरबार में कुब्जा को बुलाकर सम्मान करने की अपेक्षा कुब्जा के घर पर जाकर ही उसे सम्मानित करना महत्त्वपूर्ण समझा। इसलिए वे स्वयं उसकी झोंपडी पर पधारे। यादवसमाज में विशेष प्रतिष्ठित बृहस्पति जी के प्रिय शिष्य उद्धव जी को वे अपने साथ लेगए। भगवान् को अकस्मात् ही घर में आया देख कुब्जा लज्जित होगई। उसने अपने मुख पर घूँघट खींच लिया। क्योंकि उसके पास स्वागत करने के लिए पुष्पमाला तक भी तैयार नहीं थी। जिस आसन पर हम बैठे हों यदि प्रेमी को भी उसी आसन पर

बिठा लिया जाता है तो यह उसका सबसे बड़ा सम्मान है। प्रभु राम ने विभीषण को अपने साथ ही आसन पर बिठाकर उसका सम्मान किया था। भगवान् कृष्ण ने भी कुब्जा का ऐसा ही सम्मान किया। उन्होंने कुब्जा को भी उसी पलंगपर अपने साथ बिठाया जिस पर वे स्वयं विराजमान थे। इससे श्रीकृष्ण ने जनता को यह बता दिया कि आज से कुब्जा का वही स्थान होगा जो मेरा है।

श्रीमद्भागवत में यह प्रसंग भी आता है कि श्रीकृष्ण के कर-स्पर्श से कुब्जा सीधी होगई। इस का भी आधिभौतिक रहस्य इस प्रकार है—राजा के अत्याचारों के कारण राजा के विरुद्ध आन्दोलन कर रही प्रजा ही कुब्जा है। वह प्रजा अब सीधीसादी न रहकर अपने अधिकारों की प्राप्त्यर्थ आन्दोलन कर रही है। अब वह फूलों का हार अपने अत्याचारी राजा को न पहना कर अपने प्यारे नव-नेता को पहनाना आरम्भ करती है। उसी के विजय की मंगल-कामना करती हुई उसके माथे पर चन्दन का तिलक लगाती है। परन्तु 'दूधका जला छाछ को भी फूँक फूँक कर पीता है' इस कहावत के अनुसार अपने पूर्व निर्वाचित राजा के अत्याचारों से त्रस्त प्रजा नवीन नेता पर भी शीघ्र विश्वास नहीं करती। अतः उसे कोई आश्वासन मिलना ही चाहिए। पक्का आश्वासन तभी मिल सकता है जब वह नव-नेता प्रजा की माँगों के प्रार्थना पत्र पर अपना अंगूठा लगा दे या हस्ताक्षर कर दे। इस प्रकार अपना हस्ताक्षर या अंगूठा लगा देने पर नव-निर्वाचित नेता पर प्रजा को विश्वास हो जाता है और पहले राजा के अत्याचारों के कारण विरुद्ध प्रजा अब सीधी हो जाती है अर्थात् नव-नेता के अनुकूल हो जाती है। यही श्रीकृष्ण के अङ्गुष्ठ-स्पर्श या हस्तस्पर्श से कुब्जा का कुब्जापन दूर होना है। कंस के अत्याचारों के कारण उसके विरुद्ध हुई प्रजा को श्रीकृष्ण ने पूरी सुविधाएं देने का आश्वासन देकर सीधा करलिया अर्थात् अपने अनुकूल कर लिया—बिगड़ी प्रजा को समझा बुझाकर अपने हाथ में कर लिया। यही इसका आधिभौतिक भाव है। आजकल भी 'किसी पर हाथ रखना' इस मुहावरे का अर्थ यही है कि उसका पूरा पूरा ध्यान रखना उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व ले लेना। जैसे कहते हैं कि "महाराज! आप इस बच्चे पर अपना हाथ रखें" अर्थात् इस की रक्षा का पूरा पूरा ध्यान रखें।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की आधिदैविक लीलाओं से विचित्र प्रकार के आधिभौतिक चमत्कार झलकते हैं। गोवर्धनधारण लीला से विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण खोज का पता भी चलता है। विज्ञान का एक सिद्धान्त है गुरुत्व का केन्द्र—सेण्टर ऑफ ग्रेविटी (Centre of Gravity)। इस का ज्ञान रहने से गुरुतर वस्तु को भी आसानी से उठाया जा सकता है। वैसे दो तीन मन के भारी मुद्गर को उठाना असम्भव हो जाता है परन्तु जब उसके गुरुत्व-केन्द्र हैण्डल को पकड़ कर उठाते हैं तो सहज में ही उठ जाता है। श्रीकृष्ण उच्च कोटि के वैज्ञानिक थे। उन्हें गोवर्धन के गुरुत्व-केन्द्र का पता था। उनके गोवर्धन के गुरुत्व-केन्द्र का स्पर्श करते ही गोवर्धन असानी से अपने आप ही उठ गया। जैसे आजकल के क्रेन यन्त्र गिरी हुई भारी से भारी गाड़ी आदि को भी सहज में ही उठा लेते हैं। उसी प्रकार कृष्ण को भी गोवर्धन के उठाने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी। इससे भगवान् कृष्ण के उच्च कोटि के वैज्ञानिक होने का पता चलता है।

प्रसन्नता तो इस बात की है कि जिन पौराणिक कथाओं की हँसी उड़ाने का दुःसाहस किया जाता है, विचार करने से उन्हीं कथाओं से हमारे देश का तात्कालीन गौरव ही प्रमाणित होता है। इनसे यह भी पता चलता है कि उस समय के लोग पदार्थविद्या का कितना उच्च कोटि का ज्ञान रखते थे। कालिय–दमन की कथा से भगवान् श्रीकृष्ण के सर्पविद्या के कौशल का पता चलता है। उन्होंने गारुड़ मन्त्र के प्रयोग से भयंकर विषधर कालिय को सहज में ही वश कर लिया। रासलीला से उनके ललित-कला-विद्या में परम प्रवीण होने का आभास मिलता है।

इन सभी लीलाओं के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि श्रीकृष्ण सर्व-विद्या पारंगत थे।

३

श्रीकृष्ण के बहु-विवाह का रहस्य

(७-८-१९३८)

सज्जनो ! भगवान् कृष्ण की गोवर्धन-धारण लीला, कुब्जा–समागम लीला तथा अन्य कतिपय लीलाओं का अधिभौतिक रहस्य आप लोगों को समझाया गया। आज आपको भगवान् श्रीकृष्ण के बहु-विवाह का रहस्य समझाएंगे। १६१०८ रानियों को रखने का उनका प्रयोजन क्या था ? उन्होने मथुरा को छोड़ द्वारिका को क्यों बसाया था—इत्यादि लीलाओं पर आज प्रकाश डाला जाएगा।

भागवत तथा महाभारत के श्रोताओंने यह तो सुना ही होगा कि राजा ययाति के यदु, पूरू, तुर्वसु, अनु तथा द्रुह्यु–ये पांच पुत्र थे। इनमें से तुर्वसु और अनु तो भारत छोड़कर तातार (तुर्किस्तान) चले गए थे। इतिहास से ऐसा प्रमाणित होता है कि तुर्क उन्हीं की सन्तान हैं। भारत में मुग़ल वंश के सम्राट् भी इन्हीं तुर्वसु और अनु की सन्तान थे। इन मुग़लों के झण्डो में चान्द का चिन्ह होता था इससे यही सूचित होता है कि चन्द्रवंशोद्भव तुर्वसु और अनु की ही ये असली सन्तान थे। ययाति के शेष पुत्र यहीं रहे। किसी कारण राजा ययाति का अपने पुत्र यदु के साथ मनोमालिन्य होगया। इसी कारण ययाति ने यदु को शाप दे दिया कि तुम्हारा वंश क्षत्रिय वंशों में घृणास्पद समझा जायगा। अन्य क्षत्रिय तेरे वंशजों के साथ रोटी बेटी का सम्बन्ध नहीं जोड़ेंगे। ययाति के शाप के कारण हुआ भी ऐसा ही।

श्रीकृष्ण भी इसी वंश में उत्पन्न हुए थे। श्रीकृष्ण ने सोचा 'मैं जिस वंश में उत्पन्न हुआ हूँ वह वंश घृणा की दृष्टि से क्यों देखा जाय ? इसे पतित क्यों समझा जाए ? क्या मैं अपने वंश को उन्नत एवं सम्माननीय नहीं बना सकता ? जन्म उसीका सफल होता है जो अपने शौर्य पराक्रमसे अपने वंश को

अवश्य ध्यान रखता है। शास्त्रीय भाषा में इसे अन्वय तथा व्यतिरेक कह देते हैं। पुराणों में दोनों प्रकार की कथाएं आती हैं---अच्छी भी बुरी भी। अच्छी कथाओं से हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि हम भी इनके अनुसार चलेंगे, इन्हें अपने जीवन में ढालने का प्रयत्न करेंगे तो हम भी एक आदर्श मार्ग पर चल कर लाभान्वित होंगे। बुरी कथाओं से हमें यह शिक्षा मिलती है कि यदि हम इनका अनुसरण करेंगे तो हमारा भी उसी प्रकार पतन एवं सत्यानाश हो जाएगा। युधिष्ठिर की द्यूतक्रीड़ा से हमें यह शिक्षा मिलती है कि द्यूतक्रीड़ा विपत्तियों का घर है। द्यूतक्रीड़ा के कारण ही युधिष्ठिर को वर्णनातीत दुःखों का सामना करना पड़ा। युधिष्ठिर तो समर्थ थे फिर भी वे दुःखों से छुटकारा नहीं पा सके। फिर हम तो किस खेत की मूली हैं। अब दो प्रसिद्ध कथाओं द्वारा आपको अन्वय तथा व्यतिरेक अच्छी प्रकार समझा देते हैं।

एक लड़के ने शरारत में आकर अपने उद्यान के सभी वृक्ष काट दिए। जब उसके पिता ने उद्यान की यह दुर्दशा देखी तो क्रुद्ध होकर लड़के से पूछा–इस उद्यान को किसने काटा? लड़के ने अपने अपराध को स्वीकार करते हुए विनयपूर्वक उत्तर दिया—पिता जी! यह अपराध तो मुझसे हो गया है। पिता जी अपने लड़के के सत्य भाषण पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने लड़के को दण्डमुक्त कर दिया। इस में सत्यभाषण का लाभ बताया गया है। अतः यह हुआ अन्वय।

अब आप व्यतिरेक भी समझ लें। एक लड़का भेड़ बकरियाँ चराया करता था। एक दिन उसे शरारत सूझी। उसने झूठ मूठ में ही चिल्लाना प्रारम्भ किया—"सिंह आया, सिंह आया"। आसपास के लोग अपने हाथों में कुल्हाड़ा आदि लेकर उसे बचाने के लिए दौड़े। पास आकर उन्होंने लड़के से पूछा कि कहां है सिंह? लड़के ने हंसते हुए उत्तर दिया—मैं तो ऐसे ही हँसी करने के लिए चिल्लाया था। यहाँ कोई सिंह नहीं आया। लोग अपनासा मुँह लेकर वापस चले गए। लोगों को पक्का निश्चय होगया कि लड़का शरारती है। इस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। एक दिन सचमुच ही सिंह आगया। लड़के ने बहुत चिल्लाया—'सिंह आया सिंह आया'। कोई भी व्यक्ति उसकी सहायता को न आया। उसे सिंह ने मार डाला। उसे झूठ बोलने का फल मिल गया। उसे अपने जीवन से हाथ धोने पड़े। सारांश

यह हुआ कि जिस कार्य के करने से लाभ हो उसे अन्वय तथा जिसके करने से हानि हो उसे व्यतिरेक कहते हैं।

भगवान् ने कलियुगी प्राणियों के शिक्षणार्थ दोनों ही प्रकार के उदाहरण हमारे सम्मुख उपस्थित किए। रामावतार में एक-पत्नी-व्रत पालन करने का लाभ दिखलाया। भगवान् राम की एकमात्र पत्नी भगवती सीता के लव और कुश दोनों ऐसे पराक्रमी शूरवीर पुत्र उत्पन्न हुए जिन के युद्धकौशल के सम्मुख भगवान् राम को भी घुटने टेकने पड़े। उन दोनों के शौर्य से आश्चर्य चकित हो राम ने दांतों तले अंगुली दबा ली थी। ऐसी शौर्य-वीर्य-सम्पन्न सन्तान का होना है एक-पत्नी-व्रत का लाभ। यह हुआ अन्वय। व्यतिरेक का उदाहरण कृष्णावतार में भगवान् ने १६१०८ रानियों से विवाह करके हमारे सामने उपस्थित किया। बहु-विवाह से उसी अनुपात में सन्तान भी बहुत अधिक होगी। इससे भगवान् कृष्ण ने यह सिद्ध कर दिया कि जब सन्तान अधिक होगी तो वह मेरे यादव वंशियों की भान्ति परस्पर लड़भिड़कर ही समाप्त हो जाएगी। देखा आपने बहुत सन्तान का दुष्परिणाम? भगवान् को भी अपनी सन्तान को अपनी ही आँखो के सामने नष्टभ्रष्ट होते देखना पड़ा। बहु-सन्तान प्रायः निर्बल एवं निर्वीर्य होगी। परस्पर कलहकारी होगी अन्त में आपस में ही लड़भिड़कर मर जायगी। इससे भगवान् कृष्ण का एक और भी भाव झलकता है वह यह कि ओ अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् प्राणियो! मैं तो योगिराज हूँ। अपनी नाना पत्नियों को प्रसन्न करने के लिए मैं अपनी योगशक्ति से नाना रूप भी धारण कर सकता हूँ। परन्तु यह तुम्हारे वश की बात नहीं है तुमसे यह नहीं हो सकेगा। इस लिए १६१०८ विवाह कराने से जब मेरी सन्तान की यह दुर्दशा हुई फिर तुम्हारी सन्तान का तो कहना ही क्या? बहुत सन्तान के कारण वंश का ही उच्छेद होगया—यह शिक्षा हमें कृष्ण भगवान् ने अपने बहु–विवाह से दी। यह हुआ व्यतिरेक।

भगवान् श्रीकृष्ण के बहुविवाह का तीसरा रहस्य यह है। हमारे वैदिक मन्त्रों की औसतन (आनुपातिक) संख्या एक लाख मानी जाती है–जिनमें ८० हज़ार मन्त्र कर्मकाण्ड के, १६ हज़ार उपासना काण्ड के तथा ४ हज़ार मन्त्र ज्ञान काण्ड के हैं। यह तो सर्वविदित ही है कि स्थूल पदार्थों का एक अभिमानी चेतन देवता अवश्य होता है। सूर्य, चन्द्रमा, गंगा तथा यमुना

आदि सभी का एक एक अभिमानी देवता है। इसी प्रकार वेद के हर एक मन्त्र का भी एक एक अभिमानी देवता होता है। उपासनाकाण्ड के १६ हज़ार मन्त्रों (श्रुतियों) की अभिमानिनी १६ हज़ार देवियां हैं। उन देवियों ने उपासना करके अपने इष्ट देव श्रीकृष्ण की साक्षात् रूप में सेवा करने की कामना अभिव्यक्त की। उनकी कामना सफल हुई। उपासना काण्ड के १६ हज़ार मन्त्रों की अभिमानिनी १६ हज़ार देवियों ने ही मानुषी विग्रह धारण किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने उन सभी को अपनी पत्नियों के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की सोलह हज़ार रानियां साधारण स्त्रियां न होकर उपासनाकाण्ड के १६ हज़ार मन्त्रों की अभिमानिनी देवियां ही थीं। इस प्रकार भगवान् कृष्ण के बहु-विवाह के अनेकों समाधान हो सकते हैं।

प्रारम्भ में भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन में रहे। विवाह का कोई प्रश्न ही नहीं उठा। वहाँ से मथुरा आए। कंस का संहार किया। कंस-संहार के अनन्तर बहुत दिन तक भगवान् मथुरा में ही रहे। कंस-बध से क्रुद्ध जरासन्ध ने मथुरा पर सत्तरह आक्रमण किए। अठारहवां आक्रमण होने पर श्रीकृष्ण ने मथुरा को छोड़ दिया। अपनी नई राजधानी द्वारिका बनाई। अपने परिजनों तथा प्रजा को वहाँ ले जाकर सुरक्षित किया। इतना सब कुछ करने पर ही श्रीकृष्ण ने विवाह किए। इससे पहले नहीं। इससे यह अनुमान सुतरां ही लगाया जा सकता है कि उनके विवाह के समय श्रीकृष्ण की अवस्था बहुत बड़ी हो चुकी थी। इस बड़ी अवस्था में विवाह कराकर भगवान् ने हमें भी यह शिक्षा दी कि छोटी अवस्था में किया गया विवाह हानिप्रद होता है। अतः विवाह बड़ी अवस्था में ही होना चाहिए। इसका दूसरा रहस्य यह है कि विवाह का उद्देश्य विषयोपभोग ही नहीं होना चाहिए। अपितु यह विवाह देश और जाति की उन्नति में सहायक होना चाहिए। द्वारिका में ही विवाह कराने से भगवान् का यह आशय है कि जब तक उन्होंने अपनी जाति बिरादरी को निरापद तथा निरातङ्क नहीं बना दिया, तब तक उन्होंने विवाह नहीं कराया। मथुरा पर जरासन्ध के बार बार आक्रमण होते थे। प्रजा सुरक्षित नहीं रह सकती थी। अत एव उन्होने द्वारिका बसाई। वहाँ प्रजा सुरक्षित थी। इससे भगवान् ने यह भी सिद्ध कर दिया कि देश तथा जाति की सेवा करना ही व्यक्ति का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए, विवाह नहीं। इसी लिए

उन्होंने वृन्दावन तथा मथुरा में अपने परिजनों पर हो रहे अत्याचारों का जब तक समूलोन्मूलन नहीं कर दिया तब तक विवाह नहीं किया।

कंस-संहार के अनन्तर शासन की बागडोर भगवान् श्रीकृष्ण के हाथ में आगई। फिर भी श्रीकृष्ण ने उज्जैन जाकर अपने गुरु सन्दीपनी से विद्याध्ययन किया। इससे भगवान् ने आजकल के राजकुमारों की ओर संकेत किया है। आजकल के राजकुमार थोड़ी सी शासन की बागडोर अपने हाथ में आने पर विषय-वासना के चक्र में पड़कर विलासी जीवन बना लेते हैं। विद्याध्ययन की उपेक्षा कर देते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण ने यह सिद्ध कर दिया कि शासन की बागडोर हाथ में आने पर भी विद्याभ्यास की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण के अपनी राजधानी मथुरा से हटाकर द्वारिका ले जाने से कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। (१) उस समय मथुरा की जनसंख्या बहुत बढ़ गई थी। भगवान् ने सोचा कि जनसंख्या अधिक होने के कारण मथुरा में समा नहीं सकेगी। परस्पर लड़-भिड़ कर ही मरती रहेगी। अत एव उन्हें विस्तृत विशाल नई राजधानी बनाने की धुन सवार हुई। (२) उस समय कंस-बध से कुपित जरासन्ध मथुरा पर बार बार आक्रमण कर रहा था। उसने लगातार सत्तरह आक्रमण किए। प्रत्येक बार भगवान् ने उसे हराया। फिर भी उसके आक्रमणो का प्रवाह न रुक सका। अब भगवान् ने सोचा कि लड़ाई के ऐसे स्थान पर रहने से प्रजा की बहुत बड़ी हानि हो रही है। अतः उचित यही होगा कि कोई सुरक्षित स्थान खोजकर वहीं राजधानी बना ली जाए। बस फिर क्या था सुरक्षित स्थान द्वारका में राजधानी की नींव पड़ गई। (३) इससे हमें यह भी शिक्षा मिलती है कि गुणों में पिता की अपेक्षा सौगुणी वृद्धि करने वाला पुत्र ही श्रेष्ठ समझा जाता है। वही पुत्र प्रशंसास्पद होता है। पिता द्वारा उपार्जित सम्पत्ति को नष्टभ्रष्ट करने वाला तथा पिता से गुणों में न्यून पुत्र प्रशंसा का भाजन नहीं बन सकता। उसका तो जन्म लेना ही व्यर्थ है। प्रशंसा-योग्य पुत्र वही है जो आत्मनिर्भर होकर स्वतन्त्र रूप से कुछ करके दिखाए। भगवान् ने सोचा कि परम्परागत इन्हीं पुरानी राजधानियों में पड़े रहना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं। क्यों न एक नई ही राजधानी बना ली जाए। इस प्रकार नए नगर के बसाने का श्रेय भी हमें ही प्राप्त होगा। भावी सन्तति श्रद्धा से कहेगी कि द्वारिका को श्रीकृष्ण ने बसाया था। जैसे आजकल के

राजा भी अपने नाम से नए नए नगर बसाते हैं। टिहरी के महाराजा ने अपने ही नाम से 'नरेन्द्रनगर' बसाया। (४) राजाओं को एक राजधानी नहीं रखनी चाहिए—भगवान् के नई राजधानी बसाने से यह भी ध्वनित होता है। राज्य में कई ऐसे सुरक्षित नगर बनाए रखना चाहिए जहाँ आवश्यकता पड़ने पर राजधानी का परिवर्तन किया जा सके। एक ही राजधानी होने से हानि यह होती है कि यदि उसी राजधानी पर शत्रु ने आक्रमण कर दिया तो फिर कहीं जाने को स्थान ही नहीं रह जाता। यदि दूसरा नगर राजधानी के योग्य हो तो वहाँ जाकर आत्मरक्षा की जा सकती है।

आजकल पाश्चात्य देशों में भी कई कई ऐसे नगर होते हैं जहाँ आवश्यकता पड़ने पर राजधानी को परिवर्तित किया जा सके। जैसे अमेरिका में न्यूयार्क तथा वाशिंगटन। रूस में मास्को तथा लेनिनग्राड़ आदि।

४

हरिकथा सुनने का लाभ

(९-८-१९३८)

सज्जनो! आप भगवान् की मधुर लीलाओं का श्रवण कर रहे हैं। भगवान् हैं भक्तिलभ्य। ऐसी ही प्रतिज्ञा भगवान् ने गीता में की है—'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता अ० ८ श्लोक २२) हे अर्जुन! उस परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करने का एकमात्र साधन है अनन्य भक्ति। इस लिए भगवत्प्राप्ति के साधन भक्ति के सम्बध में कुछ शब्द कहना भी अप्रासङ्गिक न होगा।

'भज सेवायां' धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर 'भक्ति' शब्द निष्पन्न होता है। अतः भक्ति का अर्थ हुआ सेवा करना। यह सेवा भी विना प्रेम के हो नहीं सकती, इसी लिए सेवा के साधन-रूप प्रेम अर्थ में भी भक्ति शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रेम को तीन भागों में बाँटा गया है—वैध प्रेम, स्वाभाविक प्रेम तथा स्वात्म प्रेम। तीर्थयात्रा करना, सत्सङ्ग में जाना, गुरुजनों की सेवा करना तथा साधु महात्माओं में श्रद्धा रखना—ये सब बातें स्वयं रुचि न होने पर भी जहाँ अपने माता पिता की आज्ञा द्वारा विवश होकर करनी पड़ें—उसे वैध प्रेम कहते हैं। इनमें हमारी रुचि तो है नहीं परन्तु गुरुजनों की आज्ञा से ये सब करने पड़ते हैं, अतः यह वैध प्रेम हुआ। इसी वैध प्रेम से नैसर्गिक प्रेम का उदय होता है। नैसर्गिक प्रेम वह है जिसमें हमारा स्वभाव से ही प्रेम हो। नदियाँ चाहे पश्चिम दिशा में प्रवाहित हों चाहे उत्तर दिशा में, परन्तु गिरती हैं जाकर समुद्र में ही। समुद्र में जाकर गिरना उनका स्वाभाविक गुण है। पतङ्ग (परवाना) को दीपक के साथ प्रेम करना किसीने सिखाया नहीं। पतङ्ग का प्रेम दीपक के साथ स्वाभाविक है। इसी प्रकार चकोर और चन्द्रमा का प्रेम भी स्वाभाविक ही है। यह नैसर्गिक या स्वाभाविक प्रेम वैध प्रेम के अनन्तर ही होता है। इसी नैसर्गिक प्रेम से उत्पन्न होता है स्वात्म-प्रेम।

चकोर और चन्द्रमा का प्रेम होता तो स्वाभाविक है परन्तु चकोर चन्द्रमा को अपने से भिन्न मानता है। स्वात्म प्रेम में यह बात नहीं। इसमें तो प्रेमी तथा प्रेममात्र में पार्थक्य रह ही नहीं जाता। भक्त की भगवान् के प्रति यह भावना हो जाती है कि भगवान् उससे पृथक् नहीं और मैं भगवान् से पृथक् नहीं। ऐसी तन्मयता होने पर ही स्वात्म-प्रेम का उदय मानना चाहिए। वैध प्रेम की उपमा हम मैट्रिक के कोर्स से दे सकते हैं। नैसर्गिक प्रेम ही इंण्टर-मीडियेट का कोर्स है। ग्रेजुएट बनने के लिए तो स्वात्मप्रेम की क्लास में अध्ययन करना पड़ेगा।

अब हम प्रेम के तीन भेदों में से प्रथम वैध-प्रेम का विस्तृत विवेचन आपको सुना रहे हैं। वैध प्रेम का ही दूसरा नाम है नवधा भक्ति। ये प्रसिद्ध नौ भेद इस प्रकार हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(भा० ७, ५, २३)

(भगवान् विष्णु की कथाओं का श्रवण, उनके गुणों तथा नामों का कीर्तन, स्मरण, उनके पैरों की सेवा, उनका अर्चन, वन्दन, उनकी दासता स्वीकार करना, उनके साथ सख्यभाव को स्थापित करना तथा उन्हें आत्म-समर्पण कर देना)।

इन नौ भेदों में से प्रथम है श्रवण। श्रवण का भाव है भगवान् की कथा सुनने में तत्पर रहना। जैसे इस समय आप सुन ही रहे हैं। भक्ति का यह प्रथम सोपान है। प्रायः ऐसा भी होता है कि कभी कभी कुछ पुरुषों की कथा सुनने की इच्छा तो होती नहीं परन्तु फिर भी वे माता-पिता या अन्य व्यक्तियों के बाध्य करने पर कथा में चले ही आया करते हैं। ऐसे व्यक्ति शङ्का भी ऊट-पटांग कर देते हैं। प्रायः उनके मुख से कहते हुए सुना जाता है कि कथा सुनने से क्या लाभ? इस कुतर्क का उत्तर मैं अपनी ओर से नहीं अपितु व्यासदेव जी स्वयं ही दे रहे हैं—

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति समलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

हरिकथा सुनने का लाभ

कथा–श्रवण के समय भगवान् अपने भक्तों के हृदय–कमल में कर्ण–छिद्र द्वारा प्रविष्ट हो जाते हैं। उनका सान्निध्य भक्तों के मलिन अतःकरण को ठीक ऐसे ही स्वच्छ एवं निर्मल कर देता है जैसे वर्षा के मलिन जल को शरद् ऋतु स्वच्छ कर देती है।

श्लोक का भावार्थ यह है कि जब आप हरिगुणगान सुन रहे हैं उस समय भगवान् स्वयं आपके हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं। हृदय में प्रविष्ट होते ही वे आपके सभी पापों को नष्ट करना प्रारम्भ कर देते हैं। आप उस समय इतना ही मत समझ लें कि आप केवल कथा ही सुन रहे हैं और आप को श्रवण से प्रत्यक्ष कोई लाभ नहीं हो रहा है। नहीं–ऐसा नहीं–उस समय भगवान् स्वयं आपके हृदय-मन्दिर में विराजमान हैं। कथाश्रवण के समय आपकी कानरूपी खिड़कियाँ खुली रहती हैं। बस फिर क्या है चोर को खिड़कियाँ खुली मिल जाएं तो और क्या चाहिए। तस्करपति उनके द्वारा भीतर प्रवेश कर गए। वहाँ पहुँच कर वे भगवान् सभी मानस विकारों को नष्ट करना प्रारम्भ कर देते हैं। एक दृष्टान्त से यह और भी सरल हो जाएगा। वर्षा ऋतु में सभी नदियों तथा तालाबों का जल मिट्टी के मिल जाने से समल= गन्दला या दूषित हो जाता है। वही जल शरद् ऋतु में साफ सुथरा तथा निर्मल हो जाता है। वर्षा ऋतु में मलिन हुए जल को शरद् ऋतु स्वच्छ एवं निर्मल कर देती है। ठीक इसी प्रकार भगवान् रूपी शरद् ऋतु आपके मिट्टी रूपी पापों को क्षणभर में दूर कर देगी। मिट्टी मिल जाने से जल मलिन हो जाता है। आपका हृदय भी मिट्टी-रूपी पापों से मलिन हो रहा है। बस इस मलिन हृदय को स्वच्छ करने का उपाय हरि–कथा का श्रवण ही है।

भक्तजन मिलकर जहाँ हरिकथा का श्रवण कर रहे हों, आप उसे किसी सेठ का बंगला या साधारण स्थान न समझ लेना। उस स्थान को तो वैकुण्ठ का प्रतिनिधि धाम ही समझना चाहिए। जहाँ हरिकथा का श्रवण हो रहा हो— भगवान् तो अपना डेरा वहीं डाल लेते हैं। यही अभिप्राय भगवान् ने नारद के प्रति भी अभिव्यक्त किया है।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद !॥

हे नारद! न तो मैं वैकुण्ठ में ही रहता हूँ, और न ही मुझे योगियों का हृदय निवास के लिए उचित प्रतीत होता है। मैं तो वहीं निवास करता हूँ जहाँ भगवद्भक्त मिलकर मेरे गुणों का गान कर रहे हों। वास्तव में वह स्थान हरि की निवास-भूमि बन जाता है।

निम्न-निर्दिष्ट तीन बातें जहाँ पर हों—उस स्थान का महत्त्व तो स्वर्ग से भी बढ़कर है। इन बातों से रहित स्वर्ग भी क्यों न हो, श्रेष्ठ स्थान कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता।

एक समय नारद जी बहुत दिनों के अनन्तर इन्द्र को मिले। इन्द्र ने कहा–देवर्षे! क्या कारण है कि आपने बहुत दिनों से स्वर्ग में दर्शन ही नहीं दिए। अब कृपया स्वर्ग में पधारें। आप भगवद्भक्तों के वहाँ रहने से हमें भी भगवान् के दर्शनों का लाभ होगा। इस पर नारदजी ने उत्तर दिया—देवराज! मैं स्वर्ग में तभी जा सकता हूँ जब वहाँ तीन बातों के होने का आश्वासन मुझे मिले। इन्द्र ने पूछा–देवर्षे! वे कौन सी तीन बातें हैं। नारदजी ने उन्हें गिनाना प्रारम्भ किया। प्रथम यह कि क्या स्वर्ग में हरिकथा रूपी गंगा का प्रवाह बहता है या नहीं? क्योंकि दिन में कम से कम एक बार हरि–कथा सुने विना मुझे चैन नहीं पड़ती। विना हरिकथा सुने मैं जीवित नहीं रह सकता। तब इन्द्र ने उत्तर दिया—देवर्षे! स्वर्ग में यह हरिकथा कहाँ? वहाँ तो विलासी लोगों का निवास है। वहाँ तो उर्वशी आदि अप्सराएं अपनी नृत्य–कला से कामदेव को उद्दीप्त कर मूर्तिमान् बना देती हैं।

फिर नारदजी ने दूसरी बात पूछी—अच्छा देवराज! यह बताओ क्या वहाँ प्रभु के ऐसे भक्त हैं जो अपना सर्वस्व प्रभु के चरणों में न्योछावर कर उन्हीं में लीन रहते हों? तब देवराज ने उत्तर दिया—नहीं महाराज! वहाँ भक्तों का क्या काम? तब नारदजीने तीसरी बात पूछी–अच्छा देवराज! यदि उपर्युक्त दोनों बातें नहीं तो कम से कम वहाँ प्रतिदिन यज्ञ-हवन आदि तो होते ही होंगे? तब इन्द्र ने उत्तर दिया—नहीं भगवन्! स्वर्ग कोई कर्मभूमि थोड़े ही है जो वहाँ यज्ञादि होते होंगे। वह तो भोगभूमि है। मर्त्यलोक में किए श्रेष्ठ पुण्यों के उपभोगार्थ ही प्राणी स्वर्ग-लोक में आते हैं। अपने पुण्यों का फल भोगने के अनन्तर—

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'।

इस उक्ति के अनुसार पुनः मृत्युलोक में आकर कर्म के बन्धन में पड़ जाते हैं। जब नारदजी ने स्वर्ग की यह दुर्दशा सुनी तो बड़े आश्चर्यचकित हुए और उन्होंने स्पष्ट ही कह दिया—

न यत्र वैकुण्ठ-कथा-सुधापगा,
न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः।
न यत्र यज्ञेश-मखा महोत्सवाः,
सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम्॥

जहाँ हरिकथा-रूपी गंगा-प्रवाह प्रवहित न होता हो, जहाँ भगवान् को ही अपना आश्रय समझने वाले साधु महात्माओं का निवास न हो, जहाँ भगवान् विष्णु के निमित्त यज्ञ आदि उत्सव न होते हों—ऐसे स्थानपर—चाहे वह स्वर्गलोक ही क्यों न हो—एक दिन भी नहीं ठहरना चाहिए।

वास्तव में इसका रहस्य यह है कि जहाँ हरिकथा होती हो, साधु महात्मा निवास करते हों तथा नित्यप्रति यज्ञ हवन आदि होते हों—वहाँ भगवान् के सभी सेवक आ जाते हैं। तुम्बुरु, हनुमान्, सनक सनन्दनादि सब आकर विराजमान हो जाते हैं। यह बात दूसरी है कि वे आपको दिखाई नहीं पड़ते। आप में अभी तक उस शक्ति का प्राकट्य नहीं हुआ जिसके द्वारा आप उन्हें देख सकें। आप यहाँ अवश्य तर्क कर बैठेंगे कि वाह! सनकादिक हमारे पास आकर बैठ जाते हों और हम उन्हें न देख पाते हों-ऐसा कैसे हो सकता है? यदि वे हरिकथा में आते हों तो क्या हम उन्हें देख नहीं सकते?

इसके उत्तर में मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि क्या आप अपने पास में विद्यमान सभी को देख सकते हैं? यदि आप कहें कि हां देख सकते हैं, तो फिर आप अपने जीवात्मा को क्यों नहीं देख सकते? वह न केवल आप के पास में ही विद्यमान है अपि तु आपके भीतर विराजमान है। यही जीवात्मा आपको बन्दर को कलन्दर की भान्ति नचा रहा है। आप को तो इतना भी पता नहीं कि जीवात्मा का स्वरूप कैसा है? यह न तो तुम्हें आते समय दिखाई पड़ा न जाते समय दिखाई पड़ेगा। आपको अपने भीतर विद्यमान जीवात्मा का अतिसूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सका।

सनकादिक भी सूक्ष्म शरीर धारण करके ही हरिकथा में आते हैं—अतः आप को कैसे दिखाई पड़ सकते हैं। इसमें आश्चर्यान्वित होने की आवश्यकता नहीं। यह तुम्हारी शक्ति की सीमा से परे की बात है।

भगवान् राम साकेत धाम जाने की तैयारी कर रहे हैं। सभी अयोध्यावासी भगवान् राम के साथ चलने के लिए तत्पर हैं। राम ने महावीर जी से भी साथ चलने का आग्रह किया। परन्तु महावीरजी ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना करते हुए कहा—

यावत्तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी।
तावत्स्थास्यामि मेदिन्यां तवाऽज्ञामनुपालयन्॥

(वाल्मीकि रामायण उ० का० सर्ग १०७)

प्रभो! यदि आपका आदेश हो तो मेरी इच्छा तो ऐसी है कि जब तक आपकी पवित्र कथा का इस धराधाम पर प्रचार होता रहेगा तब तक आपकी आज्ञा का वशवर्ती हो इसी भूतल पर रहता हुआ आपकी कथा रूपी अमृत का पान करता रहूँ। जब इस भूतल पर आप की कथा का प्रचार नहीं रहेगा तब तो मैं यहाँ ठहरना भी श्रेयस्कर न समझूँगा।

हरिकथा–स्थल पर महावीर प्रभृतियो के उपस्थित होने का एक और भी रहस्यमय कारण है। प्रायः साधारण जनता पुत्र-पौत्रादि के आशापाश में बद्ध होकर संसार में जकड़ी रहती है। पहले पुत्र की इच्छा, पुत्र हो जाने पर पौत्र की इच्छा, फिर उसके भी पुत्र के मुख देखने की इच्छा। इसके अतिरिक्त धनसम्पत्ति की आशा, यश और सम्मान की इच्छा। बस इन्हीं आशाओं के सहारे प्राणी संसार-चक्र में फँसा रहता है। क्या आपने कभी यह भी सोचा है कि जैसे आप इन आशा-पाशों से बद्ध होकर संसार में जीवित रहते हैं उसी प्रकार सनकादिकों के जीवन का सहारा क्या है? आप वाले आशा-पाश उन्हें जकड़ने में समर्थ नहीं हो सकते। बस उनके जीवन का तो एक ही आधार है, वह है हरि–कथा–श्रवण। अब तो आप समझ गये होंगे कि हरिगुण–गान का महत्त्व कितना अधिक है। जैसा आनन्द हरिकथा में आता है वैसा और किसी वस्तु में नहीं। इसके प्रवाह में बह कर व्यक्ति भूख प्यास को भी भूल जाता है।

परीक्षित चक्रवर्ती राजा थे। विविध प्रकार के व्यञ्जनों का आस्वाद लेते हुए आनन्द का अनुभव करते थे। परंतु वे ही परीक्षित जब शुकदेव जी से हरिकथा का श्रवण कर रहे हैं तब उन्हें न तो भूख सताती है न प्यास। वे निरन्तर सात दिनों तक हरिकथा श्रवण करने में मग्न हैं। हरिकथा रूपी अमृत का पान कर रहे हैं। एक क्षण भी उससे वञ्चित रहना नहीं चाहते। मुझे भूख या प्यास बाध्य कर रही होगी—ऐसी शंका कहीं शुकदेव जी के मन में उत्पन्न न हो जाए--उसका निराकरण परीक्षित पहले ही कर देते हैं—

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥ (भा. १०-१-१३)

भगवन्! अन्न की तो बात ही क्या, मैंने जल का भी परित्याग कर दिया है। फिर भी वह असह्य भूख प्यास मुझे तनिक भी नहीं सता रही है; क्योंकि मैं आपके मुखकमल से झरती हुई भगवान् की सुधामयी लीला–कथा का पान कर रहा हूँ।

परीक्षित और भी कह रहा है कि महाराज! श्रुति में ऐसा कहा है–

'न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति
दृष्ट्वा एव एतदमृतं तृप्यन्ति'।

देवता लोग न तो अमृत खाते हैं न पीते हैं, केवल उसके दर्शन मात्र से ही तृप्त हो जाते हैं। परन्तु भगवन्! मै तो हरिकथामृत के प्याले प्रत्यक्ष ही पी रहा हूँ। अतः अब मेरे सम्बन्ध में भूख प्यास का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। यह थी महाराज परीक्षित की अवस्था। यह थी उसकी कथा श्रवण में एकाग्रता। तो, क्या आप भी हरिकथा-श्रवण में अमृतपान का आस्वाद नहीं ले सकते? क्यों नहीं;—अवश्य ले सकते हैं, पर ध्यान से सुनने पर ही यह आस्वाद आ सकेगा। यह हरिकथा-श्रवण का आनन्द अमृत के समान ही मीठा है—यह भी आपको अनुभूत हो रहा होगा।

यहाँ पर आप एक शंका अवश्य उठाएंगे कि महाराज! हम तो नित्य-प्रति ही भगवद्-भक्ति करते हैं तथा हरिकथा का श्रवण करते हैं। परन्तु हमें कहीं अमृत जैसा स्वाद तो आता नहीं। अमृत तो मीठा होता है।

व्याख्याताओं के मुखारविंद से भी प्रतिदिन यही सुना जाता है कि राम तथा कृष्ण के नाम बहुत मीठे होते हैं। परन्तु रात दिन 'राम राम' 'कृष्ण कृष्ण' रटते हुए भी इनमें मिठास तो कभी नाममात्र को भी प्राप्त नहीं हुई।

इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कृष्ण तथा राम के नाम वस्तुतः मीठे ही हैं परन्तु आप उस मिठास का किसी कारणवश अनुभव नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ, एक मनुष्य को पित्तदोष बढ गया है। अत एव वह तीव्र ज्वर से पीड़ित है। पित्तदोष की वृद्धि की ऐसी अवस्था में यदि उसकी जिह्वा पर मिश्री रख कर पूछा जाय कि मिश्री का स्वाद कैसा है तो इसके उत्तर में वह यही कहेगा कि मिश्री कड़वी है। क्या हम उसके कहने से मिश्री को कड़वी मान लेंगे? कदापि नहीं। मिश्री तो होती ही मीठी है। परन्तु पित्त-दोष के बढ़ने से मीठी मिश्री भी उसे कड़वी प्रतीत होती है। इसी भाव को पुष्ट करते हुए महाकवि हर्ष ने अपने महाकाव्य नैषध में कहा है—

...सिताऽपि तिक्तायते हंस कुलावतंस !"

हे हंसकुलभूषण! पित्तदोष की अभिवृद्धि हो जाने से जिह्वा पर रखी मिश्री भी कड़वी प्रतीत होने लगती है।

इसी प्रकार कृष्ण और राम का नाम तथा हरिकथामृत ये सब हैं तो मीठे ही। आप के भीतर सांसारिक विषय-वासना रूपी पित्त की अभिवृद्धि के कारण आप उनके मीठेपन का अनुभव नहीं कर पाते। आप अभी तक हेय तथा उपादेय का विश्लेषण कर सकने में भी असमर्थ हैं।

एक घटना याद आगई। एक था देवी का भक्त। देवी की आराधना से उसे एक चिन्तामणि प्राप्त हुई। चिन्तामणि की यह विशेषता होती है कि उसके पास में रहने से जिस वस्तु का भी हम संकल्प करेंगे वह तत्काल उपस्थित हो जाती है। देवी-भक्त ने उस चिन्तामणि को पत्थर का एक साधारण टुकड़ा ही समझा। उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ कि भक्ति के फलस्वरूप मुझे यह पत्थर का एक टुकड़ा ही मिला। उसने सोचा कि यह तो मेरे किसी काम नहीं आ सकेगा। क्यों न इसके बदले काच की कुछ गोलियां ले ली जाएं। कम से कम बच्चे तो उनसे मन बहला लेंगे। यह विचार वह नगर की ओर चला। दुकान पर पहुँच कर बनिये से कहने लगा—इस पत्थर

के टुकड़े के बदले मुझे दो तीन काच की गोलियाँ दे दो। बनिया उस चिन्तामणि को पहचान गया। झट से बोला—दो तीन ही क्यों बीस तीस ले जाओ। भक्त ने कहा—बहुत अच्छा। गोलियाँ लेकर देवीभक्त मन ही मन प्रसन्न होता सोचता जा रहा है कि आज तो बनिए को खूब ठगा। एक पत्थर के टुकड़े के बदले कितनी गोलियाँ ले आया। इधर बनिया प्रसन्न हो रहा है कि आज अच्छा हतभाग्य फँसा जो काच की कुछ गोलियों के बदले में चिन्तामणि दे गया। बनिये का प्रसन्न होना उचित ही था। वह उस चिन्तामणि के कारण थोड़े ही दिनों में बहुत बड़ा प्रतिष्ठित सेठ हो गया। उधर जब उस भक्त को पता चला कि वह तो चिन्तामणि थी, साधारण पत्थर का टुकड़ा नहीं तो लगा माथे पर हाथ रख कर पश्चात्ताप करने। परन्तु अब पश्चात्ताप करने से क्या लाभ ?

प्रिय बन्धुओ ! याद रखो, आप भी अपने अमूल्य चिन्तामणि–रूपी शरीर को सांसारिक विषय-वासनाओं के बदले व्यर्थ में ही खो रहे हो। इस शरीर द्वारा भगवत्प्राप्ति का प्रयत्न नहीं करते। अन्त में आपको भी उस देवीभक्त के समान पश्चात्ताप करना पड़ेगा। किसी कवि ने इसी भाव को कितने सुन्दर शब्दों में श्लोकबद्ध किया है—

जन्मेदं बन्ध्यतां नीतं भव-भोगोपलिप्सया।
काच-मूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्यथा ॥

बहुत खेद की बात है कि मैंने अपना अमूल्य जीवन सांसारिक विषयों की लालसा में व्यर्थ में ही खो दिया। जैसे वह देवी-भक्त चिन्तामणि को नहीं पहचान सका और उसे उसने काचके बदले दे डाला, ठीक उसी प्रकार मैंने भी अपने बहुमूल्य मानव-शरीर का मूल्याङ्कन नहीं किया। इस अमूल्य चिन्तामणि-रूपी मानव शरीर को मैंने सांसारिक विषय-वासना-रूपी काच के बदले व्यर्थ में ही गँवा दिया।

अन्तमें पश्चात्ताप न करना पड़े—इस लिए अभी से ही आप प्रभु-चरणों में प्रेम बढाएं। सत्सङ्ग में जाएं। हरिकथा का श्रवण करें। यह तो हम भी स्वीकार करते हैं कि पहले पहल आपको हरि-कथा तथा राम-नाम अवश्य कड़वे लगेंगे—परन्तु धीरे धीरे उस ओर आपके प्रेम के बढ़ जाने से आप हरिकथा को राजा परीक्षित की भांति एक क्षण भी नहीं

छोड़ना चाहेंगे। जैसे आप प्रारम्भ में बच्चे को पढ़ने के लिए स्कूल भेजते हैं। वह विवश होकर कभी जाता है कभी झूठमूठ में ही पेटदर्द का बहाना करके घर पर ही रह जाता है। उसने किसी प्रकार मैट्रिक पास कर ली। आगे पढ़ने में उसकी रुचि बढ़ने लगी। घरवाले कहते हैं हम नहीं पढ़ा सकते। हम खर्चा नहीं कर सकते। परन्तु लड़का कहता है मैं आगे अवश्य पढ़ूँगा चाहे खर्चा चलाने के लिए मुझे ट्यूशन ही क्यों न करनी पड़े।

नव–बधू का दिल पहले पहल पतिसेवा में नहीं लगता। वह पति से संकोच करती है। सास-ससुर के कहने पर ही पति की सेवा करती है। यह है वैध-प्रेम। कुछ समय के अनन्तर यही वैध-प्रेम स्वाभाविक (नैसर्गिक) प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। अब उस बधू को स्वयमेव चिन्ता रहती है–आज पतिदेव ने भोजन अच्छी प्रकार से नहीं किया। आज वे चिन्तित प्रतीत होते थे। उनके कपड़े अच्छी प्रकार नहीं धुले। उनका बिस्तर ठीक नहीं बिछा इत्यादि। बस इसके अनन्तर ही स्वात्मप्रेम हो जाता है। क्योंकि नैसर्गिक (स्वाभाविक) प्रेम की परिपक्व दशा में ही स्वात्म-प्रेम होता है।

इसी प्रकार कोई व्यक्ति श्रवण आदि नवधा भक्ति का अनुष्ठान भी प्रारम्भ में इच्छा न होने पर भी गुरुजनों के आदेश से ही करता है। तदनन्तर उसके परिपक्व हो जाने पर उसका नैसर्गिक (स्वाभाविक) प्रेम हो जाता है। उसकी रुचि अपने आप हरिकथा की ओर हो जाती है। नैसर्गिक प्रेम की परिपक्व दशा में तन्मयता की स्थिति का उदय होता है। उस समय भक्त तथा भगवान् के बीच में से भेद की दीवार गिर जाती है। ऐसी स्थिति में भक्त अपने को ही भगवान् अनुभव करने लगता है।

योगवासिष्ठ में एक सुन्दर कथानक इसप्रकार आता है—

कोई शिवभक्त भगवान् शंकर की पूजा के निमित्त हाथ में जल का लोटा तथा बिल्वपत्र लिए जा रहा था। भावना थी शंकर की पूजा करने की। इसी बीच नैसर्गिक प्रेम की परिपक्व दशा में तन्मयता आगई। भक्त अपने को ही शंकर समझने लगा व शंकर की पूजन-सामग्री से स्वात्म-पूजन प्रारम्भ कर दिया—

नमस्तुभ्यं महेशाय नमो मह्यं शिवाय च।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यं तुभ्यं नमो नमः॥

महेश ! आपको मेरा प्रणाम, मुझ शिवस्वरूप को मेरा अपना ही प्रणाम। स्वान्तरात्मारूप मेरे तथा शिव के प्रति मेरा बार बार प्रणाम हो।

इस प्रकार भक्त भगवान् को अपने से पृथक् न समझ कर उसके साथ स्वात्म-दृष्टि से प्रेम करता है। इसी प्रेम का नाम स्वात्मप्रेम है। यहाँ ज्ञान एवं भक्ति रूपी दोनों सरिताएं भक्त के अन्तःकरण रूपी प्रयाग स्थली में संगत होकर त्रिवेणी का रूप बन जाती हैं। ज्ञान तथा भक्ति का यही चरम लक्ष्य है। इस स्थिति में पहुँच कर भक्त स्वात्मस्वरूप भगवत्साक्षात्कार कर लेता है। इस साक्षात्कार से ही सदा के लिए आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। मेरा भी आप से यही अनुरोध है कि आप भी उसी स्वात्मप्रेम को सम्पादन करने का प्रयास करें। वैध प्रेम मैट्रिक की परीक्षा है। नैसर्गिक-प्रेम है इण्टर की। बस इन दोनों को पास करते हुए स्वात्मप्रेम-रूपी बी० ए० में समुत्तीर्ण होकर प्रेम के ग्रेज्युएट बन जाओ।

५

श्रीकृष्ण-लीला के आध्यात्मिक अर्थ

(१०-८-१९३८)

सज्जनो! आनन्द-कन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र-सम्बधी विचार करने से अधिकाधिक आनन्द का अनुभव होता जाता है। आनन्द का अनुभव हो भी क्यों न, जब भागवत जैसे अनुपम ग्रन्थ में भगवान् का चरित्र अङ्कित किया गया हो। भागवत का अध्ययन भी तो आनन्द-प्रद एवं मोक्ष-पथ-प्रदर्शक है। श्रीमद्भागवत में सच्चिदानंद स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् के दिव्य जन्म तथा कर्म का प्रतिपादन किया गया है। अपने चरित्र के विषय में स्वयं अपना साक्ष्य देते हुए भगवान् स्वयं गीता में कह रहे हैं—

'जन्म कर्म च मे दिव्यम्...' (गीता ४-९.)

'मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक हैं। ऐसे अलौकिक मेरे जन्म और कर्म को तत्त्व से जाननेवाला व्यक्ति देह छोड़ने के अनन्तर फिर जन्म-मरण के चक्र में न पड़ कर सीधा मुझे ही प्राप्त हो जाता है।' परन्तु भगवान् के इन दिव्य कर्मों को तत्त्व से जान भी वही सकता है जो तर्क-वितर्क के झूठे जंजाल में न पड़कर श्रद्धापूर्वक उनपर विचार करता है।

आज हमें भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओं के आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर विचार करना है। श्रीमद्भागवत में प्रायः सभी कथाएं आध्यात्मिक भाव को लेकर ही कही गई हैं। क्योंकि श्रीव्यासदेवजी ने स्थूल कथाओं का वर्णन तो अन्य पुराणों में कर ही दिया है। महाभारत तथा सभी पुराण लिखने पर भी व्यासदेवजी को मानसशान्ति प्राप्त नहीं हो सकी, तब उन्होंने नारद जी के कहने से श्रीमद्भागवत जैसे अनुपम ग्रन्थ की रचना की। इसीलिए व्यासदेवजी ने इस ग्रन्थ-रत्न में अध्यात्मतत्त्व कूटकूट कर भरा है जिसके अध्ययन मात्र से ही जिज्ञासु प्राणी आत्मज्ञानी बन सकते हैं।

श्रोता और वक्ता के आधार पर भी हम भागवत के महत्त्व को भलीभान्ति जान सकते हैं। भागवत का श्रोता है परीक्षित जैसा मुमूर्षू राजा और वक्ता हैं उच्च कोटि के वीतराग शुकदेव जी। ऐसे श्रोता और वक्ता के बीच में रजोगुण–प्रधान कथाओं की सम्भावना भी नहीं हो सकती। अपनी मृत्यु की तिथि समीप देखकर परीक्षित तो सांसारिक पदार्थों को तृणवत् समझ ही बैठा था। उनमें उसका राग या आसक्ति रही ही नहीं। परीक्षित तो यह चाहते थे कि बस इन्हीं सात दिनों में उसे आत्मज्ञान द्वारा मोक्षपद प्राप्त हो जाए। आप सभी को यह अनुभव तो होगा ही कि मृत्यु को सिर पर मँडराते देख साधारण से साधारण व्यक्ति भी 'राम राम' रटने लग जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि परीक्षित आत्मज्ञान प्राप्त करने के पूर्ण अधिकारी हो चुके थे। उनके उपदेष्टा शुकदेवजी के विषय में तो कहना ही क्या है। वे तो उच्च कोटि के ब्रह्मज्ञानी थे ही। उनके लिए सांसारिक वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं। वे तो संसार को ही स्वप्न–तुल्य समझ बैठे थे। न हर्ष न शोक, न सुख न दुःख, न मान न अपमान, अपनी मस्ती में ही दिगम्बर होकर घूमते रहते थे। सारांश यह हुआ कि ऐसे वक्ता और श्रोता के बीच में क्या कभी राजसी कथाएं कही या सुनी जा सकती हैं। ऐसे अवसर की कथाओं में विना अध्यात्म–तत्त्व के अन्य बातों का आना ही कठिन था। इसलिए भागवत की कोई भी कथा आध्यात्मिक तत्त्व से रिक्त नहीं हो सकती।

भागवत के चौथे स्कन्ध में अध्याय २५ से २९ तक पुरञ्जन की कथा आती है। इसको शरीर पर इस प्रकार घटाया गया है। पुरञ्जन यह आत्मा है। उसकी रानी बुद्धि है। उस बुद्धिरूपी रानी के साथ पांच सिरों वाला एक सर्प रहता है। यहाँ इस साँप से तात्पर्य है प्राण। इस प्राणरूपी साँप के पांच सिर हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। इस आत्मा-रूपी राजा के महल के नौ द्वार बताए हैं, वे नौ द्वार इस शरीर में आँख, कान, मुखादि प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार इस कथा का सारा आध्यात्मिक अर्थ घट जाता है।

भागवत ने तो इस कथा के आधार पर हमें एक फार्मूला बता दिया। स्कूल में भी अध्यापक लड़कों को एक फार्मूला बता दिया करता है और कह देता है कि इस फार्मूले के आधार पर तुम यह सवाल निकाल कर लाओ। हमें भी भागवत में बताए गए इस फार्मूले के आधार पर अन्य कथाओं का

आध्यात्मिक अर्थ स्वयं खोज लेना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण थे माखन-चोर। अपनी माखन चोरी की लीला से वे यह संकेत कर रहे हैं कि जैसे दूध का सार माखन होता है और मैं उसी की चोरी कर के खाता हूँ, उसी प्रकार तुम भी मेरी लीलाओं में से माखन (सार) निकालो-उन के तत्त्व का अन्वेषण करो। विज्ञान दो प्रकार का है-(१) सैद्धान्तिक तथा (२) प्रयोगात्मक। वैज्ञानिक तत्त्व को सैद्धान्तिक रूप से समझने पर भी उस पर दृढ़ निश्चय तभी होता है जब हम प्रयोगशालामें उस का प्रयोग कर के देख लेते हैं। आप को प्रयोग करने के लिए अभी तक प्रयोगशाला नहीं मिली, इसी लिए आप को भी अभी तक सन्देह बना हुआ है। आज हम भगवान् श्रीकृष्ण की कतिपय लीलाओं का अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग करके आपकी सन्देह-निवृत्ति करेंगे।

आज सबसे पहले हम भगवान् श्रीकृष्ण की कुब्जा-समागम लीला का आध्यात्मिक रहस्य आप के सम्मुख उपस्थित करेंगे। इस लीला का स्थूल आधिभौतिक रहस्य तो आपको पीछे समझा ही दिया गया है। आप इसका सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ भी समझ लें। यह अर्थ आपको कठिन तो अवश्य प्रतीत होगा। कहाँ तो आनन्द-कन्द भगवान् मुरलीमनोहर की सरस एवं सुमधुर लीलाएं और कहाँ बड़े बड़े विद्वानों के भी छक्के छुड़ाने वाला आध्यात्मिक तत्त्व। परन्तु घबराने की आवश्यकता नहीं। आप भक्त-वृन्द के लिए कुछ भी कठिन नहीं है। जब आप अपनी भक्ति-रूपी साइन्स के द्वारा निराकार भगवान् को भी साकार करने का दावा (प्रण) रखते हैं तो फिर ऐसी कथाओं का आध्यात्मिक अर्थ निकालना तो साधारण सी बात है। थोड़ा ध्यान तो दीजिए—

कीड़ा ज़रा सा जो पत्थर में घर करे।
इन्सान वो क्या जो न दिले दिलवर में घर करे॥

एक छोटा सा कीड़ा भी पत्थर में घर बनाने का कितना बड़ा साहस रखता है। आप तो परम-पिता परमात्मा की सृष्टि के सर्वोत्कृष्ट जीव हैं। तो फिर ऐसे गूढ़ तत्त्वों को समझने में आपको क्या कठिनाई हो सकती है।

हाँ तो अब कुब्जा-समागम लीला का आध्यात्मिक तत्त्व आप इस प्रकार समझें—आपकी बुद्धि दो प्रकार की है—एक सन्मार्ग-गामिनी तथा दूसरी

कुमार्ग-गामिनी। शास्त्र-प्रतिपादित आज्ञाओं पर चलनेवाली तथा शुभकार्यों में रुचि रखनेवाली बुद्धि सन्मार्ग-गामिनी कहलाती है। शास्त्र की आज्ञा के प्रतिकूल चलने वाली बुद्धि कुमार्ग-गामिनी अथवा 'कुब्जा-बुद्धि' कहलाती है। 'कुब्ज' का अर्थ होता है टेढ़ा, प्रतिकूल या उलटा। जो बुद्धि शास्त्र की आज्ञा के प्रतिकूल टेढ़ी या उलटी चले वह हुई कुब्जा बुद्धि। कंस का अर्थ है अहंकार। 'कं = सुखं, स्यति = हन्ति इति कंसः'। जो सुख और आनन्द का नाश कर दे वह हुआ 'कंस'। सुख और आनन्द का नाश करने वाला है अहंकार। अहंकारी व्यक्ति कभी भी शान्त तथा सुखी नहीं रह सकता। मैं धनी हूँ, मैं दानी हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं वीर हूँ---इत्यादि रूप से अन्तःकरण में बैठ कर सुख का नाश करने वाला अहंकार ही कंस हुआ। जब तक यह कुब्जा बुद्धि कंस रूपी अहंकार को पुष्पमाला चढ़ाती रहती है = अहंकार में फँसी रहती है तब तक कुब्जा ही बनी रहती है = कुमार्ग गामिनी ही रहती है। परन्तु जब गुरुदेव की कृपा से कंस = अहंकार का निरादर करके कृष्ण के गले में फूलमाला पहनाती है अर्थात् सन्मार्ग-गामिनी बन कर प्रभु का चिन्तन करती है, तब प्रभु उस कंस = अहंकार को मारकर उस कुब्जा = कुमार्ग-गामिनी बुद्धि पर अपना हाथ रखते हैं। उसे अपनी शरण में ले लेते हैं। तब यह झटसे सीधी हो जाती है। कुब्जा से सरला (सीधी) बन जाती है। भगवत्-कर-स्पर्श भगवत्कृपा का प्रतीक है। कुमार्ग गामिनी बुद्धि को सन्मार्ग--गामिनी बनाने में भगवत्कृपा ही विशेष सहायक है। यह हुआ कुब्जा-समागम लीला का आध्यात्मिक अर्थ।

अब आप गोवर्धन-धारण लीला का भी आध्यात्मिक अर्थ सुन लें। गोवर्धन शब्द शरीर का वाचक है। गौओं = इन्द्रियों की पुष्टि शरीर में ही रह कर हुआ करती है। शरीरके प्रधान अंग मुख के द्वारा भुक्त--पीत वस्तुओं का रस बनता है। उसी के द्वारा सब इन्द्रियों का पोषण होता है। अतः इन्द्रियों की पुष्टि का आधार गोवर्धन = शरीर हुआ। सांसारिक पदार्थों के लोभ में फँसकर मनुष्य धन-अर्जन आदि के निमित्त इन्द्र = राजा की सेवामें लग जाता है जिससे प्राणी का पतन अवश्यम्भावी है। जब हम भगवद्गुङ्ली = भगवत्-संकेत वैदिक नियमों पर चलते हैं तो इस गोवर्धन = शरीर का उद्धार होता है। इसका पतन न होकर प्राणी की महती उन्नति होती है। भगवत्प्राप्ति के साधन इस मानव

शरीर को विषयोपभोग में व्यर्थ ही न खोकर उसके द्वारा भगवत्प्राप्ति का प्रयास ही गोवर्धन–उद्धार है।

लीजिए अब आपको श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों का भी आध्यात्मिक रहस्य समझा दें। इसे समझने के लिए आप को पहले सृष्टि के रचना–क्रम की ओर ध्यान देना पड़ेगा। यह संसार माया से बना है जिसे प्रकृति भी कहते हैं। प्रकृति का अर्थ ही यही है—'कृतौ = संसार-निर्माणे प्रकृष्टा = कुशला या देवी सा प्रकृतिः—जो देवी संसार की रचना करने में परम कुशल हो वही प्रकृति है। यह माया सत्त्व रजस् तथा तमस् का सम्मिश्रण है। इन्हीं तीन गुणों वाली प्रकृति से बना संसार भी त्रिगुणात्मक है। इन्हीं तीन गुणों से उत्पन्न होने के कारण संसार भी इन तीन गुणों के कार्य सुख दुःख तथा मोह-स्वरूप है। सत्त्वगुण से सुख, रजोगुण से दुःख तथा तमोगुण से मोह उत्पन्न होता है। संसार के सभी परिणाम सुख-दुःख मोहात्मक होने से त्रिगुणात्मक हैं अतः उन सभी की जननी त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही मानी गई है।

एक बालक बहुत सुन्दर है। वह अपने मातापिता के लिए सुख का कारण है। शत्रु के लिए दुःख का तथा सन्तानरहित पड़ोसी के लिए मोह का कारण है। इस एक ही लड़के में तीनों गुण पाए जाते हैं। जैसे एक ही अंगूठी में सोना, पीतल तथा लोहा ये तीनों धातुएं मिली हों। इसी प्रकार सुख–दुःख मोहात्मक संसार की जननी त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। इसे ही मूल-प्रकृति कहते हैं। इसी विश्वजननी मूल प्रकृति का प्रथम परिणाम है—महत्तत्त्व, जिसे पौराणिक भाषा में 'ब्रह्मा' कहते हैं! महत्तत्त्व का परिणाम है अहंकार, इसकी पौराणिक संज्ञा है 'प्रजापति'। अहंकार दो प्रकार का है सात्विक तथा तामस। तामस अहंकार का परिणाम है पञ्चतन्मात्र अथवा सूक्ष्मभूत। इस प्रकार मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्च सूक्ष्मभूत (तन्मात्र) सांख्य-सम्मत आठ मुख्य प्रकृतियाँ हैं। अहंकार के दो भेदों में से सात्त्विक अहंकार का परिणाम हैं एकादश इन्द्रियाँ (पांच ज्ञान इन्द्रियाँ पांच कर्म इन्द्रियाँ तथा एक अन्तरिन्द्रिय मन)। पञ्च तन्मात्रों (पाञ्च सूक्ष्मभूतों) का परिणाम हैं पाञ्च स्थूलभूत। ये एकादश इंद्रिय तथा पांच स्थूलभूत मिलकर सोलह होते हैं। सांख्य में ये सोलह विकार = विकृति तत्त्व कहलाते हैं।

इनमें से पाञ्च स्थूल भूतों से घटपट आदि सहस्रों पदार्थों तथा इन्द्रियों से आलोचन आदि सैंकडों वृत्तियों की उत्पत्ति होती है। अतः श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों से—आठ मुख्य प्रकृतियें, इन्द्रियों की आलोचन आदि सैंकड़ों वृत्तियें तथा स्थूलभूतों (पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) की घट पट आदि सहस्रों विकृतियें—यही सांख्य-सम्मत सृष्टि प्रक्रिया का गूढ रहस्य प्रतिपादित होता है। स्त्री का कर्तव्य है पति की अधीनता में रहना। प्रकृति के सभी कार्य भगवान् के ही अधीन हैं, क्योंकि विना उस सर्व-शक्तिमान् परमपिता परमात्मा की सहायता सत्ता के जड़ प्रकृति कुछ भी करने में असमर्थ है। अतएव प्रकृति के कार्यों को भी भगवदधीन होने से स्त्रीरूप या रानीरूप में ठहराया गया है। इन सब का नियन्ता पति नित्यमुक्त एक ही है।

अब आपको भगवान् श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों का रहस्य सांख्य तथा योगसम्मत प्रक्रिया के अनुसार दूसरे ढंग से समझाया जाता है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गीता अ. ७ श्लो. ४)

गीता के इस उपर्युक्त श्लोक में भगवान् ने अपनी अपरा प्रकृति को आठ भागों में विभक्त किया है। मूल-प्रकृति सभी का कारण है किसी का कार्य नहीं। महत्, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र (सूक्ष्मभूत) ये सातों पूर्व पूर्व का कार्य होने पर भी उत्तरोत्तर तत्त्वान्तर का कारण होने से प्रकृतियां ही मानी गई हैं। उक्त श्लोक में भूम्यादि शब्दों द्वारा स्थूल पृथिव्यादि के भूतों के कारण सूक्ष्मभूत तन्मात्रों का निर्देश है। बुद्धि तथा अहंकार का उल्लेख स्पष्ट ही है। मनः शब्द मनोगम्य अनुमेय अव्यक्त मूलप्रकृति का वाचक है। अतः इन आठ प्रकृतियों की ही प्रतीक प्रभु की रुक्मिणी आदि आठ पट्टरानियाँ हैं।

सांख्य सिद्धान्त में सृष्टि के दो प्रकार हैं—बाह्य तथा आन्तर। भूतसर्ग तथा प्रत्ययसर्ग क्रमशः इन्हीं के नामान्तर हैं। प्रत्ययसर्ग का दूसरा नाम है बुद्धिसर्ग। बुद्धि की ५० वृत्तियाँ हैं। इनमें से ५ तो हुई विपर्यय वृत्तियाँ (अविद्या अस्मिता राग द्वेष तथा अभिनिवेश अथवा नामान्तर से तमः मोह महामोह तामिस्र तथा अन्धतामिस्र) २८ प्रकार की अशक्ति, ९ प्रकार की तुष्टि

तथा ८ प्रकार की सिद्धियां हुईं। इन सब का विशद विवेचन सांख्य–कारिका ४६–'एष प्रत्ययसर्गः' तथा सां० का० ४७–'पञ्च विपर्ययभेदाः'—इन दो कारिकाओं में किया गया है।

प्रकारान्तर से इनके ५० भेद इस प्रकार हैं––२४ से ३२ तक की सॉख्य-कारिकाओं में वर्णित पद्धति के अनुसार बुद्धि, अहंकृति, मन एवं इन्द्रियों की क्रमशः अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प तथा आलोचन वृत्तियां हैं। शब्दादि विषय दिव्यादिव्य भेद से दश प्रकार के हैं, अतः तदाकार वृत्तियां भी दश दश प्रकार की ही होंगी। बुद्धि की दस प्रकार की अध्यवसाय वृत्ति, अहंकार की दस प्रकार की अभिमान वृत्ति, मन की दस प्रकार की संकल्प वृत्ति तथा इन्द्रियों की दस प्रकार की आलोचन वृत्ति—ये सब मिलाकर ४० हो जाती हैं। बुद्धि, अहंकार तथा मन इन तीनों की अध्यवसाय आदि असाधारण वृत्तियों के अतिरिक्त साधारण वृत्ति है प्राणादि पञ्चक। नाग आदि अन्य पांच भेदों के मिला लेने से प्राणादि वृत्ति दस प्रकार की बन जाती है। इसीका अपर नाम है जीवन। अतः बुद्धि-सृष्टि के ये भी अन्य ५० परिणाम हुए। इन सबकी संकलना से १०० संख्या सम्पन्न हो जाती है। भगवान् की सौ रानियों के रूप में इसी की सूचना दी गई है। ११ इन्द्रियाँ तथा ५ स्थूलभूत मिलाकर सांख्य-मत में १६ विकृति (विकार) तत्त्व हैं। इनमें से स्थूल भूतों के हज़ारों घट पट आदि परिणाम होते रहते हैं। इसी अभिप्राय से रानियों की हज़ार संख्या निर्दिष्ट हुई है। अब आप लोग १६१०८ रानियों का सांख्य–वर्णित आध्यात्मिक गूढ रहस्य भलीभांति जान गए होंगे।

योगदर्शन की रीति से चित्तवृत्तियों की एक सौ संख्या का रहस्य आप निम्न निर्दिष्ट पद्धति से भी समझ सकते हैं। योग–दर्शन में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति ये पांच भेद चित्तवृत्तियों के माने गए हैं। इनमें से पहली प्रमाणवृत्ति के तीन भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—बाह्य तथा मानस। बाह्य प्रत्यक्ष चाक्षुष, श्रावण, रासन, त्वाच तथा घ्राणज भेद से पांच प्रकार का है। दिव्यादिव्य भेद से शब्दादि दशविध विषय हैं। अतः तदवगाहि बाह्य प्रत्यक्ष दश-विध मानना होगा। आन्तर (मानस) प्रत्यक्ष पर (योगिप्रत्यक्ष) तथा अपर (साधारणजीव प्रत्यक्ष) भेद से दो प्रकार का है। इस रीति से प्रमाण वृत्ति के प्रथम भेद प्रत्यक्ष की संख्या द्वादश होगई।

पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतो-दृष्ट भेद से अनुमान तीन प्रकार का माना गया है—(त्रिविधमनुमानमाख्यातम्—सां० का० ५)। लौकिक तथा वैदिक भेद से आगम दो प्रकार का है। इस संकलना के अनुसार प्रथम प्रमाणवृत्ति सत्तरह प्रकार की हुई।

"भेदास्तमसोऽष्टविधाः" सां० का० ४८ के अनुसार द्वितीय वृत्ति विपर्यय के ५२ भेद हैं। इनका स्पष्टीकरण निम्ननिर्दिष्ट है—विपर्यय वृत्ति प्रथमतः ५ प्रकार की है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश। इन्हीं के पारिभाषिक नामान्तर हैं—तमः, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र। प्रकृति, महत्, अहंकार, तथा पञ्चतन्मात्र इन अष्टविध अनात्म तत्त्वो में आत्मदृष्टिरूप विपरीतदृष्टि ही अविद्या है। अतः उसके आठ भेद हुए। अस्मिता अविद्या की अनुगामिनी है। अतः उसे भी इसी के सदृश आठ प्रकार की मानना होगा। राग दशविध है क्योंकि उसके विषय शब्दादि दिव्यादिव्य भेद से दस प्रकार के हैं। द्वेष अठारह प्रकार का है। द्वेष की उत्पत्ति होती है अभीष्ट वस्तु में बाधा डालने से। मनुष्य के अभीष्ट पदार्थ दशविध शब्दादि विषय तथा अणिमादि आठ ऐश्वर्य हैं। इसका सहचर अभिनिवेश भी अठारह ही प्रकार का है। क्योकि मेरे अभीष्ट अठारह प्रकार के पदार्थों का कभी नाश न हो, वे सब बने रहें—यही अभिनिवेश का स्वरूप है। अतः द्वितीय विपर्यय वृत्ति के ६२ भेद आप सहज में ही समझ गए होंगे।

तीसरी विकल्प, चौथी निद्रा तथा पांचवीं स्मृति वृत्ति एक एक ही प्रकार की है। इस प्रकार चित्त की प्रमाण आदि पांच वृत्तियां अवान्तर भेदों के कारण सब मिलकर ८२ हो जाती हैं।

इन्हीं वृत्तियोंके निरोध के लिए धारणा, ध्यान तथा समाधि का अनुष्ठान आवश्यक है। धारणादि त्रिक का विषय समान ही होता है। जिस विषय में धारणा की जायगी उसी में ध्यान वृत्ति तथा समाधि का उदय होगा। विषय चार प्रकार के हैं—स्थूल, सूक्ष्म, ग्रहण (इन्द्रिय) तथा ग्रहीता (बुद्धितादात्म्यापन्न पुरुष)। इन्हीं के योगतन्त्र में पारिभाषिक नाम क्रमशः वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता हैं। अतः धारणा, ध्यानवृत्ति तथा समाधि प्रत्येक को विषय-भेद से चार प्रकार का मानना होगा। इस प्रकार धारणादि त्रिक की द्वादश संख्या हो गई। विरक्ति (वैराग्य) दो प्रकार की है—परा तथा

अपरा। अपरा विरक्ति के—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार ये चार भेद हैं। अवान्तर भेद के कारण विरक्ति पांच प्रकार की हुई। अन्तिय भेद है समस्त साधनों का प्रधान साध्य निरोध-समाधि (असम्प्रज्ञात समापत्ति)। इस प्रकार ८२ चित्त-वृत्तियां, १२ धारणादि त्रिक, ५ प्रकार की विरक्ति तथा १ निरोध-समाधि। ये सब मिलाकर चित्त की अवस्थाएं (परिणाम या वृत्तियां) सौ प्रकार की हुई।

अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण के जीवन में १०० रानियों के व्याज से इन्ही चित्त-दशाओं का दिग्दर्शन हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों का एक और भी गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य आपको बत दें। श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों का संकेत शरीर की नाड़ियों की ओर है। जह संकेत युक्तयुक्त भी प्रतीत होता है।। जब श्रीकृष्ण स्वयं योगेश्वरेश्वर होता उनके जीवन में योग साधना का होना अनिवार्य है। योग-साधना का विशेष सम्पर्कशरीर के आधार-चक्र हृच्चक्रादियों से रहता ही है। योग-तन्त्र एवं उपनिषदों में आत्मा का निवास-स्थान मस्तककी भान्ति हृत्पुण्डरीक भी माना गया है। 'हृदि अयं' इस निर्वचन द्वारा यह आत्मा हृत्कमल में रहता है—ऐसा सिद्धान्त भी पुष्ट होता है। इसी लिए छान्दोग्योनिषद् के अध्याय आठ खण्ड प्रथम के '**अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म**—इस ब्रह्मपुरके भीतर जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है—' आदि प्रारम्भिक मन्त्रों में हृदय को 'ब्रह्मपुर' या 'ब्रह्मनगर' भी कहा है। तन्त्रशास्त्र के परिशीलन से पता चलता है कि हृदय की मुख्य नाड़ियाँ सोलह हैं। इसका उल्लेख भवभूति के नाटक मालती-माधव के पञ्चम अङ्क के मङ्गलाचरण के श्लोक में इस प्रकार मिलता है—'**षडधिकदशनाडीचक्रमध्यस्थितात्मा**' जिस हृच्चक्र के मध्यमें आत्मा विराजमान है उस हृच्चक्र का निर्माण सोलह नाड़ियों द्वारा हुआ है।

कठोपनिषद् की छठी वल्ली के सत्तरहवें मन्त्र में ऐसा वर्णन आता है—"**शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका**"—(पुरुष के हृदय की मुख्य नाड़ियाँ एक सौ एक हैं)। ठीक ऐसा ही वर्णन छान्दोग्योपनिषद् के अध्याय ८ खण्ड ६ के छठे मन्त्र में भी मिलता है।—"**शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः**" इन दोनों प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि हृदय की

मुख्य नाड़ियाँ एक सौ एक हैं। प्रश्नोपनिषद् के तृतीय प्रश्न के मन्त्र ६ में ऐसा वर्णन मिलता है—"**हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति**"।—यह आत्मा हृदय में रहता है। इस हृदय में शरीर-धारक प्रधान नाड़ियों की संख्या एक सौ एक है। वहीं शाखा-नाडियों की दस हज़ार एक सौ और प्रतिशाखा नाडियों की ७२ करोड़ ७२ लाख संख्या का पता चलता है। एक सौ एक प्रधान नाडियों में सुषुम्ना नाम की एक नाड़ी मुख्य है, जिसका सम्बन्ध शरीर के आठ चक्रों से रहता है। अतः विभिन्न चक्रों से सम्बन्ध के कारण वह एक ही आठ प्रकार की बन जाती है। अथर्व-वेद १०-२-३१ में शरीर नगरी के आठ चक्रों की चर्चा आती है। ये आठ चक्र हैं—१-आधार चक्र, २-स्वाधिष्ठान चक्र, ३-मणिपूर चक्र, ४-अनाहत चक्र, ५-विशुद्ध चक्र, ६-आज्ञा चक्र, ७-कूर्म चक्र तथा ८-सहस्रार चक्र या शून्य चक्र। इनमें से सात चक्र तो योगशास्त्र में प्रसिद्ध ही हैं। वेद के कथनानुसार आठवाँ चक्र भी अवश्य मानना होगा। वह आठवाँ चक्र है कूर्मचक्र। 'कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्' (यो० सू० ३, ३१) कूर्माकार नाड़ी में संयम करने से स्थिरता होती है—इस योगसूत्र का उसी कूर्मचक्र की ओर संकेत है।

इस प्रकार नाड़ियों की मुख्य संख्या १६ है। उनकी शाखा प्रतिशाखा नाड़ियाँ सहस्रों हैं। सुषुम्ना नाड़ी एक ही है। उसका अष्टविध चक्र के साथ सम्बन्ध होने से वह आठ प्रकार की बन गई। अतः उपनिषद्-वर्णित प्रधान नाड़ियों की संख्या एक सौ आठ हो जाती है। प्रतीत होता है इसी अभिप्राय से श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों का संकेत मिलता है। इस समस्त नाड़ीचक्र का संचालन आत्मदेव के अनुग्रह पर ही निर्भर है अतः आत्मदेव श्रीकृष्ण नाड़ी-रूपिणी १६१०८ रानियों के स्वामी हुए।

अब आप भलीभांति भगवान् श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियों का रहस्य समझ ही गए होंगे। यही तो श्रीमद्भागवत की विशेषता है कि आधिभौतिक स्थूल रूप की सत्यता भी बतला दी और सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्व पर भी प्रकाश डाल दिया।

यहाँ आपके मन में एक शंका अवश्य उठेगी। आप उसका संवरण नहीं कर पाएंगे। परन्तु हम पहले ही उसका समाधान कर देते हैं। आप इस आध्यात्मिक तत्त्व को सुनकर अवश्य चौंक उठेंगे कि यदि सोलह हज़ार एक सौ

आठ रानियों का यही आध्यात्मिक अर्थ है तो फिर इस स्थूल आधिभौतिक कथा का तो बिल्कुल ही अस्तित्व नहीं रहा। इस प्रकार के सूक्ष्म आध्यात्मिक अर्थ से तो यही प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण की इतनी रानियाँ थी ही नहीं। अतः भागवत में वर्णित रानियों की कथाएँ झूठी हैं।

देखना कहीं आप ऐसा निश्चय न कर बैठना। जीवद्वारा लिखित काल्पनिक उपन्यास आदि में प्रायः ऐसा होता है कि उसमें भाव तो सच्चे होते हैं पर पात्र झूठे तथा काल्पनिक होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में आप ऐसा नहीं कह सकते। उनकी चरित्र-रचना में तो भाव तथा पात्र दोनों ही सत्य हैं। एक दृष्टान्त द्वारा इसे हम और भी स्पष्ट कर देते हैं।

एक व्यक्ति सत्सङ्ग में विशेष रुचि रखता है। सन्त महात्माओं के पास आता जाता है। एक दिन उसने महात्मा जी से नम्र-निवेदन किया कि महाराज! आप कोई ऐसा सरल-सा उपाय बताएं जिस से मुक्ति या मोक्ष के साधनों की प्रक्रिया हर समय मेरे सम्मुख उपस्थित रहे। महात्माजी ने उसे इस प्रकार समझाना प्रारम्भ किया—देखो! मोक्ष का सर्व-प्रथम कारण है विवेक। विवेक का तात्पर्य यह है कि यह संसार क्षणभङ्गुर है। मातापिता अभी कल हमारी आँखों के समक्ष उपस्थित थे। आज वे सदा के लिए लुप्त हो गए। अब लाखों करोड़ों रुपया खर्च करने पर भी उनके दर्शन सम्भव नहीं। अन्त में हमारी भी यही दशा होनी है। श्मशान में जाकर हमारी यह मधुर मूर्ति भस्म में परिणत हो जाएगी।

प्रसंगतः श्मशान के विषय में हमें एक घटना याद आगई। एक मनुष्य श्मशान के पास से निकलते समय दूर से चक्कर काट कर निकला करता था। श्मशान से उसे डर लगता था। वहाँ भूत प्रेत रहते हैं ऐसा उसका विश्वास था। श्मशान से दुर्गन्धि तो आया ही करती है। इस प्रकार एक दिन दूर से ही टल कर जा रहे मनुष्य को श्मशान ने आवाज़ देकर कहा—

'श्मशानेन समाहूय नरो नियं निबोध्यते।
मत्तः किं त्रपसे तात! तवेहाऽऽगमनं ध्रुवम्॥'

श्मशान कह रहा है—हे प्यारे! तुम मुझ से क्यों डर रहे हो। मुझे देख लज्जित क्यों हो रहे हो। यदि तुम्हें यहां आना न होता तब तो तुम्हारा डरना

उचित था। परन्तु मित्र! याद रख, एक दिन तुम्हें यहां आना ही पड़ेगा। यह है संसार की क्षणभङ्गुरता से उत्पन्न विवेक। इस विवेक के अनन्तर वैराग्य उत्पन्न होता है। वैराग्य के अनन्तर होता है ज्ञान तथा उस के अनन्तर होती है मुक्ति।

महात्मा जी के ऐसा समझाने पर उस जिज्ञासु पुरुष ने अपने लड़के का नाम विवेक रख लिया। विवेक के जो पुत्र हुआ उसका नाम रख लिया वैराग्य। फिर वैराग्य को जो लड़का पैदा हुआ उसका नाम उसने रखा ज्ञान अर्थात् ज्ञानचन्द्र या प्रबोधचन्द्र। ज्ञान के कोई लड़का नहीं हुआ। एक ही लड़की हुई उसका नाम रखा गया मुक्ति। इस प्रकार इस पुरुष के समग्र कुटुम्ब के सदस्यों के ऐसे ही नाम होगए। एक कुटुम्ब के सदस्यों के ऐसे नाम सुनकर क्या अब आप यह कहना प्रारम्भ कर देंगे कि शास्त्र-प्रतिपादित विवेक वैराग्य आदि साधन अब रहे ही नहीं? क्योंकि ये विवेक आदि तो एक कुटुम्ब के सदस्यो के नाम हैं। विवेक वैराग्य आदि तो वेदान्तशास्त्र-प्रतिपादित मुक्ति के साधन हैं अतः ये किसी कुटुम्ब के सदस्यों के नाम नहीं हो सकते—ऐसा भी आप नहीं कह सकते। मुक्ति के साधन होते हुए भी इनके बाह्य पात्रों के नाम की सत्ता का भी अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः विवेक आदि उस पुरुष के कुटुम्ब के नाम भी हैं और शास्त्र–प्रतिपादित मुक्ति के साधन भी। व्यर्थता किसी की भी सिद्ध नहीं होती।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण की १६१०८ रानियाँ भी थीं और उनसे अतिगूढ सांख्य–योग वर्णित आध्यात्मिक अर्थ भी सूचित होता है। हमारे शास्त्रकारों ने शास्त्रों में कथा आदि के स्वरूप को इस प्रकार वर्णित किया कि जिससे आध्यात्मिक अर्थ भी ध्वनित होता रहे और उसकी वास्तविक सत्यता भी टपकती रहे।

अब आप को यह भी समझादें कि भगवान् कृष्ण देवकी के आठवें गर्भ से ही क्यों आविर्भूत हुए। उस पर भी अष्टमी को ही क्यों? इसका रहस्य यह है कि ईश्वर-प्राप्ति में साधना-रूप योगके ये आठ अंग हैं—१–यम २–नियम, ३–आसन, ४–प्राणायाम, ५–प्रत्याहार, ६–धारणा, ७–ध्यान तथा ८–समाधि। इनमें से १–अहिंसा, २–सत्य, ३–अस्तेय, ४–ब्रह्मचर्य, ५–अपरिग्रह ये पांच यम हैं। १–शौच, २–सन्तोष, ३–तपः, ४–स्वाध्याय,

५—ईश्वर-प्रणिधान—ये पांच नियम हैं। आसन चौरासी प्रकार के होते हैं। श्वासों की निश्चित प्रक्रिया को प्राणायाम कहते हैं। विषयों से इन्द्रियों को हटाना प्रत्याहार कहलाता है। अपने इष्ट-देव में चित्त लगाना धारणा कही जाती है। उसीमें तल्लीन हो जाने को ध्यान कहते हैं। जीव और ब्रह्म की एकाकार वृत्ति का नाम समाधि है। जहाँ ध्याता, ध्यान एवं ध्येय तीनो एकरूप हो जाएं—उसे ही समाधि कहते हैं। यहाँ अष्टम योग हुआ समाधि। हमें भगवान् के दर्शन तभी हो सकते हैं जब हम आठवें योग समाधि-दशा में पहुँच जाएं। आठवें गर्भ से प्रकट होकर भगवान् ने यही सूचित किया कि मैं जिज्ञासु को आठवें योग समाधि में ही प्राप्त हो सकता हूँ। अर्थात् मेरा जन्म देवकी-रूपी बुद्धि से आठवीं श्रेणी समाधि में ही होता है। अष्टमी को आधी रात के समय चन्द्रोदय के साथ ही भगवान् कृष्ण का आविर्भाव हुआ—इस का भी रहस्य आप को बता देते हैं। समाधि से पहले अन्धकार ही अन्धकार छाया रहता है। अष्टमी की आधी रात के अनन्तर जो चन्द्रमा उदय होता है, वही कृष्ण है। जैसे चन्द्रमा उस समय अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार कृष्ण भी समाधि अवस्था में प्रकट होकर बुद्धि के तमोरूपी अन्धकार को दूर करते हैं।

अष्टमी को आविर्भूत होकर भगवान् ने यह भी बताया कि मैं सांसारिक प्राणियों की भान्ति मातापिता के रजोवीर्य से उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरा तो केवल माया–विग्रह है। इसका भावार्थ यह है कि सांख्य मत में पुरुष के अतिरिक्त २४ तत्त्व हैं। उन्हें प्रकृति-तत्त्व तथा विकृति-तत्त्व इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार तथा पञ्चतन्मात्र (सूक्ष्मभूत) ये आठ प्रकृति-तत्त्व हैं। ग्यारह इन्द्रियां तथा पांच स्थूलभूत ये सोलह विकृति-तत्त्व हैं। सांसारिक प्राणियों के शरीर पञ्चतन्मात्रों (सूक्ष्मभूतों), अहंकार (प्रजापति) महत्तत्त्व (ब्रह्मा) तथा आठवीं मूलप्रकृति (माया) इन आठों तत्त्वों से बने होते हैं। परन्तु भगवान् के शरीर को बनाने में न पांचो सूक्ष्मभूतों, न छठे प्रजापति, न ही सातवें ब्रह्मा का हाथ होता है। उनका शरीर तो केवल आठवीं माया के द्वारा ही बना होता है। माया के चमत्कार द्वारा ही धारण किया हुआ होता है। इसी भाव को सूचित करने के लिए भगवान् कृष्ण अष्टमी को ही प्रादुर्भूत हुए।

६

(३२) श्रीकृष्ण माखन-चोर या चित्त-चोर ?

(११-८-१९३८)

सज्जनो! आज आप को भगवान् श्रीकृष्ण की माखन-चोरी का रहस्य बताया जाएगा। बहुत से सज्जन श्रीकृष्ण को चोर ठहराने का प्रयत्न किया करते हैं। इस का कारण यही है कि श्रीकृष्ण के माखन-चोरी के रहस्य को समझने का उन्होंने अभी तक प्रयास ही नहीं किया। इसे तो हम भी मानने को तैयार हैं कि वे चोर ही नहीं, अपि तु चोर-राज थे। वेद भगवान् भी इसकी साक्षी देता है—

"तस्कराणां पतये नमो नमः"

(शुक्ल यजुर्वेद १६, २१)

'उस चोर-राज के लिए मेरा बार बार प्रणाम है'। हां वे चोर तो अवश्य थे परन्तु ऐसे नहीं थे जैसा आपने समझ रखा है। वे साधारण चोर नहीं थे। साधारणतया चोर उसे कहा जाता है जो हमारी इच्छा के विपरीत गुप्त ढंग से हमारी वस्तु उठाकर ले जाता है। तो क्या आपने श्रीकृष्ण को भी इसी कोटि का चोर समझ लिया? परन्तु बात ऐसी नहीं है। गोपियों की तो हार्दिक अभिलाषा यही रहती थी कि भगवान् हमारा ही माखन स्वीकार करें। भक्त की इच्छा हो भगवान् को कुछ देने की। उसमें भी श्रद्धा-भक्ति का पुट हो। फिर भला यह कैसे हो सकता है कि भगवान् भक्त की श्रद्धापूर्वक समर्पित की गई भेंट को स्वीकार न करें। उन्हें उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा। वे अपने ही द्वारा घोषित किए गए नियम में बद्ध हैं—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता-९, २६)

'जो भक्त पत्र, पुष्प, फल अथवा जल भक्ति-पूर्वक मुझे समर्पण करता है, उस शुद्ध-चित्त वाले भक्त द्वारा दिये हुए उस पदार्थ को मैं अवश्य स्वीकार करता हूं।' यहाँ भगवान् ने यही घोषणा की है कि मैं भक्त द्वारा समर्पित प्रत्येक पदार्थ सहर्ष स्वीकार करता हूं, परन्तु समर्पित किया गया हो श्रद्धाभक्ति तथा प्रेम-पूर्वक। श्रद्धा-पूर्वक समर्पित वस्तु को भगवान् अवश्य स्वीकार करते हैं—इसका गर्ग ऋषि की एक आख्यायिका से और भी स्पष्टीकरण हो जाता है।

एक बार गर्ग ऋषि भगवान् श्रीकृष्ण के नामकरण संस्कार के निमित्त नन्द बाबा के घर पधारे। माता यशोदा ने प्रार्थना की—भगवन्! इस विधि-विधान में तो बहुत समय लग जाएगा। इस लिए आप पहले कुछ बनाकर खालें तो अत्युत्तम होगा। गर्ग ने स्वीकृति दे दी। माता यशोदा ने गर्ग जी को दूध, घृत, मीठा आदि सब सामग्री लाकर दे दी। थोड़ी देर में गर्ग जी ने भोजन बनाकर तैयार कर लिया। अब खाने की बारी आई। पहले परम-पिता परमात्मा को भोग लगे तभी तो खाएं। भोजन आगे रख घण्टी बजाई। आँखे बन्द करके लगे गुनगुनाने—

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।'

"हे गोविन्द! यह सब कुछ आपका ही दिया हुआ है। इस लिए आप ही की भेंट करता हूँ—इसे स्वीकार करें।"

बस फिर क्या था। कृष्ण कन्हैया झटपट गर्ग जी की थाली पर आ डटे और लगे खीर समेटने। गर्ग जी ने आँखे खोलीं, कृष्ण कन्हैया को थाली पर झुक कर खीर खाते देखा तो बड़े विस्मित हुए, लगे यशोदा को पुकारने—ओ अरि यशोदे! यह तेरा लला तो बहुत शरारती हो गया है। मेरा सब भोजन जूठा कर दिया। यह सुन यशोदा ने कृष्ण कन्हैया को डाँटा फटकारा तथा धमकाया और उसे वहाँ से उठा कर दूर ले गई। उसने गर्ग जी को भोजन बनाने की सामग्री दोबारा दे दी। अब गर्ग जी ने सोचा कि देर बहुत होगई है चलो जल्दी से हलवा (कड़ाह-प्रसाद) ही बना लेते हैं। झट से हलवा तैयार कर लिया। इधर उधर देखा तो लला पास में नहीं था। अब फिर आँखे बन्द कर के लगे वही गुनगुनाने—**'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये**। आँखे खोलीं तो देखा कि कन्हैया फिर हलवा पर

हाथ साफ कर रहे हैं। अब गर्ग जी का पारा चढ़ गया। क्रुद्ध हो लगे यशोदा को डाँटने फटकारने। गर्ग जी को क्रुद्ध देख यशोदा क्षमा-याचना करने लगी। परन्तु गर्ग जी और भी आवेश में आ गए। अब यशोदा ने भयभीत होकर कहा महाराज! मैं इसे कोठरी में बंद कर ताला लगा देती हूँ। चाबी आप अपने ही पास रखें। यह कह यशोदा ने कन्हैया को कोठरी में बन्द कर ताला लगा दिया। चाबी सम्भाल दी गर्ग जी को। गर्ग जी ने तीसरी बार फिर भोजन बनाया। अब वे निःशंक होकर फिर भोग लगाते हुए प्रार्थना करने लगे—'**त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।**'' कन्हैया कब रुकने वाले थे। उनकी प्रार्थना सुनते ही थाली पर आजमे और लगे लपालप भोग लगाने। यह देख गर्ग जी आश्चर्य-चकित रह गए। यशोदा जी बहुत घबराईं। क्रोधावेश में आकर कृष्ण को डाँटने फटकारने लगीं। तब कन्हैया से भी नहीं रहा गया। वे माताजी से कहने लगे—माँ! तू मुझे ही क्यों डाँटती है। गर्ग जी को क्यों नहीं रोकती। मेरा तो यह नियम है कि जो मुझे भक्ति एवं श्रद्धायुक्त होकर कुछ भी भेंट करता है—मैं उसे अवश्य ही स्वीकार करता हूँ।

ठीक यही बात थी गोपिकाओं की। गोपियाँ श्रीकृष्ण को श्रद्धापूर्वक माखन दिया करती थीं। श्रीकृष्ण भी उसे प्रेमपूर्वक स्वीकार किया करते थे। यदि भगवान् भक्त द्वारा श्रद्धापूर्वक दी गई वस्तु को स्वीकार नहीं करते तो भगवान् को यह भय लगा रहता है कि कहीं मेरा प्यारा भक्त नाराज़ न हो जाए। न स्वीकार करने से कहीं भक्त के मन में दुःख न हो। भक्त के दुःख को भगवान् भला कब सहन कर सकते हैं। भगवान् ने नामदेव का दूध न पिया। नामदेव जी ने भी यह निश्चय कर लिया कि या तो भगवान् मेरा श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दूध पी ही लेंगे—या फिर मेरी प्राणों की बाजी ही लग जायगी। नामदेव जी ने स्पष्ट कह दिया—

बैठे हैं तेरे दर पै कुछ करके उठेंगे।
या वसल ही होगा या मर के उठेंगे॥

भक्त की यही तो दृढ़ निष्ठा है कि वह भगवान् के साथ भी पण लगाने से न झिझके। भगवन्! मैं तो आपको अवश्य भेंट देकर ही छोड़ूँगा। यदि

भगवान् स्वीकार नहीं करते तो भक्त आग्रह करके उसे स्वीकार कराने का प्रयत्न करते हैं। गोपिकाएं भी कृष्ण से माखन खाने के लिए आग्रह किया करती थीं। माखन की तो बात ही क्या उन्होंने तो अपना तन, मन, धन सब कुछ बाल-मुकुन्द को ही अर्पण कर छोड़ा था। इसी भाव को प्रकट करने का गोपियों का विचित्र ढंग देखिए—

> **भक्ति-प्रीति-प्रणय-सहितं मान-दम्भाद्यपेतम्,**
> **चेतोऽस्माकं गुणवदगुणं गोदुहामङ्गमेतत्।**
> **विक्रीतं ते युगपदुभयं स्वीकृतं तत्त्वयाद्य,**
> **हृद्गृह्णासि त्यजसि च वपुनार्थ कोऽयं विचारः॥**

गोपियाँ कहती हैं प्रभो! हमारा मन भक्ति, प्रीति और प्रणय से युक्त है। अपने से बड़े के प्रति प्रेम को भक्ति कहते हैं। पुत्र की पिता के शिष्य की गुरु के प्रति भक्ति होती है। समान कक्षावालों के पारस्परिक प्रेम को प्रीति कहा जाता है। जैसे दो मित्रों का आपसी प्रेम। प्रणय उसे कहते हैं जो प्रेम बडों का छोटों के प्रति होता है। जैसे पिता तथा गुरुदेव का अपने पुत्र तथा शिष्य के प्रति। गोपियाँ कह रही हैं—भगवन्! हमारे मन की भक्ति, प्रीति तथा प्रणय सब कुछ आप में ही केन्द्रित है। यही तो भक्ति (प्रेम) की पराकाष्ठा है कि चारों ओर से अपने प्रेम को हटाकर केवल प्रभु में ही भक्ति, प्रीति तथा प्रणय किया जाय। यदि भगवान् के अतिरिक्त और किसी के साथ हमारी भक्ति, प्रीति तथा प्रणय होता है तो ऐसी अवस्था में हम भगवान् के सच्चे प्रेमी बनने के अधिकारी नहीं हो सकते। हम अपनी माता, पिता, बंधु, भाई, पति तथा पुत्र सब उस ईश्वर को ही समझ लें। तभी हम भक्ति की उच्च श्रेणी तक पहुंच सकते हैं। आजकल तो ऐसे भक्त विरले ही मिलेंगे जो भगवान् में ही सभी प्रकार की भावना करलें। वैसे तो हम मंदिर में जाकर भगवान् के सम्मुख कह आते हैं—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव...'। परंतु इतना कह कर जब मंदिर से बाहर आते हैं तब प्रभु न तो माता हैं न पिता। फिर तो सांसारिक माता पिता ही सच्चे माता पिता हैं। संसार के नश्वर पदार्थ ही धन हैं।

गोपियाँ कहती हैं भगवन्! हमने तो आपको ही सब कुछ समझ रखा है।

हमारे मन में किसी प्रकार का कोई छल कपट भी नहीं है। इसी लिए हमने आपके साथ एक सौदा किया था। हमने अपना मन तथा शरीर दोनों ही आप को बेच डाले थे। आपने दोनों को स्वीकार भी कर लिया था। परन्तु आप अपने सौदे पर पक्के नहीं रहे। आप ने प्रतिज्ञा-भंग कर दिया। साधारण व्यापारी भी अपने वचन से नहीं टलते चाहे उन्हें हानि ही उठानी पड़े। परन्तु प्रभो! अब आप अपने किए हुए सौदे से टल रहे हैं। आप ने चित्त और शरीर दोनों को इकट्ठे स्वीकार किया था, परन्तु अब आप हमारे चित्त को तो ले जा रहे हो। हमारे शरीर को—जिसे हमने आपके चरणो में अर्पित कर दिया है—छोड़े जा रहे हो। अब आप बैठ गए राजगद्दी पर। हमारे ग्वालिनों के शरीर से आपको घृणा हो रही है। परन्तु प्रभो! हृदय को ग्रहण कर शरीर को छोड़ना यह उचित नहीं है। प्राणनाथ! आपने यह कैसा निष्ठुर विचार कर लिया?

गोपियों के प्रेम की इस पराकाष्ठा को देखते हुए अब आप भली-भान्ति समझ गए होंगे कि क्या कृष्ण-कन्हैया गोपियों के माखन के वास्तविक चोर थे? नहीं; वे गोपिकाएं स्वयं ही प्रेमपूर्वक कन्हैया को माखन भेंट किया करती थीं! उन्हें हर समय कृष्ण का ही ध्यान रहता था। दही बिलोते, खाते, सोते, झाड़ू देते प्रत्येक समय उन्हें कृष्ण की ही याद रहती थी। वे श्रीकृष्ण को माखन खिला कर अपने आप को कृतकृत्य समझती थीं। वे प्रतिक्षण यही प्रार्थना किया करती थीं कि कब प्रभु हमारा माखन स्वीकार करें और कब हम कृतार्थ हों। तो क्या ऐसी परिस्थिति में आप बाल-मुकुन्द कृष्ण कन्हैया को चोर ठहराने का साहस कर सकते हैं?

क्या आप अपने घर में चोरी करने आए चोर को देख कर कभी ऐसा कहेंगे—आइए चोर जी! यह हमारी वस्तु है, इसे उठा लो। यदि अभी अन्धेरा है तो प्रातःकाल उठा लेना। रात भर यहीं ठहर जाओ। यदि ठहरना नहीं चाहते, जाने की ही प्रबल इच्छा है तो दीपक लाकर प्रकाश कर देते हैं। आप को जो वस्तु अच्छी लगे, उसे ही उठा कर ले जाओ। यदि आप को उसे उठाने में कष्ट प्रतीत होता हो तो हम साथ चलकर उसे आप के घर तक पहुँचा आते हैं। क्या आपने कभी ऐसा व्यवहार किसी चोर के साथ

किया है ? मेरे विचार में तो चोर को घर में घुसा देख आप तत्काल उसे पकड़ने का प्रयत्न करते हैं।

अब आप कृष्ण-कन्हैया की ओर भी दृष्टि-पात करें। उनके प्रति कैसे कैसे शब्द कहे जाते थे। गोपिकाओं का उनके प्रति क्या ही शुद्ध तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार था। कन्हैया के प्रति क्या ही रस-परिपूर्ण कोमल शब्द गोपियाँ प्रयुक्त किया करती थीं। एक दिन बाल मुकुन्द किसी गोपी के घर माखन खाने की इच्छा से जा पहुँचे। घर सूना था। बालमुकुन्द ने सोचा अच्छा अवसर हाथ लगा है। भगवान् लगे माखन पर हाथ साफ करने। इतने में गोपिका भी कहीं से आ टपकी। नन्द-नन्दन गोपी के डर के मारे लगे सरपट दौड़ने। मध्यान्ह का समय था। धूप भी कड़ाके की पड़ रही थी। ऐसी कड़ी धूप में भागते हुए कन्हैया को देखकर गोपी का हृदय करुणा से आर्द्र हो गया। वह कन्हैया को सम्बोधन करके कहती है—

नीतं यदि नवनीतं नीतं नीतं च किं तेन।
आतप-तापित-भूमौ माधव मा धाव मा धाव॥

ओ कोमल-कलेवर माधव ! यदि तूने माखन ले ही लिया तो क्या हुआ ? डरकर भाग क्यों रहे हो ? यह माखन तो तुम्हारा ही है। अतः हे नन्दनन्दन ! तुम प्रखर धूप से संतप्त पृथ्वी पर मत दौड़ो, मत दौड़ो।

इसमें गोपिका का एक और भी भाव छिपा हुआ है। वह यह है—गोपिका सोचती है कि भगवान् के चरणकमल तो हम जैसी भक्ताओं के हृदय मन्दिर में विराजमान रहते हैं। यदि भगवान् बालमुकुन्द के चरण-कमल धूप से संतप्त पृथ्वी पर रखनेसे जल उठे तो क्या हमारा हृदय विना जले रह जायगा। इसी भाव को लेकर गोपिका भगवान् बालमुकुन्द को धूप में भागने से रोकना चाहती है।

अब आप गोपिकाओ के प्रेम को देखकर स्वयं समझ सकते हैं कि क्या भगवान् वास्तव में चोर थे। अस्तु, वे चोर तो थे इस मे तो कोई सन्देह नहीं। इसे तो हमने 'तस्कराणां पतये नमो नमः' इस वेदोक्ति के अनुसार पहले ही स्वीकार कर लिया है। हाँ वे चोर तो अवश्य थे पर बाह्य वस्तु के चोर नही थे। वे थे चित्त के चोर।

अहो ! कैसे अनूठे चित्त-चोर हैं। दर्शन-मात्र से ही भक्त के हृदय को चुराने में नहीं झिझकते। इसी लिए तो वेद भगवान् ने 'चोर-राज' यह इतनी बड़ी उपाधि दी है। इसी लिए वेद ने भगवान् को वस्तु-चोर नहीं कहा। उसी चित्तचोर के दर्शन-मात्र से ही ताज़ बेग़म मुग़ल धर्म को छोड़ कर हिन्दुआनी होने को तत्पर हो गई थी। अब आप स्वयं ही बताएं कि क्या बालमुकुंद माखन-प्रिय होने के कारण किसी अनुचित लाँछन के भागी हो सकते हैं ?

यदि अब भी प्रभु के दिव्य-स्वरूप तथा माखन-हरण का वास्तविक ज्ञान आपको नहीं हुआ तो आप वैधानिक रीति से भी बालमुकुन्द को अपराधी नहीं ठहरा सकते। यह विधान तो आजकल भी है कि पांच सात वर्ष का बालक यदि चोरी कर भी ले तो उस पर अभियोग चला कर उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। नन्द–नन्दन उस समय केवल चार पांच वर्ष के ही थे। उन्हों ने गोवर्धन पर्वत को सात वर्ष की आयु में उठाया था। इसमें व्यास जी का निम्नलिखित वचन प्रमाण है—

'क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्रिविधारणम्'।

(कहाँ तो सात वर्ष का बालक, कहाँ इतने बड़े पर्वत का उठाना)

भगवान् कृष्ण ने पांच या छः वर्ष की अवस्था में चीरहरण-लीला दिखाई। चार तथा पांच वर्ष की अवस्था के बीच माखन हरण लीला दिखला कर एक आदर्श हमारे सम्मुख उपस्थित किया। इसका रहस्य आप को कल के व्याख्यान में बताया जाएगा। साथ में यह भी बताया जायगा कि कृष्ण कन्हैया अपने घर का माखन छोड़ कर गोपिकाओं का माखन खाना अधिक रुचिकर क्यों मानते थे। माखन की कमी तो नन्द बाबा के यहाँ भी नहीं थी। परन्तु यशोदा के दिए गए माखन को भगवान् ने क्यों नही पसन्द किया ? विश्वात्मा भगवान् समष्टि-रूप से माखन खाकर यह अभिव्यक्त करना चाहते थे कि प्रत्येक भारतवासी के श्वास से दूध, दही, घृत तथा माखन की ही सुगन्धि आए।

७

श्रीकृष्ण यशोदा का माखन क्यों नहीं खाते थे ?

(१२-८-१९३८)

सज्जनो ! पुरुषोत्तम मास के थोड़े ही दिन शेष रह गए हैं। इन थोड़े से दिनों में आपको प्रायः रासलीला सुनाई जाएगी। गत दिन आपको भगवान् की माखन-चोरी का रहस्य बताया गया। आज आपको यह समझाया जाएगा कि जब श्रीकृष्ण की माता यशोदा के घर में ही बहुत दूध, दही तथा माखन था तो उन्हें गोपियों के घर से माखन लेने की क्या आवश्यकता थी ? इस रहस्य को समझने से पहले आप एक नियम समझ लें।

जो काम ममता या वैयक्तिक भावना से किया जाता है, उस से वैयक्तिक लाभ ही हुआ करता है। जैसे बंगले आदि वैयक्तिक भावना रख कर बनाने से वे आप के पुत्रों के ही काम आसकेंगे। यदि कोई स्थान भगवन्निमित्त बनाया जाता है तो उससे समस्त समाज को लाभ होता है, क्योंकि भगवान् विश्वात्मा है। धर्मशाला आदि का दृष्टान्त आप के सम्मुख ही है। ऐसे स्थान भगवान् के निमित्त बनाए जाते हैं। इसी लिए उनके उपयोग का अधिकार समस्त समाज को होता है। यदि कोई स्थान वैयक्तिक या आत्मीय-भावना से बनाया गया है तो उसका उपयोग तो केवल आप ही कर सकेंगे। भगवान् के लिए समर्पित किया गया पदार्थ समस्त जगत् के लिए समर्पित किया गया समझना चाहिए।

गोपियाँ भी समस्त वस्तुएं भगवान् के निमित्त ही समर्पण करती थीं। वे अपने पदार्थों पर आत्मीयता या ममता का भाव नहीं रखती थीं। यदि वे अपना माखन समझकर उसे वैयक्तिक भावना से भगवान् को समर्पित करतीं तो भगवान् उनके उस माखन को कभी भी स्वीकार न करते। भगवान् का हार्दिक अभिप्राय यह था कि जब तक वे संसार में रहें तब तक कोई भी व्यक्ति

भोजन तैयार कर लेते हैं। दुर्वासा जी नदी पर स्नान करने चले गए। इधर द्रौपदी-सहित पांचों पाण्डव चिन्ता-सागर में डूबने उतराने लगे। और कोई भी उपाय न देख कर द्रौपदी ने अपने भैया कृष्ण का स्तुतिद्वारा स्मरण किया। बस फिर क्या था भक्तवत्सल भगवान् श्रीकृष्ण पैर पलोटती रुक्मिणी को छोड़ उसी समय भागे भागे द्रौपदी के पास आकर कहने लगे—बहिन! बहुत ज़ोर की भूख लगी है कुछ खाने को दो। द्रौपदी ने और भी उच्च स्वर से रोते हुए कहा—सर्वान्तर्यामिन्! आप मुझे और भी करुणाजनक अवस्था में डाल रहे हो। यदि भोजन ही होता तो आपको यहाँ तक बुलाने का कष्ट क्यों देती? मैंने भोजन कर लिया है इस लिए सूर्य-प्रदत्त स्थाली भी अब कुछ नहीं दे सकती। पर बाँके-विहारी कब मानने वाले थे। झटसे स्थाली को भीतर से निकाल लाए। उसे ध्यान से देखा, एक तिनका उसमें कहीं लगा था। बस, उसी को खाकर कह दिया—

"अनेन विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्"

इस (शाक के तिनके) से विश्वरूप भगवान् सन्तुष्ट हो जाएं। इतना कहने की ही देर थी कि समस्त संसार तृप्त हो गया। जिधर देखो प्रत्येक व्यक्ति डकारें ले रहा है। ऐसा हो भी क्यों न? भगवान् ठहरे विश्वरूप, उनकी तृप्ति से समस्त विश्व की तृप्ति हो ही जाती है। उधर नदी पर स्नान कर रहे दुर्वासा तथा उनके सहस्रों शिष्य भी तृप्त हो कर डकारें लेने लगे। वे पाण्डवों के पास न आकर उधर के उधर ही चले गए क्यों कि उन्हें डर यह था कि पाण्डवों ने तो भोजन बना लिया होगा—अब हम उसे कैसे खाएंगे।

कृष्ण-कन्हैया यशोदा मैया के माखन को छोड़ गोपियों के माखन को जो स्वीकार करते थे, उसमें भी यही रहस्य था। यशोदा श्रीकृष्ण को अपना पुत्र समझ कर माखन खिलाया करती थी। उसका श्रीकृष्ण के प्रति ममता अथवा आत्मीयता का भाव रहता था। यह मेरा पुत्र है। माखन खाकर यह मोटा होगा। इस से केवल यशोदा का ही लाभ हो सकता था। समाज को इस से कुछ भी लाभ नहीं था। व्यक्तिगत वस्तु से समाज को क्या लाभ? परन्तु गोपियों की यह भावना नहीं होती थी। उनका दृष्टिकोण विशाल था। वे श्रीकृष्ण को भगवान् समझ कर माखन दिया करती थीं। यह हम पहले ही

कह आए हैं कि भगवान् के निमित्त समर्पण की गई वस्तु से समस्त संसार को लाभ पहुँचता है। भगवान् कृष्ण यही चाहते थे कि उनके रहते प्रत्येक व्यक्ति के श्वासों से दूध, दही, घी तथा माखन की ही सुगन्धि आए। कोई भी व्यक्ति दही दूध से भूखा न रह जाए। इसी लिए भगवान् यशोदा के माखन को स्वीकार न कर गोपियो के माखन को स्वीकार करते थे। भगवान् को दिए गए गोपियों के माखन से समस्त विश्व की तृप्ति होती थी। इसी कारण भगवान् के द्रौपदी के घर शाक का एक तिनका खाने से ही समस्त जगत् तृप्त हो गया; परन्तु रुक्मिणी आदि सोलह हज़ार एक सौ आठ रानियों के घर प्रतिदिन छप्पन प्रकार के भोजन करने से भी विश्व की तृप्ति नहीं होती थी। कारण यह था कि रुक्मिणी आदि रानियाँ भगवान् को अपना पति समझ कर ममता या वैयक्तिक-भावना से ही उन्हें भोजन कराती थीं। उनकी भगवान् के प्रति विश्वपति की भावना नहीं थी।

गोपिकाएं भगवान् को विश्वपति की भावना से ही माखन दिया करती थीं। समग्र विश्व उसी विश्वपति में ही समाया हुआ है। विश्वपति की तृप्ति से विश्व तृप्त हो ही जायगा। गोपिकाओं का माखन स्वीकार करने से भगवान् का उद्देश्य भी पूरा हो गया। समस्त विश्व दूध-दही से तृप्त होगया। सभी के मुख से दूध-दही की सुगन्धि से युक्त उद्गार निकलने लगे। इसी कारण यशोदा मैया के माखन की उपेक्षा कर कृष्ण-कन्हैया गोपिकाओं का माखन स्वीकार करते थे। हमें भी विश्वपति की भावना रखते हुए सब कुछ भगवान् की सेवा में ही समर्पित कर देना चाहिए। हमें अपनी प्रत्येक क्रिया में भगवद्-भावना रखनी चाहिए। इसी से हमारी भावना उच्चस्तरीय हो सकेगी। भक्त जब प्रेम-राज्य में पदार्पण करता है तब यही कहता है—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्,
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो,
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो ! तवाराधनम्॥

भक्त कहता है—हे प्रभो ! मेरा आत्मा तुम हो, बुद्धि पार्वती जी हैं, प्राण आपके गण हैं, शरीर आपका मंदिर है, सम्पूर्ण विषयोपभोग की रचना

आपकी पूजा है, निद्रा समाधि है, मेरा चलना फिरना आपकी परिक्रमा है तथा मेरा वार्तालाप आपकी स्तुति है। अधिक क्या कहूँ जो जो काम भी मैं करता हूँ वह सब आपकी ही पूजा का रूपान्तर है।

जब हमारी भावनाएं इतनी उदार हो जाएंगी तो फिर हमारे लिए मुक्ति का द्वार खुलने में क्या देर हो सकती है। इस प्रकार हमारी भावनाओं का केन्द्र-बिन्दु विशाल हो जाता है। ऐसी विशाल भावनाएं होनेपर हम सांसारिक पदार्थों के ममत्व में नहीं फँस सकते। हम अपनी विशाल भावनाओं का केंद्र-बिन्दु विश्वपति को बना कर साथ साथ समग्र विश्व की सेवा कर सकते हैं। विश्वसेवा के अन्तर्गत ही जातिसेवा तथा देशसेवा भी आ ही जाती हैं। विश्व की सेवा से विश्वपति की सेवा तथा विश्वपति की सेवा से विश्व की सेवा हो ही जाती है।

हमारी भावनाएं आत्मीयता तथा वैयक्तिकता की छोटी परिधि से बहुत ऊँची उठी होनी चाहियें। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के प्रारम्भ में पहले ब्रह्मज्ञान का तदनन्तर धर्मज्ञान का प्रतिपादन कर के इसी भाव का स्पष्टीकरण किया है। इसे विस्तार से समझ लीजिए। उस समय अर्जुन की दो भूलें थीं। पहली भूल थी कि वह शरीर को आत्मा मान रहा था, मिथ्या संसार को सत्य मान रहा था और जन्म-मरण आदि अनात्म धर्मों को आत्मा में कल्पित कर रहा था। उसकी दूसरी भूल यह थी कि वह 'युद्ध करना' इस क्षत्रिय–धर्म को छोड़कर भिक्षा माँगकर उदर–पूर्ति करना ही अपना धर्म समझ बैठा था। इनमें से पहली भूल केवल अर्जुन की ही नहीं थी। इसमें तो सारा संसार ही फँसा हुआ है। प्रायः सभी अनित्य शरीर को ही आत्मा मान बैठे हैं। मिथ्या संसार को ही सत्य समझ रहे हैं। दूसरी भूल केवल अर्जुन की थी। उस समय वह 'भिक्षा माँगना' जो कि क्षत्रिय का धर्म नहीं है उसी को अपना धर्म समझ बैठा था।

इनमें से पहली भूल व्यापक अथवा समस्त संसार की भूल होने के कारण सामाजिक भूल है। दूसरी भूल केवल अर्जुन की होने के कारण वैयक्तिक भूल है। अब भगवान् पहले किस भूल का निराकरण करें सामाजिक का या वैयक्तिक का? भगवान् ने अर्जुन के वैयक्तिक हित की उपेक्षा कर सामाजिक हित की ओर ही ध्यान दिया। पहले ब्रह्मज्ञान के उपदेश द्वारा सामाजिक भूल का निराकरण करके ही धर्म के उपदेश द्वारा अर्जुन की वैयक्तिक भूल का

निराकरण किया। वैसे सामान्यतया नियम यह है कि पहले धर्म का उपदेश और उसके अनन्तर ब्रह्मज्ञान का उपदेश हुआ करता है। वेद में भी पहले कर्मकाण्ड और तदनन्तर ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादन है। विधिपूर्वक किए गए कर्मों के द्वारा अन्तःकरण के पवित्र होने पर ही ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया जाता है। परन्तु गीता में भगवान् ने इस क्रम को उलट दिया। पहले बीस श्लोकों (अध्याय २ श्लोक ११ से ३० तक) में ब्रह्मज्ञान का उपदेश देकर बाद में अर्जुन को स्वधर्म का उपदेश दिया। ऐसा विपरीत क्रम करने का भगवान् का तात्पर्य यही है कि जहाँ पर किसी के सम्मुख सामाजिक तथा वैयक्तिक दोनों प्रकार के लाभ उपस्थित हो जाएं वहाँ पहले सामाजिक हित का सम्पादन करना चाहिए। सामाजिक हित के सम्मुख वैयक्तिक या आत्मीय हित की उपेक्षा कर देनी चाहिए। पहले ब्रह्मज्ञान के उपदेश का भी तात्पर्य यही है कि इस से सामाजिक भूल का निराकरण होता है। इससे सारे समाज का लाभ है। स्वधर्म के उपदेश से केवल अर्जुन का वैयक्तिक लाभ होता है इस लिए उसे बाद में कहा गया है। सारांश यह हुआ कि जहां सामाजिक हित तथा वैयक्तिक हित का प्रश्न आपके सम्मुख उपस्थित हो जाए वहां आप अपने वैयक्तिक हित की उपेक्षा करके पहले सामाजिक हित की ओर ही ध्यान दें। यही भगवान् का क्रम-व्यत्यय करने का अभिप्राय है।

गीता के प्रकरणों के सारगर्भित होने की तो बात ही जाने दो गीता के तो अक्षर भी विशेष तात्पर्य से रहित नहीं हैं। प्रसङ्ग-वश आपको गीता के प्रारम्भ तथा अन्त के अक्षरों का रहस्य समझा देना अनुचित न होगा। गीता का वास्तविक प्रारम्भ होता है दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' से तथा समाप्ति होती है 'ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम' इस श्लोक से। गीता का प्रारम्भ भी 'अकार' अक्षर से होता है और गीता की समाप्ति भी 'अकार' से ही होती है। अकार से ही प्रारम्भ और समाप्ति क्यों? किसी दूसरे अक्षर से क्यों नहीं? अब इसका रहस्य सुनिए—'अकार' का अर्थ "विष्णु" होता है—'अकारो वासुदेवः'। इसका अभिप्राय यह है कि इस संसार का आदि विष्णु है अर्थात् यह संसार विष्णु भगवान् से ही उत्पन्न होता है और अन्त में विष्णु भगवान् में ही लीन हो जाता है। इस संसार की समाप्ति भी उसी में है।

८

मुक्ति के प्रतिबन्धक आठ पाश

(१३-८-१९३८)

सज्जनो! आज आपको भगवान् की 'चीर-हरण' लीला का रहस्य समझाया जाएगा। पहले आपको इस का रहस्य यह समझाया था कि भगवान् ने गोपियों की नग्न-स्नान की कुप्रथा को हटाने के लिए ही उन के वस्त्र-हरण किये थे। भगवान् ने इस कुरीति का बहुत ही चातुर्यपूर्ण ढंग से निराकरण किया। पारस्परिक गृह-कलह या गृह-युद्ध आदि का कोई अवसर ही उपस्थित नहीं होने दिया। यह तो इसका आधिभौतिक भाव था। अब आप को इसका आध्यात्मिक भाव बता रहे हैं।

गोपियों के वस्त्रहरण के रहस्य को भली-भाँति न समझ कर बहुत से लोग भगवान् कृष्ण पर व्यर्थ का ही सन्देह करने लग जाते हैं। उनपर कलङ्क लगाने की कुचेष्टा से भी नहीं झिझकते। परन्तु इसके वास्तविक रहस्य को जान लेने पर यही वस्त्रहरण भगवान् के पूर्णवतार में विशेष प्रमाण सिद्ध होगा।

कभी आपने यह सोचा है कि आप वस्त्र क्यों धारण करते हैं? इसका आप यही उत्तर देंगे कि लज्जा के कारण ही सभी स्त्री-पुरुष वस्त्र धारण करते हैं। लज्जा तभी होती है जब काम-भावना या विषय-वासना का उदय होता है। कामभाव के उदय होने पर ही लज्जारूपी पाश से स्त्री-पुरुष बँध जाते हैं। बालक में काम-भाव का अभाव रहता है इसी लिए वह वस्त्रों की परवाह नहीं करता। वह नंगा भी घूमता रहे तो भी उसे लज्जा नहीं आती। उसे स्त्री-पुरुष का भेदज्ञान भी ठीक ठीक नहीं होता। इसी लिए उसे लज्जा भी नहीं आती।

यही अवस्था होती है परमहंसों की। वे ब्रह्म-ज्ञानी होते हैं। स्त्रीपुरुष का भेदभाव उनके लिए रहता ही नहीं। वे तो केवल अपने आत्मा में ही रमण करते हैं। स्त्री-पुरुष का भेदभाव न रहने से ही उनमें कामभाव भी नहीं

रहता। इसीलिए वे लज्जा के पाश से मुक्त हो जाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त परमहंसों का वस्त्र अपने आप ही उतर जाता है। परम-पिता परमात्मा उनके वस्त्र रहने ही नहीं देता। परमात्मा सोचते हैं, क्यों न इसे प्रकृति देवी की गोद में उन्मुक्त क्रीड़ा करने दूँ। जब इसे स्त्री-पुरुष का भेद-ज्ञान ही नहीं है तो वस्त्रों के बन्धन में इसे क्यों डाले रखूँ। जब पुरुष अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का ज्ञान ही नहीं रखता तो उसे किसी प्रकार की लज्जा का प्रश्न ही नहीं उठता। आप भी इस बात का अनुभव करते होंगे कि जब आप अकेले ही स्नान-गृह में स्नान कर रहे हैं तो आप एकदम नग्न हो जाते हैं। आप वहां अपने से अतिरिक्त किसी को देखते ही नहीं। इसी लिए आपको नग्न होने में भी लज्जा नहीं आती। अपने से अतिरिक्त समझने से ही स्त्री-पुरुष का ज्ञान होता है। ऐसी अवस्था में ही कामदेव अपना सिंहासन हमारे हृदयों में जमाता है और तभी हमें लज्जा का अनुभव होता है।

अब विचारना यह है कि परमहंस के वस्त्र का स्वतः ही हरण कब होता है? पुरुष परमहंस तभी बन सकता है जब उसका काम-भाव पूर्णतया नष्ट हो जाए। काम-भाव पूर्णतया तभी नष्ट हो सकता है जब साधक साधना के द्वारा संसार की समस्त स्त्रियों को जगदम्बा कात्यायनी के रूप में देख सके। समस्त संसार को ही परमात्म-रूप में अनुभव कर सके। इस प्रकार की भावना से ओत-प्रोत महापुरुष के मन में कभी भी कामभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। चाहे वह स्त्री-पुरुष-मय संसार में ही क्यों न रहता हो। उसमें लज्जा का भाव भी उत्पन्न नहीं होगा।

गोपियों के वस्त्रों का हरण भी भगवान् ने ऐसी ही अवस्था में किया था। गोपियाँ उस समय आध्यात्मिक अवस्था को प्राप्त कर चुकी थीं। वे एक परमहंस की भांति होगई थीं। वे श्रीकृष्ण को ही घट-घट में विराजमान सर्वव्यापक परमपति परमात्मा समझती थीं। उन्हीं को पतिरूप में प्राप्त करने के लिए ही वे कात्यायनी-व्रत के अनुष्ठान में संलग्न थीं। वे इस मायामय संसार से ऊब कर इसका परित्याग कर देना चाहती थीं। इस प्रकार की साधना में उनके व्रत का मुख्य अंग था स्नान। यह अवस्था प्रायः जीवन्मुक्त परमहंसों की होती है। ऐसी अवस्था में जब गोपियाँ परमहंस पद को प्राप्त

होने वाली थीं तो भगवान् द्वारा उनका वस्त्र-हरण करना उचित ही था। यदि भगवान् उस समय ऐसा न करते तो वे भगवान् ही न कहलाते। यदि भगवान् परमहंस के वस्त्रों का हरण न करें तो भगवान् के ईश्वरत्व और अन्तर्यामित्व में कलंक लगता है। अतः गोपियों को परमहंस बनाने के लिए ही भगवान् ने उनके वस्त्रों का हरण किया था।

यहाँ कुछ सज्जन यह भी कह देते हैं कि यदि गोपियों के वस्त्रों का हरण किया ही था तो फिर उन्हें वस्त्र वापस क्यों लौटा दिए? इसका समाधान यही है कि जैसे परमहंस अपनी अवस्था प्राप्त होने से पूर्व कभी वस्त्र पहन लेता है और कभी उतार देता है। इसी प्रकार कृष्ण ने गोपियों के वस्त्र तो हरे परन्तु गोपियों में लज्जा-भाव-रूपी पाश के शेष रह जाने से उन्हें वस्त्र वापस लौटा दिए। गोपियाँ अभी तक पूरी परमहंसावस्था प्राप्त नहीं कर पाईं थीं। उनमें अभी तक लज्जा का पाश शेष था।

जीवनन्मुक्त दशा या मुक्ति-भूमि में पहुँचने के लिए निम्न-निर्दिष्ट आठ पाशों के बन्धन से मुक्त होना अत्यावश्यक है। वे पाश हैं—

घृणा लज्जा भयं शङ्का जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च वित्तं च पाशा अष्टौ प्रकीर्तिताः॥

(१) घृणा=दया। किसी को दुःखी देखकर उसके दुःख को दूर करने की चेष्टा का नाम दया है। यह दया भी कभी कभी मनुष्य के लिए बन्धन का कारण बन जाती है। इसी के कारण मनुष्य फँस जाता है। जैसे भरत को मृगशाव पर दया आगई। वे उसे आश्रम पर उठा लाए। उसका भरण-पोषण करने लगे। उससे प्यार करने लगे। उनकी उसके प्रति आसक्ति हो गई। उसकी देख रेख के कारण भजन आदि में विघ्न पड़ने लगा। वे सदा उसी की रक्षा के प्रयत्नों में लगे रहते थे। उस पर कोई हिंस्र पशु आक्रमण न कर दे, यही चिन्ता उन्हें लगी रहती थी। प्राणान्तकाल में भी वे उसी मृग-शाव की रक्षा की चिन्ता करते रहे कि मेरे बाद इस की देखभाल कौन करेगा। इसी चिन्ता में प्राणत्याग करने के कारण उनका मोक्ष नहीं हुआ। उन्हें मृग का ही जन्म मिला। (२) लज्जा—इसके कारण बहुत से व्यक्ति सत्सङ्ग में नहीं आते। वे संकोच करते हैं। वे सोचते हैं हम उच्च स्तर (पोजीशन)

के व्यक्ति हैं। निम्न स्तर वालों के साथ सत्सङ्ग में जाकर कैसे बैठेंगे? उन्हें साधारण व्यक्तियों के साथ बैठने में संकोच या लज्जा होती है। लाहौर में एक बहुत प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनकी पत्नी प्रतिदिन हमारे सत्सङ्ग में आया करती थी। उसने अपने पतिदेव से भी कथा में चलने का आग्रह किया। पति ने उत्तर दिया कि कथा में मेरे स्तर के व्यक्ति नहीं हैं, इस लिए मुझे अपने से निम्नस्तरीय व्यक्तियों के साथ बैठने में लज्जा आती है। उसके लिए विशेष प्रबन्ध किया गया तो वे आने लगे। (३) भय—कथा सत्सङ्ग आदि में आने के लिए अपने सगे सम्बन्धियों से डरना। कई देवियाँ तीव्र इच्छा होने पर भी कथा आदि में इस लिए भाग नहीं ले सकतीं क्योंकि उन के पति, सास तथा ससुर आदि कहीं असन्तुष्ट न हो जाएँ। (४) शङ्का—कई व्यक्तियों के मन में यह शङ्का घर कर लेती है कि यदि मैं साधना में लगा भी, तो क्या विश्वास है कि मैं साधना में सफल हो जाऊँगा या नहीं। योग-साधना के चक्कर में पड़कर कहीं मैं घर के कामकाज से भी न हाथ धो बैठूं। अभी तो मेरा कामकाज ठीक ढंग से चल रहा है। व्यापार में भी लाभ हो रहा है। जिसके पास मैं योग-साधना के लिए जाता हूँ वह स्वयं भी योग जानता है या नहीं? कहीं वह मुझे अपनी मीठी मीठी बातों में फँसाकर मेरा धन ही न हड़प ले। (५) जुगुप्सा—किसी की निन्दा करना। दूसरों के गुणों को भी दोष में परिवर्तित कर देना। कोई तितिक्षु महात्मा घोर तपस्या कर रहा है। दूसरा व्यक्ति कहता है कि यह सब ढोंग कर रहा है। दम्भी है। छलिया तथा कपटी है। यदि कोई व्यक्ति देश-सेवा, जाति-सेवा या परोपकार-परायण रहता है तो दूसरे कहते हैं यह तो प्रतिष्ठा का भूखा है। अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही सब कुछ कर रहा है। जिन महापुरुषों के संसर्ग से हम ऊँचे उठ सकते हैं, अपना अमूल्य जीवन सुधार सकते हैं—उन्हीं के प्रति ऐसी बुरी भावना मन में लाना कि ये तो वञ्चक हैं, ठग तथा धोखेबाज हैं, दम्भी तथा पाखण्डी हैं। इस प्रकार की दूषित भावनाओं का पुल बाँधते रहना। अवसर आने पर इन सभी बुरी भावनाओं को वाणी द्वारा प्रकट करने में भी न चूकना। यह परापवाद (पर-निन्दा) बहुत बड़ा दोष है। अकेले इसी दोष के निराकरण से हम समस्त जगत् को वश कर सकते हैं। इसके विषय में ऐसा कहा गया है—

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।
परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय ॥

यदि आप एक ही कर्म से समस्त संसार को वश करना चाहते हो तो दूसरे की निन्दा-रूपी फसल में चर रही अपनी वाणी-रूपी गाय को रोक लो। दूसरे की निन्दा करने से बढ़कर कोई पाप नहीं। इसी एक के परित्याग से सारा जगत् वश में हो जायगा। (६) कुल = कुलाभिमान। बहुत से उत्तम वर्ण के व्यक्ति अपने कुलाभिमान के कारण ही हीन-वर्ण वालों से ज्ञानप्राप्ति के लाभ से वञ्चित रह जाते हैं। पास में रहते हुए भी वे उनसे लाभ नहीं उठा सकते। किसी कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

साधु तो चंदन बौन है सब जग पलटन हार।
बाँस वास लागे नहीं जा में चार विकार॥

समस्त जगत् के वृक्ष चन्दन की सुगन्धि से सुगन्धित हो जाते हैं। चन्दन के सहवास से दूसरे वृक्षों का कायाकल्प हो जाता है। परन्तु एक बाँस ही ऐसा भाग्यहीन है जिस पर चन्दन की सुगन्धि का प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कारण यह है कि उसमें चार दोष हैं। उसमें से भी प्रधान दोष है उसकी ऊँचाई। कबीर साहिब कहते हैं—

बाँस बड़ाई बूड़ियो ज्यों मत बूडयो कोय।
चन्दन के निकटे बसे बाँस सुगन्ध न होय॥

बाँस की ऊँचाई की भान्ति मनुष्य में कुलाभिमान ही प्रधानतम दोष है। कुल के कारण वह समझने लगता है कि मैं सबसे ऊँचा हूँ। उन चारों दोषों का महात्माओं ने एक ही दोहे में संग्रह कर दिया है। जिज्ञासुओं के लाभ के लिए वह दोहा नीचे दिया जाता है—

ऊँचो कुल आपो अगनि भरम पोल ता माहि।
हिय विच गाँठ कपट की ताते लख्यो ना जाहि॥

जैसे बाँस ऊँचाई, अग्नि, पोल तथा गांठ इन चार दोषों के कारण चन्दन

की सुगन्धि से वञ्चित रह जाता है उसी प्रकार उच्च कुल का अभिमान रखने वाला व्यक्ति कुलाभिमान, अहंकार, भ्रान्ति (अविद्या) तथा कपट इन चार दोषों के कारण चन्दन-रूपी महापुरुषों के संग में रहता हुआ भी सुगन्धि-रूपी ब्रह्मविद्या से वञ्चित रह जाता है।

(७) शील—अपने आचार का अभिमान। कुछ व्यक्तियों को अपने कर्मकाण्ड का बहुत अभिमान होता है। वे समझते हैं—हम देवता की पूजा करते हैं, यज्ञोपवीत शिखा आदि धारण करते हैं, तिलक छापा लगाते हैं तथा यज्ञ हवन आदि करते हैं। हम कर्मकाण्ड-रहित महापुरुषों के पास क्यों जाएं? इसी शीलाभिमान के कारण ही वे कर्म–किङ्करता से विमुक्त ब्रह्मवेत्ता महात्माओं से कुछ भी लाभ उठाने में असमर्थ रह जाते हैं। एक समय हम एक गाँव में ठहरे हुए थे। वहाँ एक दिन एक बहुत बड़े महात्मा सिद्ध-पुरुष पधारे। वे जीवन्मुक्त तथा ब्रह्मनिष्ठ थे। वे मन्दिर में भगवान् को प्रणाम किए विना ही बैठ गए। हमारी मण्डली में एक कर्मकाण्डी थे आचार–शील–सम्पन्न। उन्हें यह बात बुरी लगी। उन्हों ने मुझे कहा–देखो! महात्माजी ने भगवान् को भी प्रणाम नहीं किया। मैंने उत्तर दिया–ये महापुरुष तो कर्म-किङ्करता से विमुक्त हैं। ये स्वात्माराम हैं। विधि-विधान की दासता से ऊपर उठ चुके हैं। इनपर कोई नियम लागू नहीं होता।
(८) वित्त–धन का अभिमान। अपने धन के अभिमान के कारण ही बहुत से सेठ राजे तथा महाराजे साधु पुरुषों से कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते। वे उनके पास जाना भी अपना अपमान समझते हैं। क्योंकि उन्हें धन का नशा चढ़ा होता है। धन का नशा सब नशों से बढ़ कर माना जाता है—

कनक कनक ते सौ गुणी मादकता अधिकाय।
यह खाए बौरात है वह पाए बौराय॥

यही धन की मादकता उनके लिए आत्म-कल्याण में प्रतिबन्धक हो जाती है।

बस ये ही आठ पाश हैं जो मुक्ति के प्रतिबन्धक माने जाते हैं। जब तक साधक इन पाशों से विमुक्त न हो जाय तब तक वह मुक्ति-भूमि में नहीं पहुँच सकता। इसी लिए भगवान् कृष्ण ने पहले लज्जारूपी पाश को तोड़कर गोपियों को मुक्ति-भूमि तक पहुँचाया था। किसीने क्या ही सुन्दर कहा है—

पाशबद्धः पशुः प्रोक्तः पाशमुक्तः सदाशिवः ।
हरिर्जहार वस्त्राणि गोपीपाशविमुक्तये ॥

पाश से बद्ध ही पशु (जीव) है। पाश से मुक्त सदाशिव (भगवत्स्वरूप) है। भगवान् ने गोपियों को पाश से मुक्त करने के लिए उनके वस्त्रों का हरण किया।

मुक्ति-भूमि तक पहुँचने के लिए गोपियों को परमहंस की अवस्था में पहुँचना आवश्यक था। परमहंस की भान्ति उनका भी लज्जा-रूपी पाश शेष नहीं रहना चाहिए था। इसी की परीक्षा के लिए भगवान् ने उनसे सूर्य को प्रणाम भी करवाया। अब गोपियाँ ठीक परमहंस अवस्था में पहुंच चुकी थीं। परमहंस अवधूत लज्जा-पाश से सदा ही मुक्त रहते हैं। वस्त्र धारण कर लिया तब क्या, न धारण किया तब क्या? वे अपनी ही मस्ती में मग्न रहते हैं।

मथुरादास नाम के एक बहुत बड़े महात्मा हरिद्वार में रहा करते थे। वे मेरे गुरुदेव के परम मित्र थे। उनके सम्मान के लिए हरिद्वार में एक रोड़ का नाम भी मथुरादास रोड़ रख दिया गया है। वे बड़े सिद्ध महापुरुष थे। वे कौपीन बाँधते थे। कौपीन खुल जाती थी। यदि किसी ने बाँध दी तो ठीक है। नहीं तो खुली ही रह जाती। परमहंस अवस्था तो होती ही ऐसी है कि उसमें वस्त्र उतर ही जाते हैं। उनकी ऐसी मस्त अवस्था देख एक बार एक देवी ने उनसे कहा—क्या ही अच्छा होता यदि मैं भी ऐसी ही हो जाती। महात्माजी ने मुस्कराते हुए कहा—कहने मात्र से कुछ नहीं होगा, जैसे मैंने वस्त्रों का परित्याग किया है वैसे तुम भी कर डालो तो हमारे जैसा बनने में क्या देर लगेगी। एक दूध वाला था। लोग आते और दुअन्नी चवन्नी देकर उससे दूध ले जाते। एक बिल्ली उसके पास आकर दूध की ओर ललचाई दृष्टि से देखती हुई म्याऊँ म्याऊँ करने लगी। दूधवाले ने कहा कि म्याऊँ म्याऊँ करने से काम नहीं चलेगा। तू भी कहीं से दुअन्नी चवन्नी ला और दूध पीले। इसी प्रकार महात्माजी ने कहा कि कोरे कथन मात्र से काम नहीं चलेगा। यदि हमारे जैसा बनना है तो लज्जा-रूपी पाश का परित्याग कर वस्त्र उतार दो।

इसी प्रकार भगवान् ने भी गोपियों के लज्जा-रूपी पाश को तोड़ने के लिए

ही उनके वस्त्रों का हरण किया था; जब तक गोपियों में लज्जा थी तब तक भगवान् ने उनके वस्त्रों का हरण नहीं किया। ऐसा करने से दैवी प्रकृति में धक्का लग सकता था। उससे व्रतभङ्ग दोष हो सकता था। भगवान् श्रीकृष्ण ने उस दोष के लिए उनसे प्रायश्चित्त भी कराया था। गोपियों की हार्दिक अभिलाषा यही थी कि वे सांसारिक पतियों का परित्याग कर विश्वपति श्रीकृष्ण को ही अपना पति बनाने में सफल–मनोरथ हो सकें। चीर-हरण द्वारा परीक्षा करके भगवान् ने उनसे कह दिया कि तुम्हारा व्रत सिद्ध होगा। अन्तमें गोपियों ने भक्तिशास्त्र की कान्तासक्ति के द्वारा आनन्दकन्द सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण में शरीर, मन, प्राण एवं अपने आत्मा को समर्पण कर ब्रह्मानन्द का अनुभव किया। यह है चीर-हरण लीला का रहस्य।

९

वेद-मन्त्रों के त्रिविध अर्थ

(१४-८-१९३८)

सज्जनो! चीर-हरण लीला का रास–लीला से घनिष्ठ सम्बन्ध है। चीरहरण साधन है और रासलीला है उसका फल। एक विद्यार्थी वर्ष भर परिश्रम करके कोर्स तैयार कर लेता है। उस के फलस्वरूप उसे एक प्रमाणपत्र (सर्टिफिकेट) मिल जाता है। इसी प्रकार चीरहरण लीला एक प्रकार का कोर्स तैयार करना है और इसका फल है मुक्तिरूपी प्रमाणपत्र (सर्टिफिकेट) प्राप्त करना।

गोपिकाएं भी इस मुक्तिरूपी प्रमाणपत्र को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहीं थीं। वे कात्यायनी–व्रत के अनुष्ठान में लगी हुई थीं। उन्होंने हेमन्त ऋतु के प्रथम मास में कात्यायनी की पूजा करनी प्रारम्भ की। कात्यायनी पूजा का अभिप्राय था कि वे अपने व्रत को निर्विघ्न समाप्त कर सकें। वे देवी कात्यायनी से यह वर भी माँगा करती थीं--

'कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः' ॥
(भा० १०, २२, ४)

"हे कात्यायनि! हे महामाये! हे महायोगिनि! हे सब की एकमात्र स्वामिनि! आप नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण को हमारा पति बना दीजिए। देवि! हम आपके चरणों में नमस्कार करती हैं।"

उन्होंने अपने नग्न-स्नान करने का प्रायश्चित्त भी किया। क्योंकि नग्न-स्नान करने से व्रत में बाधा पड़ती थी। इसी लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने उनसे सूर्यनारायण को नमस्कार करने के लिए कहा—गोपियो! तुमने नग्न स्नान करके देव की अवज्ञा की है इसके प्रायश्चित्त रूप में सूर्यनारायण को नमस्कार

करो। गोपियों ने भगवान् की आज्ञा स्वीकार कर प्रायश्चित्त द्वारा अपना अपराध क्षमा कराया। तदनन्तर भगवान् ने उनसे कहा—

यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥
(भा० १०, २२, २७)

हे कुमारियो! अब तुम अपने अपने घर लौट जाओ। तुम्हारी साधना सिद्ध हो गई है। तुम आने वाली शरद ऋतु की रात्रियों में मेरे साथ विहार करोगी। सतियो! इसी उद्देश्य से तो तुम लोगों ने यह व्रत और कात्यायनी देवी की पूजा की थी।

भगवान् ने यह भी कहा कि तुम मुझे निष्काम भाव से प्राप्त करना चाहती हो, इसी लिए मैं तुम्हें अवश्य दर्शन दूँगा जिससे तुम्हारी सभी सांसारिक कामनाओं का अन्त हो जायगा। अन्त में मैं तुम्हें अपने स्वरूप में ही मिला लूँगा—

'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥
(भा० १०, २२, २६)

जिन्होंने अपना मन और प्राण मुझे समर्पित कर रखे हैं, उनकी कामनाएं उन्हें सांसारिक भोगों की ओर ले जाने में समर्थ नहीं होतीं, ठीक वैसे ही, जैसे भुने या उबाले हुए बीज फिर अंकुर के रूप में उगने योग्य नहीं रह जाते।

भगवान् का इस से यह आशय प्रकट होता है कि जो व्यक्ति मेरा निष्काम-भाव से स्मरण करता है, मैं उसे अवश्य प्राप्त हो जाता हूँ। मेरी प्राप्ति से उसके सभी दूषित मनोविकार धुल जाते हैं। वह परब्रह्म के आनन्द का अनुभव करने लग जाता है। भगवद्भक्ति की यह विशेषता है कि उसके द्वारा सांसारिक पदार्थों से अनुराग हट ही जाता है। केवल प्रभु में ही प्रेम हो जाता है। इसी लक्ष्य से भगवान् ने गोपियों के साथ रासक्रीड़ा का आयोजन किया था।

यह तो मैंने पहले कई बार बताया है कि भगवान् की लीला में आधि-

भौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक ये तीनों ही भाव रहते हैं। सच्चिदानन्द परब्रह्म-स्वरूप श्रीकृष्ण के चरित्र भी इन तीनों भावों से परिपूर्ण हैं। उनकी रासलीला में भी इन्हीं तीनों भावों का आभास मिलता है।

भगवान् श्रीकृष्ण परम-तत्त्व स्वरूप हैं। इस परम-तत्त्व के चार स्वरूप माने गये हैं—चित् (ब्रह्म), अन्तर्यामी (ईश्वर), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ), तथा विराट्। परम-तत्त्व की इन चारों अवस्थाओं को भली-भान्ति समझने के लिए शास्त्रों में छींट के वस्त्र का दृष्टान्त दिया गया है। पञ्चदशी के चित्रदीप प्रकरण के दूसरे श्लोक में परमतत्त्व तथा वस्त्र की चार अवस्थाएं इस प्रकार वर्णित की गई हैं—

यथा धौतो घट्टितश्च लाञ्छितो रञ्जितः पटः।
चिदन्तर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते।

जैसे धुला हुआ, माण्डी दिया हुआ, चित्रों की रेखा वाला तथा रंग भरा हुआ—ये चार अवस्थाएं छींट के कपड़े की होती हैं, इसी प्रकार परमात्मा में भी पहली चित्, दूसरी अन्तर्यामी, तीसरी सूत्रात्मा तथा चौथी विराट् ये चार अवस्थाएं होती हैं।

वस्त्र की चारों अवस्थाओं का विशेष विवेचन करते हुए आगे तीसरे श्लोक में कहा गया है—

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद् घट्टितोऽन्नविलेपनात्।
मष्याकारैर्लाञ्छितः स्याद् रञ्जितो वर्णपूरणात्॥

जो वस्त्र दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध हुए विना स्वतः ही शुभ्र है उसे 'धौत' कहा जाता है, मांडी से पुतने पर उसे 'घट्टित' कहते हैं, स्याही से जिस पर खाली आकार बना दिए गए हों वह 'लाञ्छित' कहाता है। रंग भर देने पर वही रञ्जित कहाने लगता है।

अगले चौथे श्लोक में परमतत्त्व की चारों अवस्थाओं का विवेचन करते हुए पञ्चदशीकार श्री विद्यारण्य स्वामी लिखते हैं—

स्वतश्चिदन्तर्यामी तु मायावी; सूक्ष्मसृष्टितः।
सूत्रात्मा, स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः॥

वह परमात्मा जब स्वतः हो अर्थात् जब उसमें माया एवं माया के कार्यों का सम्मिश्रण न हुआ हो तब वह 'चित्' कहाता है। इसीको ब्रह्म कहते हैं। माया का योग हो जाने पर वही परमात्मा 'अन्तर्यामी' या 'ईश्वर' हो जाता है। जब उसका सूक्ष्म सृष्टि से योग हो जाता है या जब उसे अपंचीकृत भूतों से बना हुआ समष्टि सूक्ष्म शरीर मिल जाता है तब वही सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ कहा जाता है। स्थूल सृष्टि अथवा पंचीकृत भूतों के बने हुए समष्टि स्थूल शरीर के कारण वही परमात्मा अन्त में विराट् कहाने लगता है।

इस प्रकार स्थूल विराट् स्वरूप उस परमतत्त्व का आधिभौतिक भाव है। सूक्ष्मसृष्टि का अभिमानी हिरण्यगर्भ तथा माया-शबलित चेतन ईश्वर उसका आधिदैविक भाव है। मायातीत शुद्ध चेतन ब्रह्म उसका आध्यात्मिक भाव है।

रासलीला के रचयिता श्रीकृष्ण तो पूर्णावतार थे। इनमें तो तीनों भावों का होना आवश्यक है। पूर्ण शक्तियों से युक्त ही पूर्णावतार कहलाने का अधिकारी हो सकता है। जब भगवान् स्वयं त्रिविध भावों से परिपूर्ण हैं तो फिर उनकी कृति वेद भी तीनों भावों से रहित कैसे हो सकता है? परिशीलन करने पर उनमें भी तीनों भावों की उपलब्धि होती है। दृष्टान्तार्थ आपको वेद के निम्न-निर्दिष्ट मन्त्र में तीनों भाव उपलब्ध हो सकेंगे—

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश॥
(ऋ० १, १६४, २१)

इस मन्त्र का आधिदैविक भाव इस प्रकार है—

सुपर्णाः = सुपतनाः = शोभन गति युक्त सूर्य किरणें, अमृतस्य = जल के, भागम् = भजनीय ग्राह्य अंश को, आददाना = ग्रहण करती हुई, अनिमेषम् = पल भर भी विश्राम न लेती हुई, विदथा = कर्तव्य ज्ञान से, यत्रा = यत्र = जिस सूर्य की ओर, अभिस्वरन्ति = प्रस्थान करती हैं; सः = वह सूर्यमण्डलस्थ आदित्य देव, गोपाः=संसार के रक्षक, विश्वस्य भुवनस्य इनः = समस्त विश्व के स्वामी, धीरः=धीमान् तथा पाकम्=पाकः=विपक्वप्रज्ञ हैं। वह सूर्य इस शरीर में मुझे अनुगृहीत करने के लिए आविवेश=आविष्ट हो।

इस मन्त्र का आध्यात्मिक अर्थ भी आप सुनलें—

सुपर्णाः=सुपतनाः=विषयों की ओर दौड़ने वाली इन्द्रियां, अमृतस्य=भोग्य विषय समूह के, भागम्=भजनीय ग्राह्य अंश को ग्रहण करती हैं, और अनिमेषम्=सतत अपना कार्य करती रहती हैं; यत्र=जिस आत्मा की ओर, विदथा=कर्तव्य-दृष्टि से, अभिस्वरन्ति=अपने विषयों को भेंट रूप में उपहृत करती हैं जिससे आत्मा यह कहने लगता है कि मैं रूप को देखता हूँ, सः= वह आत्मा, गोपाः=इस शरीर का रक्षक, इनो भुवनस्य विश्वस्य=समस्त उत्पत्तिधर्मा इन्द्रिय समूह का, धीरः=अचल निर्विकार, पाकम्=पाकः=विशुद्ध-प्रज्ञ नित्य-ज्ञान-घन आत्मा इस शरीर में, मा=मुझ जीवात्मा को अनुगृहीत करने के लिये, आविवेश=आविष्ट हों, प्रकट हों अर्थात् मेरे जीवभाव का बाध होकर मैं अपने वास्तविक ब्रह्म-स्वरूप निरुपाधिक साक्षी-स्वरूप का अनुभव करूँ।

इस भाव को एक रूपक की सहायता से आप भलीभान्ति समझ सकेंगे। आजकल की भान्ति प्राचीन काल में बहुत अधिकारी (आफिसर) नहीं हुआ करते थे। एक गाँव का एक नम्बरदार या ग्रामाध्यक्ष होता था। उसके ऊपर होता था तहसीलदार या विषयाध्यक्ष। उसके ऊपर मन्त्री और सब के ऊपर राजा। ग्रामाध्यक्ष या नम्बरदार ग्राम का लगान एकत्रित करके विषयाध्यक्ष (तहसीलदार) को दे देता था। तहसीलदार मन्त्री को तथा मन्त्री राजा को सब आय बता दिया करता था। यह थी प्राचीन काल की राज्यशासन-प्रणाली। राज्यशासन की यही प्रणाली हमारे शरीर के भीतर है। हमारी इन्द्रियां हैं नम्बरदार। उनके ग्राम उनके रूप आदि विषय हैं। रूप ग्राम का नम्बरदार हुआ चक्षु, शब्द का श्रोत्र। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियों के विषय अपने अपने गाँव के रूप में हैं। मन विषयाध्यक्ष=तहसीलदार है। इन्द्रियां अपने अपने विषयाकार रूप आदि लगान को एकत्रित करके तहसीलदार-रूपी मन को पहुँचाती हैं। मन उन्हें मन्त्री-रूपी बुद्धि को सौंप देता है। बुद्धि उस लगान-रूपी विषयाकार को राजा-रूपी आत्मदेव तक पहुँचा देती है। उस अवस्था में आत्मा 'मैं देखता हूँ' 'मैं सुनता हूँ' इत्यादि व्यवहार द्वारा अज्ञान से खाने पीने सुनने आदि को अपना धर्म समझ बैठता है। सुख दुःख आदि का अपने में आरोप करके 'अहं सुखी, अहं दुःखी'

इत्याकारक व्यवहार करने लग जाता है। ऊपर कहे गए मन्त्र में अध्यात्म भाव को लेकर इसी आत्मदेव का वर्णन किया गया है।

अब आप को उपर्युक्त वेदमन्त्र का आधिभौतिक अर्थ भी सुना देते है।—

यत्र = जिस वृन्दावन में, सुपर्णाः = शीघ्रगामिनी गोपियाँ, अमृतस्य = दुग्ध-दध्यादेः = दूध दही आदि के, भागम् = विक्रेतव्यांशम् = बेचने योग्य भाग को, आददाना इति शेषः, शिरोनिहितदुग्धदध्यादिपात्रा इति यावत्। सिरों पर दूध दही आदि के पात्र रखे हुए, अनिमेषम् = श्रीकृष्णदर्शनेऽक्षिपक्ष्मपातम-कुर्वाणाः सादरं श्रीकृष्णमवलोकयन्त्यः = विना पलकें गिराए आदरपूर्वक श्रीकृष्ण को देखती हुई, विदथा = कर्तव्यज्ञान से, ये हमारे प्रभु हैं इनकी सेवा अवश्य करनी है इस प्रकार आदरपूर्वक, अभिस्वरन्ति = आती हैं। भावार्थ यह हुआ कि गोपियों को श्रीकृष्ण को देखने में इतना आनन्द आ रहा है कि वे क्षणभर भी श्रीकृष्ण के दर्शनों विना नहीं रह सकतीं। वे ब्रह्माजी को उपालम्भ देती हैं कि ब्रह्मा ने हमारी ये पलकें क्यों बनाईं। पलकें गिरकर श्रीकृष्ण के दर्शन में व्यवधान डाल देती हैं। वेदमन्त्र आगे कहता है—इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः=यह साधारण ग्वाल-बाल नहीं है। यह सारे विश्व का स्वामी है। यह नन्दनन्दन तो मायिक शरीर धारण किए हुए साक्षात् पूर्ण परब्रह्म है। धीरः=स्थिर, प्रत्येक दशा में एकरस, पाकम्=पाकः=विपक्व-प्रज्ञ, वह श्रीकृष्ण, अत्र=अस्मिन् वृन्दावने=इस वृन्दावन में, आविवेश= आविशति = आविश्य रासलीलाभिनयेन गोपीवर्गमनुगृह्णाति = प्रविष्ट होकर रास-लीला के अभिनय द्वारा गोपी-वर्ग पर अनुग्रह करता है।

इस वेदमन्त्र के आधिभौतिक व्याख्यान द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद का संकेत भगवान् की रासलीला की ओर ही है।

उपर्युक्त मन्त्र के तीनों अर्थ आप को सुना दिए गए। इसी प्रकार आप वेद के समस्त मन्त्रों को समझ सकते हैं। वेद के सभी मन्त्र आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन तीनों भावों से परिपूर्ण हैं। रामायण, महाभारत भागवत आदि ग्रन्थो में भी विशेष विशेष स्थलों पर इन तीनों भावों का आभास मिलता है; क्योंकि ये ग्रन्थ भी वेद की ही विस्तृत व्याख्या के रूप में रचे गए हैं। वेद के मन्त्रों तथा भागवत के श्लोकों का अर्थ-साम्य

बहुधा देखने में आता है। भगवान् श्रीकृष्ण की रासलीला तो प्रत्येक स्थान में पाई जाती है। इस के द्वारा ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो सकती है।

आजकल कलिकाल के प्रभाव के कारण हमारी बुद्धियाँ इतनी अशक्त हो गई हैं कि हम शास्त्रों के गूढ रहस्य को समझने में असमर्थ हो गए हैं। इसी नासमझी के कारण ही हम भगवान् श्रीकृष्ण की रासलीला को भी कामलीला कहने में नहीं झिझकते। परन्तु मैं उन सज्जनों को बता देना चाहता हूँ कि भगवान् की रासलीला कामलीला नहीं है; परन्तु वह तो सन्यास–लीला है, वह भोगलीला नहीं अपितु योगलीला है, वह अनुराग–लीला नहीं किन्तु त्यागलीला है। यदि हम रासलीला के रहस्य को भलीभान्ति समझ जाएं तो हमें ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने में कुछ भी विलम्ब न लगे।

रासलीला को कामलीला कहना तो बहुत बड़ी भूल है। यदि यह कामलीला ही होती तो इसका नाम शृङ्गार–लीला ही क्यों न रख दिया गया? क्योंकि कामलीला में तो शृङ्गाररस की ही अधिक प्रधानता होती है। परन्तु इस रासलीला में कुछ और ही गूढ रहस्य है। बहुत से महापुरुष तो रासलीला का अर्थ ही नहीं समझते हैं। वे केवल इतना ही समझते हैं कि गोपियों के साथ श्रीकृष्ण जी नाचते थे, बस उसी को रासलीला कहा जाता है। रासलीला का ऐसा अर्थ नहीं है। इसका अर्थ आप इस प्रकार समझें—

संस्कृत-साहित्य में प्रधानतया नौ रस माने गए हैं—१–शृङ्गार, २–हास्य, ३–करुण, ४–रौद्र, ५–वीर, ६–भयानक, ७–बीभत्स, ८–अद्भुत, तथा ९–शान्त। साहित्य-दर्पणकार ने वात्सल्य को भी दसवाँ रस माना है। इस प्रकार सब मिलाकर दस रस हुए। संस्कृत व्याकरण के अनुसार जहाँ एक रस को कहना होता है वहाँ 'रसः' ऐसा प्रयोग होता है। जहाँ बहुत से रसों को इकठा ही कहना हो वहाँ 'रसानां समूहो रासम्' ऐसा प्रयोग होगा। भाव यह हुआ कि जहाँ सब रस इकट्ठे होगए हों उसे 'रास' इस पद से कहा जाएगा। जहाँ सब रसों को लेकर क्रीड़ा की जाए या लीला की जाए उसे रासलीला कहते हैं। आपको यह भी विदित ही है कि हमें भिन्न भिन्न रसों का अनुभव तभी तक होता है जब तक हम सभी रसों का समावेश उस आनन्द–स्वरूप परब्रह्म में नहीं कर देते। नदियां अपने नाम तथा रूप को तभी तक धारण करती हैं जब तक वे समुद्र में नहीं मिल जातीं। समुद्र में मिलते ही वे अपने

नाम और रूप का परित्याग कर देती हैं। इसी प्रकार जब हम भी सांसारिक पदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर सभी रसों का समावेश उस सच्चिदानन्द पर-ब्रह्म में कर देते हैं तो हमारा भी नाम-रूप मिट जाता है। गोपियों ने भी सभी रसों का समावेश कृष्ण में ही कर दिया था। तभी तो उनकी क्रीड़ा का नाम रास-क्रीड़ा पड़ा। परमात्मा ठहरे परिपूर्ण, इसलिए सभी रसों का आविर्भाव उसी परिपूर्ण प्रभु में ही हो सकता है; साधारण व्यक्ति में नहीं। यही रासलीला का वास्तविक रहस्य है। परन्तु बुद्धिहीन व्यक्ति इन साधारण बातों के अर्थ को भी नहीं समझ पाते।

कई लोग तो वेदों पर आक्षेप करने से भी नहीं चूकते। वे कहते हैं कि तुम्हारे वेदों में गधों का वर्णन आता है। एक स्थान पर वेद में ऐसा प्रसङ्ग आता है कि राजा भुज्यु की सेना रासभों पर चढ़ी हुई चली जा रही थी। आक्षेपक महोदय ने यहाँ 'रासभ' शब्द का अर्थ गधा ही लिया है। परन्तु उस महाशय ने यह नहीं समझा कि वैदिक भाषा में तथा लौकिक भाषा में शब्दों के अर्थ में भेद हो जाता है। लोक में 'जार' शब्द का अर्थ होता है किसी स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध रखने वाला। वेद में यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। वेद में आता है—

"स्वसुर्जारः शृणोतु नः।"

यहाँ 'स्वसा' का अर्थ है रात्रि, जार का अर्थ है रात्रि को नष्ट करने वाला सूर्य—"आदित्यो जार उच्यते रात्रेर्जरयिता"। लौकिक भाषा में इसका अर्थ करें तो स्वसा का अर्थ हुआ बहिन और जार का अर्थ हुआ लम्पट पुरुष। इस प्रकार बहुत ही असंगत अर्थ प्रतीत होने लगेगा। परन्तु वैदिक साहित्य के शब्द अपने अर्थ को लौकिक अर्थ की भान्ति प्रकट नहीं करते। शब्द समान होने पर भी वेद में अर्थभेद पाया जाता है। सारांश कहने का यह हुआ कि 'रासभ' शब्द को लेकर मेरे पास भी दो प्रोफेसर आए। कहने लगे—महाराज जी! आपके वेद में तो गधों का वर्णन भी आता है। राजा की सेना भी गधों की सवारी किया करती थी। फिर आप ऐसा कैसे कह सकते हैं कि हमारा भारतवर्ष सभ्यता के उच्च शिखर पर आरूढ था, समृद्धिशाली तथा सम्पन्न था। राजा लोग हाथियों तथा घोड़ों की सवारी किया करते थे। युद्धस्थल

में भी वे हाथी घोड़ों द्वारा ही लड़ा करते थे। परन्तु आपके वेद में तो गधों की सवारी का वर्णन आता है; तो क्या गधों की सवारी करने से ही भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर आरूढ़ हो गया था?

जब मैंने यह आशङ्का सुनी तो उनके उलटे अर्थ को सुनकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। मैंने कहा—प्रोफेसर साहिब! रासभ शब्द का अर्थ गधा नहीं है परंतु 'रसानां समूहो रासम् तेन स्वचरणन्यासाभिव्यक्तेन भाति प्रकाशते इति रासभः' रसों का समूह हुआ रास, अपने चरणन्यास से उस रससमूह को प्रकट करने वाले घोड़े—यह हुआ 'रासभ' शब्द का अर्थ। राजा भुज्यु के सैनिक ऐसे घोड़ों पर आरूढ हुआ करते थे जो सभी रसों को प्रकट कर सकते थे।

मैंने कहा कि संसार में कालिदास, भवभूति, शेक्सपीयर आदि बहुत से कवि हुए हैं। परन्तुस भी रसों का वर्णन करने में कोई भी सिद्ध-हस्त नहीं था। कालिदास शृङ्गार–वर्णन में ही चतुर थे तथा भवभूति करुण रस के वर्णन में ही सफल हुए। शेक्सपीयर आदि भी एक एक रस के वर्णन में ही समर्थ हुए। परन्तु धन्यवाद है भारत की उस पवित्र भूमि को जिस भूमि के घोड़े भी अपनी चाल द्वारा साहित्य के सभी रसों को प्रकट कर दिया करते थे। युद्ध में जाते हुए घोड़े अपनी चाल से ही यह प्रकट कर देते कि सवार सैनिक लड़ने के लिए युद्ध स्थल की ओर जा रहे हैं। यदि कहीं शोक मनाने जाना होता तो भी घोड़े अपनी विशेष चाल से ही अभिव्यक्त कर देते कि सैनिक करुण रस में मग्न हैं। इस प्रकार भुज्यु के घोड़े सभी रसों को प्रकट करने में समर्थ थे यह अर्थ सुनकर प्रोफेसर साहिबों को बहुत आश्चर्य हुआ। उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि वास्तव में ही वेद रत्नों की खान है। सारांश यह हुआ कि हमने भी 'रासभ' शब्द के 'गधा' अर्थ की भान्ति रासलीला का अर्थ भी उलटा समझ लिया है। परन्तु उन्हें यह पता नहीं कि जिस लीला द्वारा भिन्न रसों को छोड़कर प्राणी ब्रह्म में ही लीन हो जाता है उसी का नाम रासलीला है।

१०

रासलीला में पुञ्जीभूत रस

(१६-८-१९३८)

शृङ्गारी राधिकायां सखिषु सकरुणः क्ष्वेड़दग्धेष्वघाहौ,
वीभत्सी तस्य गर्भे व्रजकुलतनयाचैलचौर्ये प्रहासी।
वीरी दैत्येषु रौद्री कुपितवति तुरासाहि हैयङ्गवीन-'
स्तेये भीमान् विचित्री निजमहसि शमी दामबन्धे स जीयात् ॥

सज्जनो। सभी रसों की एक स्थान पर उपस्थिति का नाम 'रास' है। अखण्ड-ब्रह्मानन्द का आस्वाद व आस्वाद्यमान अखण्ड-ब्रह्मानन्द रस कहलाता है। काव्यप्रकाश के मत में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत, तथा शान्त ये रस स्वीकार किये गए हैं। साहित्यदर्पण-कार ने वात्सल्य रस को भी स्वीकार किया है। श्रीधरस्वामी ने इन रसों के अतिरिक्त प्रेम-भक्ति रस भी माना है, जिसका विस्तृत विवेचन श्रीमधुसूदन सरस्वती ने भक्ति–रसायन में किया है। उनका कहना है कि यह साहित्य-कारों की भूल है, जो देव-विषयक प्रेम को भाव ही मानते हैं। यथार्थ में रस तो भक्तिरस ही है। वह भक्तिरस कहीं अन्य रसों से मिश्रित और कहीं शुद्ध रहता है। किसी भी दशा में क्यों न हो वह सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थ है। उस की तुलना में लोक-प्रसिद्ध अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष नगण्य हैं। इन रसों के क्रमशः–रति (लौकिक), हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद, वात्सल्य, तथा अलौकिक प्रभु-रति स्थायी भाव हैं। इन रसों द्वारा भक्त विभिन्न प्रकार से प्रभु से अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। अतः प्रथम मैं यह आवश्यक समझता हूं कि आप को इन रसों का स्वरूप बतलाऊँ, क्योकि जब तक आप इन रसों को न जान सकेंगे, तब

तक आप रासलीला को भी नहीं समझ सकेंगे। रासलीला में सभी रस अपने अपने सौन्दर्य के साथ उपस्थित होंगे, अतः रसों का ज्ञान होना आवश्यक है।

रसों में प्रथम शृङ्गार है। जहां पति का पत्नी के साथ या पत्नी का पति के साथ राजस प्रेम उच्च कोटि को प्राप्त हो जाय, अथवा जिस राजस प्रेम के द्वारा पति-पत्नी अखण्डानन्द का अनुभव करें, उसे शृङ्गार रस कहते हैं।

द्वितीय हास्य रस है—जिस हास्य के द्वारा हमें परम आनन्द हो, हास्य भी सभ्यता और शिष्टाचार के ही अनुकूल हो, हास्य से अन्तःकरण में चमत्कार-जन्य प्रसन्नता प्राप्त हो तथा जिस हास्य के द्वारा सामाजिक आनन्द-सागर में ही गोते लगायें उसे हास्य रस कहते हैं। इस रस द्वारा भक्त भी प्रभु से उपहास किया करते हैं। हास्य से भक्त और भगवान् के मध्य निरन्तर रस की धारा बहती रहती है। इस रस को आप शिव और शिवा के प्रश्नोत्तर द्वारा स्पष्ट समझ सकते हैं। इस संवाद को सुन कर आप हास्य रस के प्रवाह में ही मग्न हो जायेंगे।

एक दिन शिव भगवान् पार्वती को विना सूचना दिये बाहर चले गये। जब रात्रि में वापस घर आये तो द्वार बन्द पाया। द्वार खटखटाने पर शिव तथा शिवा के मध्य यह संवाद हुआ—

कस्त्वं! शूली, मृगय भिषजं, नीलकण्ठः प्रियेऽहम्,
केकामेकां कुरु, पशुपतिर्नैव दृष्टे विषाणे।
मुग्धे स्थाणुर्नहि वदति तरुर्जीवितेशः शिवायाः,
गच्छाटव्यां प्रतिहतवचाः पातु वः शूलपाणिः॥

पार्वती भगवान् शिव से पूछती हैं कि आप कौन हैं? भगवान् शिव बाहर से उत्तर देते हैं कि मैं शूली (त्रिशूल को धारण करने वाला) हूं। पार्वती ने इसे सुन शूली पदका अर्थ शूल-रोग-युक्त रोगी लेकर कहा—आप यदि शूल रोग से पीड़ित हैं, तो आप किसी वैद्य को ढूंढें। यहां रोगी का क्या काम? यहां कोई हस्पताल थोड़े ही खोल रखा है। कृपया हस्पताल ही में पधारिये। पार्वती के इस उत्तर को सुन भगवान् शिव ने दूसरा परिचय दिया। हे प्यारी! तू मुझे नीलकण्ठ जान। मैंने संसार के हितार्थ विष को अपने गले में धारण कर रखा

है। विषपान से मेरा कण्ठ नीला हो गया है, इसी कारण मेरा नाम नीलकण्ठ पड़ गया है। पार्वतीजी ने उपहास से नीलकण्ठ शब्द का दूसरा अर्थ मयूर ले कर कहा—अहो! क्या आप मयूर हैं? तो आप थोड़ी सी अपनी मधुर ध्वनि को तो सुना दीजिये। भगवान् शिव ने पार्वती को उलटा ही चलते देख कहा कि मैं पशुपति (प्राणियों का स्वामी) हूं। पार्वती ने पशुपति शब्द का अर्थ सांड़ ले कर कहा—क्या आप सांड़ हैं? सांड़ के तो सींग होते हैं। आपके सिर पर तो सींग नहीं दीखते। शिवा की कुटिल चाल को देख कर भगवान् ने समझाया कि अरि! मैं तो स्थाणु (निर्विकार परब्रह्म-स्वरूप) हूं। पार्वती कब मानने वाली थीं। वे तो हास्य रस में मग्न हो रहीं थीं। झट से स्थाणु शब्द का अर्थ शुष्क तरुखण्ड (वृक्ष) ले कर कहने लगीं—यदि आप सूखे वृक्ष हैं, तो बोल कैसे रहे हैं? वृक्ष तो बोला नहीं करते। अब तो भगवान् शिव बहुत तङ्ग आ गये; परन्तु पार्वती तो एक भी नहीं सुनती। अन्त में परेशान हो कर कहने लगे कि पार्वती! तू उलटी ही चल रही है। अच्छा तू मुझे शिवा (पार्वती) का प्राणेश्वर ही समझ ले। पार्वती अपने स्वभाव से लाचार थीं, अतः हंस कर बोलीं—अच्छा! आप शिवा (गीदड़ी) के स्वामी हैं, तो आपका यहां क्या काम? जङ्गल में जाईये। वहीं जाकर हक्कू हक्कू की आवाज़ लगाइये। अब कवि कहता है कि इस प्रकार निरुत्तर हुये त्रिशूल-धारी शिव भगवान् आप की रक्षा करें। अब आप समझ गये होंगे कि हास्य रस किसे कहते हैं।

अब आप करुणरस का स्वरूप सुनें। अधिकतर भक्त लोग इसी रस की धारा में मग्न हो भगवान् से प्रार्थना किया करते हैं। आप इसे इस प्रकार समझें कि जहां शोक हमारे मन में प्रचुरता से ठाठें मारने लग जाय, जिसको सुन कर हम निष्क्रिय-से बन जायं, जिसमें एक प्रकार का अलौकिक चमत्कार प्रादुर्भूत हो, जिसके प्रभाव से सदय व्यक्ति सशोक तथा स्तब्ध-से हो जायं, उसे करुणरस कहते हैं। आप निम्न-दृष्टान्त से इसे साफ साफ समझलें। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी को दूसरे दिन राज्य मिलना था। सारी अयोध्या खुशी के मारे फूले नहीं समाती थी। चारों ओर लोगों के मुखों पर प्रसन्नता की लहरें दौड़ रहीं थीं। दूसरे दिन प्रातःकाल रामचन्द्र जी को पिता की ओर से चौदह वर्ष का वनवास मिला। भगवान् राम माताजी से विदा लेने के लिये

गये। माता भगवान् के राज्याभिषेक की खुशी में अनन्द विभोर थी। भगवान राम को गले लगा कर आनन्दाश्रुओं से उन्हें सिञ्चित करती हुई बोली–"पुत्र! आपके राज्याभिषेक में कितनी देरी है? आप शीघ्र तैयार हो जाईये। अब समय हो गया है। सभी लोग इस आनन्दमय समय की प्रतीक्षा में होंगे"। भगवान् राम ने कहा कि माताजी मुझे वनों का राज्य मिला है। मैं आपसे विदा लेने आया हूं। माता की आंखों के सम्मुख अन्धेरा छा गया। व्याकुल हो कहने लगीं—

ताताज्ञया तात वनं प्रयाहि व्याजेन बाल क्षणमत्र तिष्ठ।
पन्थानमावेदयितुं मदीयाः प्राणा बहिर्भूय पुरःसरन्तु॥

माताजी कहती हैं कि हे पुत्र! मैं यह नहीं कहती कि तू अपने पिता की आज्ञा न मान। पिता की आज्ञा का अवश्य पालन करो। थोड़ी देर किसी बहाने ठहर जाओ। भगवान् राम ने पूछा "क्यों मां?" माता कौशल्या ने कहा कि बेटा! मैं तुम्हें रास्ता बताने के लिये एक सेवक भेजूंगी, क्योंकि तुम वन का रास्ता नहीं जानते। भगवान् राम ने कहा "माता जी! पिताजी की आज्ञा है कि उनका कोई भी सेवक राम के साथ वन न जाय"। माता ने कहा "बेटा! मैं न तो तुम्हारे पिता की आज्ञा भंग करूंगी और न ही तुम्हें पिता की आज्ञा भंग करने का परामर्श दूंगी। मैं एक ऐसा सेवक भेजूंगी जिसका पता ही नहीं चलेगा"। भगवान् राम ने पूछा "माताजी! किसे भेजोगी?" माताने कहा—

"प्राणा बहिर्भूय पुरःसरन्तु"

हे प्यारे तात! मैं अपने प्राणों को तुम्हें रास्ता बताने के लिए आगे आगे भेजूंगी। मैं तुम्हारे पिता के साथ कई बार मुनियों के दर्शनार्थ वन गई हूं, अतः मेरे प्राण वन के मार्गों से परिचित हैं। वे अवश्य तुम्हारा मार्ग–प्रदर्शन करेंगे। कौशल्या के कहने का भाव यह है कि हे पुत्र! तुम तो वन को पीछे जाओगे, मेरे प्राण तो तुम्हारे वन जाने से पहले ही शोक के कारण चल बसेंगे। मैं पुत्र-वियोग को न सह सकूंगी। यहां कौशल्या के शोक से सहृदयों के अन्तःकरण में अलौकिक चमत्कार पैदा होता है।

आप इस रस को मृग के निम्न उदाहरण से भी समझ सकते हैं। एक मृग को व्याधों ने घेरने की चेष्टा की। वह सिर पर पांव रख कर भागा। भागते भागते सभी से बिछुड़ गया किन्तु व्याधों ने पीछा न छोड़ा। वह मृग अश्रुपात करता हुआ हृदय-विदारक शब्दों में कहता है–

त्यक्तं जन्मवनं तृणाङ्कुरवती मातेव मुक्ता स्थली,
विश्रामस्थितिहेतवो न गणिता बन्धूपमाः पादपाः।
बालापत्यवियोगकातरमुखी त्यक्तार्धमार्गे मृगी,
पश्यन्तः पदवीं तथाप्यकरुणा व्याधा न मुञ्चन्ति माम् ॥

मृग ने जैसे ही अपने आप को व्याधों से घिरते हुए अनुभव किया, वह अपनी जान बचाने के निमित्त होश-हवाश खो कर भागा। पर्याप्त समय तक भागने के अनन्तर चिर-परिचित सहकारी वर्ग के असह्य वियोग से पश्चात्ताप करता हुआ कहता है कि जिस भूमि में मेरा जन्म हुआ, जिस के तृणांकुर खाकर मैं पला था, उसे प्राण बचाने के लिए छोड़ दिया। अहो! जिन हरी हरी घास की क्यारियों में घास खाकर मैं उदर-पूर्ति किया करता था वे भी अब छोड़ दी हैं। अहो! कहां तक कहूं, जिन वृक्षों ने मुझे सूर्य की धूप के ताप से बचाने के लिए छाया देकर बंधुओं जैसा बर्ताव किया था, जो मेरे बन्धुओंके समान थे–पर अब मैं कृतघ्न हो उन्हें भी छोड़ रहा हूं। फिर इस से भी अधिक धिक्कार मुझे इस बात का है कि जो स्त्री दाम्पत्य-जीवन का आधार-स्तम्भ है, वह पत्नी जो अपने बच्चों के वियोग से व्याकुल हो रही थी, उसे भी मार्ग ही में छोड़ दिया। अहो! मैं ने इस नश्वर शरीर के बचाने के लिये कृतघ्नता की। इतने पर भी निर्दय व्याध मेरे पाँवों की निशानी देख कर मेरा पीछा करना नहीं छोड़ते हैं। यहाँ पर मृग के शोक से सहृदयों के हृदयों में अलौकिक चमत्कारी करुणरस का अनुभव होता है। यही करुणरस है।

आप इस मृग के उदाहरण से यह भी शिक्षा ले सकते हैं कि चाहे आप विपत्तियों से घिर कर अपने देश को छोड़ दें, अपने बाल-बच्चों को छोड़ दें, आप दूर भाग जायं परन्तु आप मृग के समान उस व्याध-रूपी कराल-काल की गालसे नहीं बच सकते। चाहे आप कहीं भाग जायं, यह तो आप को पकड़ कर अपना ग्रास बना ही लेगा। हज़रत मूसा को जब अपने महल में पता लगा कि

मेरी मौत आनेवाली है। तो वह मौत से डर कर बाहर जंगल में भाग पड़ा। जब जंगल में दो पर्वतों के बीच में से जा रहा था तो भूंचाल आ गया और दोनों पर्वत आपस में टकरा गये, जिस से मूसा बीचमें फंस कर काल-कवलित हो गया। भाव यह कि हम काल से डर कर कहीं भाग नहीं सकते। आप को यदि काल के आक्रमण से बचना ही है तो सर्वशक्तिमान् भगवान् का ध्यान करो, ताकि काल सर्वदा के लिये आप का पीछा छोड़ दे। प्रभु की शरण में आने पर काल के पाशों से मुक्त हो जाओगे। ऋषि मार्कण्डेय मृत्यु से भयभीत हो भगवान् शिव की शरण में गये। भगवान् की कृपा से अजर अमर हो गये।

अब आप उस मृगी के करुण-क्रन्दन को भी सुन लें जो मार्ग ही में रह गई थी। व्याध मृगी को भी अपनी गोली का निशाना बनाना चाहते हैं। उस समय मृगी कहती है—

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमङ्गान्,
मां मुञ्च वागुरिक यामि कुरु प्रसादम्।
सीदन्ति शष्पकवलग्रहणानभिज्ञाः,
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः ॥

मृगी व्याध से प्रार्थना करती है कि हे वागुरिक! (व्याध!) यदि तू मुझे मांस के लोभ से मारना चाहता है तो बेशक मेरे सारे शरीर के मांस को निकाल ले; परंतु मेरे स्तनों को छोड़ने की कृपा करना। मैं एक बार अपने बच्चों को दूध पिला आऊं। वापस आने पर फिर चाहे मुझे मार देना। मेरे भूखे बच्चे मेरी बाट देख रहे होंगे। वे किसी अन्य वस्तु को भी नहीं खा सकते, क्योंकि अभी वे घास के तिनके खाना भी नहीं जानते हैं। इस प्रकार मृगी व्याध को बहुत समझाती है। हे व्याध! तुम्हें परलोक का भय होना चाहिये। याद रख, एक दिन वह भी आयगा कि मैं तुम्हारे मांस को खाऊंगी।

क्यों कि मनु ने 'मांस' का अर्थ इस प्रकार किया है।

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥

जिस को मैं यहां (इस लोक म) खा रहा हू—वह भी मुझे पर-लोक में खायगा। यही मांस शब्द का अर्थ विद्वान् करते हैं। जिस प्राणी के मांस को मैं यहां इस लोक में खा रहा हूं—वह परलोक में मुझे खायगा।

वैराग्य की पराकाष्ठा में पहुंच जाने पर मनुष्य को जो दिव्यानन्द अनुभूत होता है, उसे शान्तरस कहते हैं—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा,
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः,
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥

सोने के सुन्दर हार और सर्प में, पुष्पों की शय्या तथा शिला में, मणि और लोष्ठ में, बलिष्ठ शत्रु और परम घनिष्ठ मित्र में, घास अथवा नारी में मेरी समान बुद्धि हो—ऐसा समय कब आयेगा? वे दिन कब आयेंगे जब पवित्र वन में पद्मासन लगा होगा तथा मैं शिव, शिव, शिव, यह रटन कर रहा हूँगा। मानव-जीवन में राग-द्वेष से रहित तथा भगवन्नाम-स्मरण का समय शीघ्र ही आये।

कौरूँ बादशाह अत्यंत लोभी था। उन दिनों में अरब देश में परम्परा थी कि मुरदा गाड़ते समय सवा रुपया उसके मुखमें रखते थे। अतिलोलुपता के कारण वह कब्रों को खुदवाता और मुरदों के मुख से पैसे निकलवा लेता। एक महात्मा ने दया करके उसे शिक्षा देने के लिये, एक सूई देनी चाही। कौरूं ने अपनी सम्मति से उस सूई को लेने से इन्कार कर दिया। महात्मा ने इन्कार का कारण पूछा। कौरूं ने कहा कि क्या सूई मेरे साथ जायगी? महात्माजी ने कहा अरे मूढ! क्या यह चालीस करोड़ की सम्पत्ति तेरे साथ जायगी? इससे भी तो तुझे हाथ धोना ही पड़ेगा।

"लङ्का गढ़ सोने का भया, मूर्ख रावण क्या ले गया"

तू तो है ही कौन? जो सिकन्दर विश्वविजयी राजा था, जिसने मरते समय अपने ज़नाज़े को बड़ी शान से निकालने की आज्ञा दी थी, वह भी साथ कुछ न ले गया। उसे भी खाली हाथ जाना पड़ा—

अगरचे मुहैय्या सब सामान मुलकी और माली थे।
सिकन्दर जब चला दुनिया से तो दोनों हाथ खाली थे।

सिकन्दर की माता ममता में पड़ कर मरघट में अपने बेटे को बुलाने लगी। पर वहां सिकन्दर कहां था? श्मशान ही ने आवाज़ दे कर सिकन्दर की माता को समझाया कि—

यहां लाखों सिम्कदर मुए रोती है किस सिकन्दर को॥

महात्मा के उपदेश को सुन कर कौरूं की आंखें खुल गईं। उसने रुपये का लोभ छोड़ उस से प्रजा-हित के कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार उसने अपना परलोक सुधार लिया।

सब कुछ जानते हुए भी यह संसार न मालूम क्यों माया-नागिनी की लपेट में आ रहा है। मनुष्य सुख के समय सभी कर्म, अकर्म भूल जाता है। अन्तकाल में कफ, वात, पित्त से गला रुक जाता है। तब पश्चात्ताप करता है—मैंने दान नहीं दिया, भगवन्नाम नहीं जपा, दीनों की सेवा नहीं की। प्रभो! पाहि, पाहि। इस प्रकार पश्चात्ताप करता हुआ संसार के विषय में कह देता है—

इतो न किञ्चित्ततो न किञ्चिद्
यतो यतो यामि ततो न किञ्चित्।
विचार्य्य पश्यामि जगन्न किञ्चित्
स्वात्मावबोधादधिकं न किञ्चित्॥

न इधर दौड़ने से कुछ सार मिला, न उधर दौड़ने से, जहां जहां गया, था जिस जिस से स्नेह किया, वहां कुछ भी न मिला। जब विचार कर देखा, तो यह संसार ही मिथ्या निकला। सार निकला आत्मदर्शन। अब आप समझ ये होंगे कि मनुष्य जब इस अवस्था में पहुंच जाता है। तो ब्रह्मानन्द-स्वरूप शान्त रस की अनुभूति होती है।

११

श्रीकृष्ण भोगी नहीं योगी थे

(१८-८-१८३९)

सज्जनो! परब्रह्म-स्वरूप आनन्द-कन्द श्रीकृष्ण भगवान् के सद्भाव का कर्म-योग से, चिद्भाव का ज्ञान-योग से और आनंदभाव का उपासना-योग से सम्बन्ध है। भगवान् ने सद्भाव (कर्मयोग) को महाभारत के घोर संग्राम में प्रदर्शित किया तथा चिद्भाव (ज्ञानयोग) को गीता जैसे अनुपम तथा अलौकिक उपदेश द्वारा प्रकट किया। उनका तीसरा आनन्दभाव (उपासना-योग) तब तक प्रकट नहीं हो सकता था जब तक भगवान् रासलीला को न रचते। यदि भगवान् रासलीला न रचते तो उपासना-योग अधूरा ही रह जाता। अतएव भक्तवत्सल प्रभु ने अपने भक्तों को भक्ति द्वारा निवृत्ति-मार्ग प्राप्त कराने के लिये गोपियों का आधार ले कर उच्च आदर्श स्थापित किया, जो रासलीला के स्वरूप में है, जिस के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों भावों का क्रमशः वर्णन किया जायगा।

पुराणों के स्वाध्याय करने से पता चलता है कि रासलीला की नायिकाएं जो गोपियां थीं, उनमें से बहुतसी तो देवियां थीं, जो अपनी परा भक्ति द्वारा सच्चिदानन्द प्रभु के दर्शन की अभिलाषा रखती थीं।

रासलीला के वस्तुतः दो मुख्य विषय हैं। प्रथम—अखण्ड ब्रह्मचारी रह कर श्रीकृष्ण का विश्वविजयी काम को परास्त करना। द्वितीय—शृंगाररस द्वारा निवृत्ति मार्ग का उपदेश देकर प्राणी को सच्चा सन्यासी बनाना। अब आप लोगों को बताया जायगा कि गोपिकाओं ने संसार को किस प्रकार छोड़ा? भगवान् ने किस दिन और क्यों मुरली की ध्वनि की? मुरली की ध्वनि गोपियों ही के आकर्षण का क्यों कारण बनी? शरत् पूर्णिमा ही को क्यों विनोद की तिथि चुना? रासक्रीड़ा की कैसी रात्रियां थीं? गोपियों की उन

रात्रियों में कैसी अवस्था थी? ये सब बातें विचार करने पर साफ हो जायंगी और आप को पता चल जायगा कि रासलीला सन्यासलीला कैसे है?

आप थोड़ा इस श्लोक पर ध्यान दें—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(भा० स्कन्ध० १० अ० २९ श्लो० १)

मल्लिका जिनमें फूल रही है तथा जिनमें कामदेव को युद्ध के लिए निमंत्रित किया था, ऐसी शरद् ऋतु की रात्रियों में भगवान् ने योगमाया का आश्रय ले कर रमण करने की इच्छा की।

अहा! यहां क्या ही सुंदर पद पड़ा हुआ है। क्या? "योगमायामुपाश्रितः" भगवान् ने योगमाया को धारण कर लिया। अब आप सोचें जो कामी होगा क्या वह योग को धारण कर सकेगा? कामी के हृदय में तो योग का लेश भी नहीं होता। भगवान् के लिये तो यहां लिखा कि वह योगमाया को धारण किये हुये थे। इतने पर भी न मालूम शास्त्रज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति क्यों भगवान् के चरित्र को दूषित करने का दुःसाहस करते हैं। वे यह भी विचार नहीं करते कि भगवान् यदि कामी होते तो यहां "**योगमायामुपाश्रितः**" के स्थान पर व्यासदेव जी ने "**भोगमायामुपाश्रितः**" ऐसा क्यों नहीं लिखा? व्यासदेव जी को सच्ची बात लिखने में क्या आपत्ति थी? अतः भगवान् श्रीकृष्ण में भोग की गन्ध तक न थी। भगवान् में तो योग का संयोग था। इसी लिये भगवान् योगेश्वरेश्वर कहलाते हैं।

सामान्यतः जिस व्यक्ति की जैसी प्रवृत्ति होती है, उसी प्रवृत्ति के अनुकूल स्थान पर वह जाता है। आप देखते हैं कि जिसका केस हो, या जिस को प्लीड़ करना हो, अथवा जजमैंट लिखनी हो, ऐसे व्यक्ति कोर्ट जाते हैं। जिसे खेल देखने का शौक हो वे सिनेमा-घर में जाते हैं। योगाश्रम में तो योग सीखने को उत्सुक व्यक्ति ही जायंगे। व्यक्ति का जैसा स्वभाव होगा, वैसे स्थान पर वह जायगा। भगवान् उस समय योगमाया से युक्त थे—अतः स्पष्ट है कि जिन की योग में रुचि होगी, वही वहां जायंगे—भगवान् अवश्य योग की शिक्षा देते होंगे। जहां योग होता है वहां भोग नहीं रहता और

भोगस्थल में योग नहीं रहता। इससे स्पष्ट है कि रासलीला योग-प्रधान है न कि भोग-प्रधान।

मैं ने सैंकडों बार रास-पञ्चाध्यायी (दशम स्कन्ध. अ. २९, ३०, ३१, ३२, ३३,) का अध्ययन किया है। मुझे तो रासलीला में भोग की गंध भी दिखाई नहीं पड़ी। लोग न जाने क्यों रासलीला को भ्रष्ट बताते हैं? वस्तुतः रासलीला भ्रष्ट नहीं है, भ्रष्ट तो उन व्यक्तियों का मन है जो रासलीला को भ्रष्ट कहते हैं। वे अपने मन के दोषों का रासलीला पर आरोप करते हैं। जैसे तिरछे शीशे में तिरछा प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वैसी ही अवस्था यहां पर है। देखिये! व्यासदेवजी ने भगवान् के विषय में कितना सुन्दर कहा है—

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥

(भा० स्क० १० अ० २९, श्लो० ४२)

योगेश्वरों के भी ईश्वर (स्वामी) श्रीकृष्ण ने जब उन गोपियों के दीनता भरे वचनों को सुना तो हँसते हुये, कुछ दयाभाव प्रकट करते हुये उन्होंने गोपियों से रमण-क्रीड़ा की। भगवान् कैसे थे? "आत्मारामः"। इस पद को देकर व्यासदेव जी ने गज़ब ही कर दिया। इस पद से शङ्कावादियों की सभी शङ्कायें काफ़ूर हो जाती हैं। इस पद से पता चलता है कि उस समय भगवान् आत्माराम थे, तात्पर्य आत्मज्ञान में लीन थे। क्या आत्माराम से विषयासक्ति की सम्भावना की जा सकती है? नहीं, यह तो इतना ही असम्भव है जितना आकाश के पुष्पों का होना। इस विषय में प्रमाण भी तो मिलता है। महिम्न-स्तोत्र में भक्त भगवान् शिव से "महोक्षः खट्वाङ्गम्" इस श्लोक द्वारा कहता है—हे वरद! आप की तो विचित्र ही लीला है, क्योंकि यदि आप के घर की कोई तलाशी ले, तो आप के घर से इतनी सामग्री भी बड़ी कठिनता से प्राप्त कर सके—क्या? वैसे तो आप कुबेराधिपति हैं। धन की कोई कमी नहीं। यह सब होते हुये भी न मोटर है, न साईकल। तो क्या रखा है? एक बूढ़ा बैल, जवान बैल भी नहीं। आपके घर की तलाशी ली तो क्या मिला? एक खाट का पाया या लोहे का एक चिमटा, कुठार, मृगचर्म, तथा भस्म। और अधिक परिश्रम-पूर्वक तलाशी की गई। मैंने सोचा कि फूलों

का हार तो मिलेगा ही, जैसे ही हार को हाथ लगाया तो फुंकारता हुआ साँप ही हाथ में आगया। हे प्रभो! मैंने सोचा कि कोई खाने पीने का बर्तन तो प्रभु ने अवश्य रखा होगा। जब उस की खोज की तो एक मुर्दे की खोपड़ी ही हाथ लगी। आप के घर में इतनी ही सामग्री है। देवता लोग आप की भृकुटि के चालन से उत्पन्न हुई बड़ी बड़ी ऋद्धि-सिद्धियों को प्राप्त करते हैं। और तो क्या, आपके प्रसाद से रावण सोने की लङ्का का स्वामी बन गया। आपके घर पर तो निर्धनता का साम्राज्य तथा आपके इशारे पर नाचे अनन्त लोकों की विभूति। यह क्या?

"नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति"

जो व्यक्ति अपने स्वरूप में रमण करते हैं, उन्हें विषय-वासनाएं अपने चक्र में नहीं डाल सकतीं।

ऐसी अवस्था में प्रभु श्रीकृष्ण आत्माराम होते हुये क्या भोगी कहे जा सकते हैं? नहीं, कदापि नहीं। प्रभु तो योगी थे, न कि भोगी। वे सन्यासी थे न कि विलासी। अच्छा और भी सुन लें—३२ वें अध्याय में वेदव्यास जी लिखते हैं—

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः॥

प्रभु के अन्तर्धान होने पर गोपियों ने करुण विलाप किया। तदनन्तर प्रभु का गुणानुवाद। गुणानुवाद करने पर शौरि श्रीकृष्ण प्रकट हुए। उनके मुखकमल पर मुस्कान थी। उन्होंने पीताम्बर धारण कर रखा था। उनके गले में माला सुशोभित हो रही थी। भगवान् साक्षात् मन्मथ (कामदेव) के मन का भी मन्थन करने वाले थे। "मन्मथमन्मथः" इस पद से स्पष्ट है कि भगवान् ने कामदेव के मन का भी मन्थन कर डाला। अतः कामदेव को भी परास्त कर दिया। कामदेव बहुत बलवान् है। कामदेव ने तो भगवान् शङ्कर पर भी हाथ साफ किया था। इसने तो बड़े बड़े महर्षियों को भी जीत रखा है। जो महर्षि वायु-भक्षण, जलमात्र का पान और सूखे पत्ते खाते थे, ऐसे ऋषि भी कामदेव के सम्मुख अपना प्रभाव न दिखा पाये। सभी परास्त हो गये।

सामान्य प्राणी यदि कहें कि हम इन्द्रियों को जीत लेंगे, तो उनके लिये यह कार्य उतना ही असम्भव है, जितना विन्ध्याचल पर्वत का हिन्द-सागर तैर कर पार कर लेना। बस, जिस समय कामदेव किसी पर आक्रमण करता है, तो बड़े बड़े महापुरुष भी धैर्य छोड़ बैठते हैं। जिस काम ने विश्व विजयी की उपाधि प्राप्त कर रखी थी, भगवान् ने उस कन्दर्प के दर्प का दलन किया। अत एव पणबन्ध (शर्त्त) के अनुसार पराजित काम को भगवान् का बेटा प्रद्युम्न बनना पड़ा।

विचार करने पर पता चलता है कि वास्तव में यह रासलीला न थी। यह तो प्रभु कृष्ण का कामदेव के साथ सङ्ग्राम था। कामदेवको लड़ने का दिन पहले ही से बता दिया गया था। इसी लिये तो कहा गया कि—"ता रात्रीः" भाव—वे रात्रियां, कौन सी? जिन में कामदेव को युद्ध के लिये कहा गया था। यहां पर यह सन्देह भी होता है कि "ताः" यह बहुवचन क्यों दिया गया? यह रात्रि शरद् ऋतु की पूर्णिमा थी। इस रात्रि में स्वयं भगवान् अपना युद्ध-कौशल तथा जितेन्द्रियत्व दिखाने वाले थे। अतः यह रात्रि महत्त्वशालिनी हो गई। जो महत्त्व-शाली अथवा बड़ा व्यक्ति हो उसके लिये एकवचन का प्रयोग न कर बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। पुराणों में तो यहां तक लिखा है कि जो अपने गुरू को या विद्वान् ब्राह्मण को तू बोलता है, अथवा उनका अपमान करने के लिये वृथा वितण्डावाद करता है, उस को श्मशान वृक्ष की योनि में जन्म लेना पड़ता है। इसी वास्ते इस शरत् पूर्णिमा की रात्रि के लिये एकवचन के स्थान पर सम्मान के लिये बहुवचन का प्रयोग किया गया। इससे आप लोगों को यह भी स्पष्ट हो गया होगा कि कामदेव और भगवान् श्रीकृष्ण का युद्ध ही रासलीला में कारण था। इस संग्राम में भगवान् श्रीकृष्ण जीत गये और कामदेव हार गये।

अब आप निवृत्ति-मार्ग को भी रासक्रीड़ा से समझ लें। संसार का त्याग कब करना चाहिये? किस अवस्था में? और क्यों? इन सभी प्रश्नों का उत्तर आपको रासक्रीड़ा से प्राप्त हो जायगा। सामान्यतः यह सन्देह हर समय मन में कांटे के समान चुभता रहता है कि संसार के कार्यों को बीच ही में छोड़ कर या उनको पूरा करके निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करें? ये सब शङ्कायें रासलीला से निवृत्त हो जायेंगी। आप यह सन्देह न करें कि रास-पञ्चाध्यायी

निवृत्ति-मार्ग को कैसे बतलाती है? और इस में क्या प्रमाण है? श्रीधरस्वामी इस विषय में कहते हैं—

"किंच श्रृङ्गारकथोपदेशेन श्लेषतो निवृत्तिपरेयं
रासपञ्चाध्यायीति व्यक्तीकरिष्यामः।"

"श्रृङ्गाररस-निरूपण के व्याज से रासपञ्चाध्यायी निवृत्ति-परक है, प्रवृत्ति-परक नहीं, यह हम टीका करते समय विशेष विशेष स्थलों में प्रगट करेंगे।" देखिये! भगवान् के विषय में यह जो कहा गया कि "योग-मायामुपाश्रितः" इससे निवृत्तिमार्ग का ही रहस्य बतलाया गया है। तुम यदि संसार को छोड़ना चाहते हो, संसार के पदार्थों से रुचि हटाना चाहते हो, तो तुम्हें पहले योग का आश्रय लेना पड़ेगा। अविद्या एक प्रकार की रात्रि है। संसार के सुन्दर सुन्दर पदार्थों के मनोहर दृश्य मल्लिका-लता के फूल हैं। ये आप को अपनी ओर खींचते हैं और मायाग्रस्त बना लेते हैं। जब आप भगवान् श्रीकृष्ण के समान योग-रूपी कवच धारण कर लोगे, तब आप को कोई भी कामना या कामिनी (स्त्री) नहीं खींच सकेगी। योग की सहायता लिये विना तो आप को कामना तथा कामिनी बेदाम का गुलाम बना लेंगी। अतः अपने आपको पहले योग द्वारा सबल बना लो। फिर आप संसार में रहते हुये भी सांसारिक पदार्थों से अलग रहोगे।

माखन छाछ से निकलता है और उसके अन्दर से निकल कर उस के ऊपर ही रहता है, निर्लेप तथा पृथक् ही टिका रहता है। इसी प्रकार गृहस्थ में रहते हुये भी आप योग द्वारा सांसारिक पदार्थों से पृथक् ही रह सकते हो।

"भगवानपि" इस श्लोक के अनुसार रास के समय शरद् ऋतु थी और पूर्णिमा की रात थी। उस समय भगवान् ने "जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्" वंशी बजाई। यहाँ 'कलं' शब्द का अर्थ मनोहर है और 'मनोहर' पद स्वतंत्र भी पड़ा हुआ है। ऐसी अवस्था में समानार्थक दो शब्द क्यों दिये? ऐसा सन्देह होने पर विचार किया जाता है कि "कलं" पद दे कर कोई अत्यन्त गूढ़ भाव भर दिया गया है। मन्त्रशास्त्र के अनुसार प्रत्येक देवता का बीज-मन्त्र होता है, जैसे सरस्वती का "ऐं" यह बीज मन्त्र है। वैसे ही कामदेव

का "क्लीं" यह बीज-मन्त्र है। बीज का अर्थ कारण होता है। कारण में सब कार्यों (कामनाओं) का लय होता है। जैसे सम्पूर्ण जगत् का कारण ब्रह्म है और अन्त में सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। ब्रह्म रसस्वरूप है। सभी रस ब्रह्म ही से उत्पन्न होते हैं और इसीमें लीन हो जाते हैं। माया के प्रभाव से हम एक ही रस को अनेक रसों में देखते हैं। जैसे माता पिता तथा गुरू में श्रद्धा-भक्ति, छोटों में स्नेह और बराबर वालों से प्रीति द्वारा अनेक रसों का अनुभव कर लेते हैं। जब तक प्राणी माया-देवी का पुजारी बना रहता है तब तक माता, पिता, बन्धु, कन्या, स्त्री इत्यादि में भिन्न भिन्न रसानुभव होता है। परन्तु जब प्रभु या गुरुदेव जी की कृपासे विचार किया तो पता चला कि माता पितादि में जो रसानुभव है, वह तो मायिक है। वास्तव में रसस्वरूप तो एक परमात्मा ही हैं। उस समय सभी मायिक रसों का लय उस रसस्वरूप ब्रह्म में ही कर लेता है। शांत हो कर सर्वत्र बाँके बिहारी की झांकी देखता है। माता-पिता, स्त्री, भाई तथा बन्धु का जो भेदयुक्त रसरूप प्रेम था, वह सब रसस्वरूप ब्रह्म के अन्दर कामनाओं को लय करने पर फीका पड़ जाता है।

बस, यही बात "कल" पदसे निकली। "कल" का तात्पर्य "क्लीं" है, जो कामदेव का बीज है। जिसमें सभी कामनाएं लीन हो जाती हैं। क्योंकि "क्लीं" बीज हुआ, बीज का अर्थ है कारण और कारण में सभी कार्य (कामनायें) लय हो जाती हैं। अतः भगवान् ने उस समय ऐसा कलनाद किया, जो सब कामनाओं को लय करने वाला था। जिसे सुन कर गोपिकायें वैराग्य में डूब गईं; क्योंकि मुरली के सप्त छिद्रों के मेल से जो एक कलनाद उत्पन्न हुआ वह अत्यन्त मधुर था। जैसे सब रसों का मेल एक मूलाधार ब्रह्म में होने से अलौकिक रसास्वाद होता है, वैसे ही मुरली के कलनाद से उत्पन्न होने वाले अलौकिक रसास्वाद से गोपियां आकृष्ट हुईं।

पीछे यह जो कहा था कि गोपिकाएं मुरली के कलनाद से आकृष्ट हो कर सब कृत्यों को छोड़ कर कृष्ण के समीप चली गईं, पर कैसे गईं कि— "**अन्योन्यमलक्षितोद्यमाः**" किसी दूसरी को विना खबर दिये चली आईं। इससे यह भाव निकलता है कि प्राणी को जब वैराग्य छा जाता है, वह तब

चुपके ही से चल पड़ता है। किसी को पता नहीं चलने देता। आज तक जितने व्यक्ति संसार से विरक्त हुये हैं, वे सभी अचानक विना किसी सूचना के घर से निकले हैं। उन्होंने कोई न्यूज़पेपरों में नोटिस नहीं दिया कि हम अमुक समय विरक्त हो कर जायेंगे। आपको भी यदि वैराग्य छा जाय तो क्या आप पहले "डेली हैराल्ड" में खबर दे कर घर से निकलेंगे? नहीं, आप भी किसी सम्बन्धी को पता न दे कर तथा घर के सब कृत्यों को छोड़ चल पड़ेंगे। बस यही बात गोपियों के साथ हुई। उनकी सब कामनाएं शान्त हो गई थीं। अतः एकदम कलनाद सुन वैराग्य-अवस्था में भगवान् श्रीकृष्ण की ओर भाग पड़ीं।

थी। अतः मनुष्यों की प्रेमाग्नि दबी ही रही, उज्ज्वल और देदीप्यमान होकर वैराग्य-रूपी ज्वालाओं के रूप में भड़क न सकी।

कल यह भी कहा गया था कि गोपियों ने अपने कार्यों को अधूरा ही छोड़ दिया था। जिससे यह भाव निकलता है कि जब किसी को वैराग्य हो जाता है, उस समय वह कार्यों की पूर्णता अपूर्णता की ओर नहीं देखता। क्योंकि ये इच्छाएं तो सतत बढ़ती ही रहती हैं, कभी समाप्त नहीं होतीं। हम एक इच्छा-पूर्ति करते हैं, इतने में दूसरी उपस्थित हो जाती है। हमारी आशा एक प्रकार की नदी है, इसमें मनोरथ-रूपी जल है, इस मनोरथ-रूपी जल की तरंगें उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं। यदि हम प्रवृत्ति–मार्ग से निवृत्ति-मार्ग की ओर जाते हुए यह सोच लें कि थोड़ासा काम और कर लें। गृहस्थाश्रम की गाड़ी ठीक चलने लगे, फिर संसार छोड़ देंगे; ऐसा सोचने पर वह काम तो सम्पूर्ण हो जाता है, तदनन्तर यह इच्छा उत्पन्न हो जाती है कि घर का काम ठीक प्रकार से चल तो पड़ा है यदि बीच में ही छोड़कर चले गये तो पुत्रों से घरका काम शायद इस प्रकार नहीं चल सकेगा। पुत्र भी अनुभवी हो गया, काम संभालने योग्य भी है, उसका विवाह भी कर दिया है। फिर इच्छा होती है कि पौत्र का मुख तो देख चलें, फिर संसार छोड़कर प्रभु का स्मरण करेंगे। पौत्र का मुख-दर्शन होने पर विचार आता है–थोड़ा पढ़ने लिखने लग जाय तो घर से अवकाश लें। पौत्र के पढ-लिख लेने के पश्चात् इच्छा होती है कि इसका विवाह अपनी आंखों से और देख लें। बस इसी प्रतीक्षा में काल आ दबोचता है और प्रभु का नाम-स्मरण तो बाकी ही रह जाता है। यह सब गृह-कार्यों के वासना-जाल में फंसे रहने का ही फल है। गोपिकाओं ने तो सोचा कि यदि यह समय चूक गया तो हम संसार के मोह-जाल से नहीं निकल सकेंगी। उन्होंने न तो पुत्र को दूध पिलाने की चेष्टा की, न भोजन ही पकाने का प्रयत्न किया। सभी कार्य अधूरे छोड़ प्रभु की वंशी का कलनाद सुनते ही उनकी शरण में चली गईं। इस प्रकार उन्होंने मुमुक्षुओं के लिए आदर्श प्रस्तुत कर दिया कि तुम्हें वैराग्य के समय सांसारिक कार्य अधूरे ही छोड़ने पड़ेंगे। जैसा कि वेद भगवान् भी कह रहे हैं—

"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्"

"जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन संसार को छोड़ दे।" समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये कि अभी तो मैं युवा हूं। वृद्ध होने पर संसार त्याग कर प्रभु-भजन करूंगा। यदि ऐसी भावना बन गई तो समझो सब काम बिगड़ गया। जब काल की गाल में जाने का कोई समय निश्चित नहीं है तो प्रभु-स्मरण का समय कैसे निश्चित हो सकता है। हम किसी भी अवस्था में किसी भी समय प्रभु की शरण में जा सकते हैं। बस, आवश्यकता तो इस बात की है कि गोपिकाओं की भांति प्रभु-चरणों में सच्चा प्रेम होना चाहिये। प्रभु सच्चे प्रेम के भूखे हैं उन्हें न तो धन की आवश्यकता है, न अच्छे अच्छे भोजनों की। यदि धन और सुन्दर पदार्थों की प्रभु को कामना होती तो धनी लोग प्रभुको कभी से अपना ही बना लेते। क्योंकि धनी पुरुषों के पास धन की कोई कमी नहीं है। परन्तु प्रभु तो सच्चा प्रेम ही देखते हैं। देखिए—एक कवि क्या कहते हैं—

पढ्यो लिख्यो न जप कियो तप न कियो गजराज।
रहमन फूल दिखाय के टेर लियो ब्रजराज ॥

गजराज ने कौन सी थैली भेंट की थी—केवल कमल के पुष्प से ही प्रभु को प्रसन्न कर लिया था। सुदामा ने सूखे चावलों से ही प्रभु को रस-सागर में मग्न कर दिया, और तो क्या, प्रभु भीलनी के बेरों से प्रसन्न हो गये। अब कलियुग में तो और भी काम सस्ता बन गया है। यथा—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥

आजकल हम केवल एक तुलसीदल और चुल्लू भर पानी से प्रभु को प्रसन्न कर सकते हैं। तो यह सब सच्चे प्रेम की ही महिमा है। गोपियों के गृहकार्य के त्याग के अवसर पर श्रीमद्भागवत में कहा है—

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित् कृष्णान्तिकं ययुः।

कितनी ही गोपियों ने शीघ्रता-वश अपने वस्त्राभूषणों को उलटा ही पहन लिया—गले का आभूषण चरणो में और चरणोंका आभूषण गले में। प्रभु-प्रेम में उन्हें उलटे सुलटे का भान ही नहीं रहा।

१३

सात्विक भाव—निष्काम भक्ति का फल

(२१-८-१९३८)

सज्जनो! गत-दिवस के भाषण से यह सिद्ध हुआ कि प्रभु की निष्काम सेवा में यदि कोई त्रुटि भी आ जाय तो प्रभु उस पर क्रुद्ध नहीं होते अपितु प्रसन्न ही होते हैं। यदि सकाम भाव से किये हुये कार्य में त्रुटि रह जाय तो उसका दंड अवश्य भुगतना पड़ता है। राजा नृग ने एक सहस्र गौ का दान स्वर्ग-कामना से किया, पर एक गौ भूल से वापस आ गई जिसका यह फल हुआ कि नृग-राजा को स्वर्ग की बजाय गिरगट की योनि में जाना पड़ा। कहना पड़ेगा कि उसने धर्म तो किया पर सकाम भाव से। अतः सकाम भाव से किए हुए प्रभु-निमित्त कार्य में यदि थोड़ी सी भी त्रुटि आ जाए तो समझो पुण्य के स्थान पर पाप ही होगा। यदि हम प्रभु-सेवा निष्काम कर रहे हैं तो उसमें त्रुटि होने पर भी प्रभु हमसे प्रसन्न ही रहेंगे। इस विषय का एक सुन्दर उदाहरण स्मरण दिला दूँ।

एक दिन प्रभु श्रीकृष्ण विदुरजी के घर पधारे। विदुर जी स्वयं उस समय घर पर नहीं थे। विदुराणी जी प्रभु को घर आये देख इतनी प्रेम-मग्न हो गई कि अपना वस्त्र ही ऊपर लेना भूल गई। प्रेम में तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है। यदि साक्षात् जगदीश्वर घर पधारें फिर सुध-बुध तो क्या, प्राणी अपने आप को भी भूल सकता है। ज्योंही विवस्त्रा विदुराणी प्रभुके चरण-स्पर्श करने लगी तो भगवान् ने अपना पीताम्बर विदुराणी के ऊपर डाल दिया। नमस्कार के अनन्तर विदुराणी भगवान् को केले का भोग लगाने लगी। प्रभु-दर्शन की प्रसन्नता में ऐसी मग्न हुई कि केले का गूदा निकाल कर नीचे फैंक रही है और छिलका भगवान् को खिला रही है। भगवान् कृष्ण भी आनन्द-पूर्वक खा रहे हैं। इतने में विदुरजी भी बाहर से घर आये और

विदुराणी की मूर्खता पर उसे झिड़कने लगे। अरि मूर्खे! तू केले का गूदा तो नीचे फैंक रही है और छिलका प्रभु को खिला रही है। तब विदुराणी को होश आया और अपनी भूल पर पश्चात्ताप करने लगी। ओहो! मैं क्या कर रही थी? अपनी मूर्खता के कारण लज्जित होती हुई घर के भीतर चली गई और अपने किए पर आँसू बहाने लगी। मैंने अपने ही हाथों से प्रभु को छिलके खिला दिये और गूदा फैंक दिया, अतः मेरे हाथों से बढ़कर कौन पापी होगा? यह विचार कर झट से तलवार द्वारा दोनों हाथ काट देती है।

इधर विदुराणी के स्थान पर विदुर जी भगवान् को केला छील कर खिलाने लगे। एक-दो केले खाने के पश्चात् भगवान्‌ने कहा—बस विदुरजी! वह तो स्वाद ही नहीं रहा! असली स्वाद तो विदुराणी के दिये हुए छिलकों में ही था। यह सुन विदुर जी घर के भीतर विदुराणी को भोजन बनाने के लिए कहने गये, तो क्या देखते हैं कि विदुराणी ने तो अपने हाथ ही काट दिये हैं। अब बेचारे विदुर जी बड़े असमंजस में पड़ गये कि भगवान् का भोजन द्वारा कैसे सम्मान करें। अन्त में स्वयं भोजन बनाने को तैयार हुए। वे सोचने लगे कि प्रभु को इस रहस्य का पता ही न चलने दूं कि भोजन विदुर ने बनाया है अथवा विदुराणी ने। पर सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ प्रभु से क्या छिपा था। कुछ ही देर के बाद विदुर के पास रसोईघर में आ पहुँचे। पूछने लगे कि विदुर जी! विदुराणीजी कहा हैं? आप क्यों भोजन बना रहे हैं? विदुर जी ने कुछ सकुचाते हुए धीरे से कहा "यहीं है भगवन्! कुछ काम कर रही होगी।" प्रभु ने कहा—हमारे पास बुलाओ। भगवान् का इतना कहना था कि विदुराणी को विवश हो कर आना ही पड़ा। ज्यों हीं वह कटे हुए हाथों को छिपाती हुई प्रभु के सामने नमस्कार करने को झुकती है त्योंही उस के कटे हाथ पहले की भान्ति ही हो जाते हैं। प्रभु अपना यह चमत्कार दिखलाकर बाहर आकर वहीं बैंठ जाते हैं। कहने का भाव यह है कि प्रभु की निष्काम सेवा करते हुए उसमें कोई त्रुटि भी कर बैठें तो भी प्रभु हमसे क्रुद्ध नहीं होते, अपितु प्रसन्न ही होते हैं।

सम्भवतः आपने शिवाजी के गुरु समर्थ रामदासजी का नाम तो सुना ही होगा, उनका एक शिष्य था बैंडा। एक समय समर्थ रामदासजी चातुर्मास्य

करने के लिए अन्यत्र कहीं चले गये। बैंडे को भगवान् राम की सेवा के लिये वहीं छोड़ गये। बैंड़ा को "यथा नरे तथा नारायणे" का मूलमंत्र समझा दिया कि जिस प्रकार तुम अपनी शरीर-रक्षा के लिये यत्न करते हो उसी प्रकार प्रभु की भी सेवा करना—देखना कोई कमी न आने पावे। अच्छी प्रकार विधिपूर्वक पूजा होनी चाहिये। बैंडा (टेढ़ा) ही ठहरा, कुछ पढ़ा लिखा न होने पर भी प्रभु का पक्का भक्त था। कहने लगा—गुरुजी! मैं भगवान् की पूजा और स्तवन के लिये वेद-मंत्र तो जानता नहीं, सीधी सादी पूजा कर दिया करूंगा। जो मैं अपने लिये करूंगा वह भगवान् के लिये भी अवश्य कर दूंगा। तदनन्तर गुरुजी भोले-भाले बैंडे को समझा बुझाकर चले गये।

अगले दिन प्रातःकाल हुआ तो बैंडा ने अपने स्वभावानुसार प्रभु के सामने भी एक लोटा पानी का भर कर रख दिया और प्रार्थना करने लगा कि भगवन्! आप भी शौचादि (नित्यक्रिया) से निवृत्त हो जावें। भगवान् तो शौचादि क्रियाओं से सदा ही निवृत्त हैं। पर भक्त मानें तब न! बैंडा के सत्याग्रह को देखकर भगवान् भी कुछ नर्म हुए और लोटा उठा कर शौचादि के लिए चल दिये। दन्त धावन के पश्चात् स्नान कर प्रभु सिंहासनासीन हुए।

इस प्रकार प्रभु की नित्य सेवा होने लगी। प्रभु भी अपने भोले भाले भक्त के स्वभाव को देख कर अति प्रसन्न थे। कुछ दिनों के बाद आश्रम में साधु महात्माओं की संख्या अधिक हो गई। जिसके कारण बैंडा को भोजन तैयार करने में बहुत श्रम करना पड़ता था। बैंडा ने एक उपाय सोचा कि ये हमारे भगवान् तथा उनके सेवक हनुमानादि निठल्ले बैठे रहते हैं। इनसे भी कुछ काम लेना चाहिये। यह सोच कर सीधे स्वभाव वाले भक्त ने हनुमान् जी से हाथ जोड़कर कहा—महावीर जी! आप इतने मोटे ताज़े हैं। फिर भी सदा खाली बैठे रहते हैं, यदि आप पानी ही ला दिया करो तो आपकी बहुत कृपा होगी। हनुमान्‌जी ने भक्त की आज्ञा स्वीकार कर ली। धीरे धीरे भंडार के सब काम बांट दिये—लकड़ी फाड़ने में लक्ष्मण को, रोटी पकाने में माता सीता को और दोने तैयार करने में प्रभु राम को नियुक्त कर दिया। अब सब देव सहर्ष भक्त की आज्ञा का पालन कर रहे हैं। क्योकि प्रभु-भक्त पहले तो सेवक होता है और बाद में भक्ति के अद्‌भुत विज्ञान से प्रभुको सेवक बना लेता है और स्वयं स्वामी बन बैठता है। ऐसी परम्परा भक्त-समुदाय में सदा से

चली आ रही है—यह बात इतिहास के पाठकों से छिपी नहीं है। यहां भी बैंडे की सहायता प्रभु अपने अनुचरो सहित कर रहे हैं।

इतने में चातुर्मास्य का समय व्यतीत हुआ। गुरु समर्थ रामदास जी के वापस पधारने की सूचना प्राप्त हुई। आश्रम से कुछ दूरी पर ही बैंडा ने गुरु जी का स्वागत किया। शिष्यने गुरुदेव के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। गुरुजी ने आशीर्वाद देने के बाद पूछा—क्यों बेटा! प्रभु तो तुम्हारी सेवा से प्रसन्न हैं न? आश्रम में सब प्रकार से आनन्द तो है? बैंडे ने कहा–हां गुरुदेव! भगवान् बहुत ही प्रसन्न हैं। अन्तर केवल इतना है कि पहले प्रभु निष्क्रिय बैठे रहते थे अब ज़रा कर्मयोगी बन गये हैं। बैंडे की इस बात का भाव गुरुजी समझ न सके और विशेष ध्यान न देते हुए आगे बढ़ गये। आश्रम में जाकर क्या देखते हैं कि हनुमान् जी पानी की गागरें ला रहे हैं। लक्ष्मण जी लकड़ी फाड़ रहे हैं। माता सीता रोटी पका रही है। पुरुषोत्तम भगवान् राम दोने बना रहे हैं। जब गुरू समर्थ रामदास जी ने यह दशा अपने इष्ट देवों की देखी तो लगे एकदम रोने। हा! मेरे इष्ट देवों की यह हालत किस दुष्ट ने की है। वे रोते हुये प्रभु के चरणों पर गिर कर क्षमा मांगने लगे। प्रभुने कहा कि हे समर्थ रामदास! तुम कोई चिन्ता न करो। मैं जैसा बैंडे की सेवा से प्रसन्न हुआ हूं, वैसा तुम्हारी सेवा से प्रसन्न नहीं था। मैं अपने ऐसे भोले-भाले भक्तों से ही प्रसन्न होता हूं जो निष्काम भाव से मेरी सेवा करते हैं। चाहे वे कोई भूल भी कर दें, तब भी मैं उनपर प्रसन्न ही रहता हूं। इस कहानी के सार का एक कवि ने इस प्रकार वर्णन किया है:—

वायुसुतो जलाहारे लक्ष्मणो दारुभेदने।
जानकी पाकसंसिद्धौ रामस्तु पुटयोजने॥
नियुक्ता बालभक्तेन भक्तानां किं हि दुष्करम्।
अचिन्त्यमहिमा भक्तिर्गोविन्दो भक्तवत्सलः॥

हनुमान् को पानी लाने, लक्ष्मण को लकड़ी फाड़ने, माता सीता को रोटी बनाने और प्रभु रामको दोने बनाने में भोले-भाले बैंडे भक्त ने नियुक्त कर

दिया। भक्तों के लिये कोई भी कार्य कठिन नहीं है। क्योंकि भक्ति की महिमा अचिंत्य है और भक्त-वत्सल भगवान् भक्तों के सर्वदा रक्षक हैं।

अब आप समझ गये होंगे कि गोपियों के उलटे सुलटे पहने वस्त्र हमें क्या शिक्षा देते हैं। अतः आपमें भी वह शक्ति आनी चाहिये जिससे आप गोपियों की भांति निष्काम प्रेमसे प्रभु को अपने वश में कर सकें। नेपोलियन बोनापार्ट के शब्दों में संसार में कोई भी बात असंभव नहीं है।

१४

राजस भाव—सकाम भक्ति का फल

(२२-८-१९३८)

सज्जनो! आज आपको सात्विक भाव और राजस भाव की सेवा का रहस्य बतलाया जायगा। निष्काम भाव से प्रभु को भजने-वाली गोपियों को क्या मिला और सकाम भाव से सेवा करने वाली गोपियों की क्या दशा हुई? इससे आपको अपना मार्ग निश्चित करने में भी सुविधा हो जायगी। गोपिकाएं प्रभु श्रीकृष्ण की मुरली की मधुर-ध्वनि सुनकर अपने अधूरे काम छोड़ दौड़ पड़ीं। जाती हुई गोपियों को उनके माता-पिता तथा बन्धुओं ने बहुत रोका पर वे किसीसे भी रुक न सकीं, जिससे उनके प्रेम की अगाधता का परिचय मिलता है। प्राणी जब तक माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहनों से नाता तोड़ कर प्रभु-चरणों में ही प्रेम उत्पन्न नहीं कर लेता तभी तक लज्जा, भय आदि पाशों में बन्धा रहता है। पत्नी यदि कोई अनुचित कार्य करती है तो उसे पति का भय होता है। पुत्र-पुत्री को माता-पिता की आज्ञा भंग करना दुष्कर होता है। कुलीन महिलाओं को कुल-कलंक का भय बाधित करता है। परन्तु ये सब भय तभी तक भीति-दायक हैं जब तक हम सांसारिक व्यवहारसे सम्बन्ध रखते हैं। जब तक हमारी बुद्धि सांसारिक कृत्यों का निमित्त लेकर कुमार्ग की ओर प्रवृत्त होती है, तभी तक लज्जा-भयादि पाश हमारा पीछा नहीं छोड़ते। यदि हमारा प्रेम प्रभु के चरणों की ओर बढ़ रहा है तो लज्जा-भयादि पाश हमें जकड़ नहीं सकते।

हां, यह तो निःसन्देह बात है कि भगवत्सेवा में उपस्थित होते समय अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ेगा। भाई-बन्धुओं की अनेक बातें सुननी पड़ेंगी। रुकावटों को पार करना होगा। पर यदि उस समय कुटुम्बियों की रुकावटों से हतोत्साह होकर प्रभु-सेवा से विमुख हो जाते हैं, तो समझो हम अपने ही

हाथ से अपने जीवन-पथ में रोड़े अटका रहे हैं। गोपिकाओं ने भी तो हमें यही शिक्षा दी है कि जिस प्रकार हम प्रभु–प्रेम–धारा में बहती हुई माता पिता की रुकावटों को पार कर आई हैं, इसी प्रकार मुमुक्षु प्राणी को भी चाहिये कि वह सांसारिक बन्धनों को ठुकरा दे।

वास्तव में यह बात ठीक ही है, क्योंकि आज तक जितने प्रभु-भक्त हुए हैं, उनके भक्ति-मार्ग में अनेक विघ्नों ने सिर उठाया, प्राणों तक के लेने का भय दिखलाया, पर प्रभु-भक्तों ने नश्वर शरीर की परवाह न करते हुए आगे ही कदम बढ़ाया। अपनी भाग्य नैय्या प्रभु के हवाले कर दी। ऐसे भक्त सोचते हैं कि यदि हम प्रभु के हैं तो प्रभु स्वयं हमारे विघ्नों का निवारण करेंगे। भक्तों का प्रभु पर पूरा विश्वास होता है।

भक्त प्रह्लाद को अनेक भयकर विपत्तियों में डाला गया, पर प्रह्लाद को कोई परवाह नहीं, न पिता की आज्ञा भंग करने का भय है, न माता के आदेश पालन का विचार है, केवल ध्यान है तो प्रभु-चरणों का। इसी प्रकार मीराबाई को उसके "देवर" राणा ने बहुत समझाया कि हम मेवाड़ के वे क्षत्रिय हैं जो अपनी शान और मान के लिये मर मिटते हैं। तुम्हारे इस आचरण से हमारे कुल पर लांछन लगने का भय है। हमारे वंश की कुल-बधू इधर उधर मन्दिरों में नाचती फिरे यह हमारे लिये लज्जा की बात है। पर मीरा के लिये कुल-कलंक का भय कुछ महत्त्व नहीं रखता। वह कहती है कि कुल-कलंक तथा लज्जादि तो तब तक हैं जब तक शरीर से सम्बन्ध होता है। अब तो मेरा सम्बन्ध न शरीर से है और न आप से। मैंने इस विचार को भी मन से निकाल दिया है कि मैं एक नारी हूं, फिर रानी होने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। मैं तो अपने आपको प्रभु की दासी समझती हूं। फिर मुझे भगवान् के मन्दिर में नर्तनादि से लज्जा कैसी?

बस यही हालत गोपियों की थी। गोपियां सब बन्धनों को तोड़, सांसारिक व्यवहारो को छोड़ निष्काम-भावना से प्रभु-चरणों में पहुंचना चाहती थीं। लोक-लज्जा की सीमा को वे पार कर चुकी थीं।

हां, कुछ गोपियां ऐसी भी थीं, जो प्रभु को उपपति-रूप में चाहती थीं। उन्हें यह पता नहीं था कि प्रभु परब्रह्म स्वरूप हैं और यह तो इनका मायिक विग्रह है। ऐसा विचार जिन गोपियों का नहीं था, जो भगवान् को साधारण

गोप मान रही थीं—वे अपने वर्तमान शरीर द्वारा प्रभु के चरणों तक पहुंच भी न सकीं। क्योंकि प्रभु का तो यह नियम है कि जो राजस-बुद्धि से प्रभु के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है, उसे प्रभु अवश्य दंड देते हैं। अतएव उन्हें दीवारों के भीतर कैद रहना पड़ा। उनके पतियों ने ऐसा बन्धन डाला जिससे वे मुक्त न हो सकीं। कहा है—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमंगलाः॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥
(भागवत १०·२९·९–११)

उस समय जो गोपियां सकाम-भाव या उपपति-भाव से प्रभु कृष्ण के पास जाना चाहती थीं उन्हें यह दंड मिला कि वे घर में ही रह गई। उनको पति-पुत्रादिकों ने जजीरादि से बान्ध कर प्रभु कृष्ण के पास जाने से रोक दिया। अतः वे जाने का कोई मार्ग न पा सकीं। तब उन्होंने बन्दी की अवस्था में वहीं नेत्र बन्द करके एकाग्रता से श्रीकृष्ण का ध्यान किया। वे अतिप्रिय श्रीकृष्ण के दुःसह विरह की तीव्र ताप-वेदना से अनेक-जन्मार्जित पापों का फल (दुःख) भोगकर तत्क्षण शुद्ध-चित्त हो गई। एवं ध्यान से प्राप्त श्रीकृष्णा-लिंगन के परम सुख को प्राप्त होकर अनेक जन्मों के पुण्य कर्मों का फल (सुख) भोगकर क्षीण-पुण्य हो गई। इस प्रकार उनके पुण्य-पापरूप बन्धन सर्वथा टूट गये। ऐसी गोपिया जार-बुद्धि से भी ब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त होकर अपने गुणमय (प्राकृत) शरीर को त्याग मुक्ति को प्राप्त हुई। समस्त रास-पंचाध्यायी के अध्ययन से एक भी ऐसा श्लोक नहीं मिलता जिसमें भगवान् के विषय में काम-वासना की गन्ध भी आती हो। हां ऐसे श्लोक तो अवश्य मिल जायंगे, जिनमें कुछ गोपिकाओं की काम-वासना का वर्णन हो—परन्तु ऐसी गोपिकाओं को दंड भी मिला है। जैसे व्रज से जाते समय प्रभु गोपिकाओं को वचन दे गये थे कि मैं "अवश्य वापस आऊंगा" परन्तु नहीं

आये। कारण कि उन गोपिकाओं के हृदय में राजस-भाव आ गया था। राजस-भाव का फल सदा दुःख ही होता है। अतः प्रभु ने अपने चिरकाल के विरह से गोपियों को दुःख सहन करवाया।

उसी प्रकार यहां भी जो गोपियां उपपति-भाव से प्रभु को पाना चाहती थीं वे गृह के भीतर ही बन्द पड़ी रहीं। जो शुद्ध-अन्तःकरणा थीं वे प्रभु-चरणों में पहुंच गईं। जो गृह-कारागार में थीं उन्होंने भगवान् का चिन्तन करते वहीं पर अपना पांचभौतिक शरीर त्याग दिया और तत्काल मुक्ति प्राप्त की। यद्यपि वे भगवान् में जार-बुद्धि रखती थीं फिर भी भगवान् ने अपनी राजस भक्ताएं समझकर उन्हें मुक्ति प्रदान कर दी। निष्काम और सकाम भाव में यही अन्तर है कि निष्काम प्राणी इस लोक और परलोक दोनों स्थानों पर आनन्दानुभव करता है। सकामी परलोक में चाहे सुख प्राप्त कर ही ले पर इस लोक में कुछ कष्ट अवश्य पाता है। जैसा कि राजस भाव वाली गोपियों ने प्राप्त किया।

दूसरी बात यह है कि कुछ गोपियों ने उपपति-भाव से भगवान् का ध्यान किया पर ध्येय तो परब्रह्म-स्वरूप कृष्ण ही थे। ध्याता शुद्ध-हृदय हो या मलिन हृदय, प्रभु उसे अवश्य ही शुभ फल प्रदान करते हैं। उपपति-भाव रखने वाली गोपियों का उद्धार भी प्रभु ने किया और इतना दंड भी दिया कि वे जीवित अवस्था में प्रभु के दर्शन न कर सकीं।

एक स्कूल के मुख्याध्यापक का कर्तव्य है कि वह शरारती लड़कों को सभ्य व श्रेष्ठ लड़कों में न बैठने दे, नहीं तो वे सभ्य लड़कों को भी शरारती बना देंगे। परन्तु उसका यह भी कर्तव्य है कि वह शरारतियों को शिक्षा से वंचित न करता हुआ उनको सुधारने का प्रयत्न भी करे। जब तक वे सुधरें नहीं तब तक उनको अपना कृपा-पात्र न बनाए और न ही उनको श्रेष्ठ लड़कों में मिलने दे। यही बात भगवान् ने सोची कि यद्यपि ये गोपिकाएं राजसी बुद्धिवाली हैं पर इनका उद्धार करना तो मेरा कर्तव्य है; क्योंकि ये मेरी भक्ता हैं। हां इतना अवश्य होना चाहिये कि इनको सात्विक भाव वाली गोपियों में न मिलने दिया जाय। अतः उनको मुक्ति तो दी पर एक स्थल पर एकत्रित नहीं होने दिया।

जैसे कोई पुरुष आत्महत्या करना चाहता है और विष की तलाश में है। तब वह किसी स्थान पर अमृत के प्याले को देख कर यही समझता है कि यह विष का प्याला है और विष-बुद्धि से उस अमृत को पान कर लेता है। क्या

उस आत्महत्यारे की मृत्यु हो जायगी? नहीं, वह तो अमर हो जायगा। अमृत का स्वभाव है अमर होने का ही फल देना, चाहे उसे कोई विष समझ कर ही क्यों न पी जाय। इसी प्रकार प्रभु को भी कुछ गोपियों ने जार-बुद्धि से स्मरण किया। पर प्रभु तो मोक्ष-दाता हैं, वे अवश्य ही ध्याता को मोक्ष देंगे, अतः गोपियों को मुक्ति दे ही दी। अग्नि का स्वभाव है जलाना, चाहे उसे कोई शीतल समझकर ही क्यों न छुए वह उसे दग्ध कर ही देगी।

इस विषय में मुझे एक कहानी याद आगई। किसी ग्राम में एक हृष्ट–पुष्ट किसान रहता था। वह बहुत उद्दंड था। अन्त समय में उसे यमराज के दूत लेने आ पहुंचे और कहा कि चलो तुम्हें हमारे राजा (यमराज) यमसदन में बुला रहे हैं। तब किसान ने उनको लठ्ठ दिखाते हुए कहा "चलो चलो भागो यहांसे—मैं नहीं जानता तुम्हारे यमराज को। वह तो कभी का कार्य-मुक्त हो चुका है; तुम्हें कुछ पता तो है ही नहीं, यूं ही दौड़े चले आये यहां"। उन दूतों ने सोचा कि शायद यह किसान ठीक ही कहता हो। हो सकता है यमराज अपने पदसे मुक्त हो गये हों? संभव है विष्णु भगवान् ने उन्हें पद-च्युत ही कर दिया हो। वे दूत वापिस यमराज के पास जाकर कहने लगे—"महाराज! वह किसान तो हमें ही मारने दौड़ा और बोला कि तुम्हारे यमराज तो कभी के पद-च्युत कर दिये गये हैं।" अब यमराज को भी संशय हो गया कि शायद विष्णु भगवान् ने हुकुम ही न भेज दिया हो और मुझे उसकी अभी तक सूचना ही न मिली हो। इसी संशय में यमराज विष्णु भगवान् के पास पहुँचे और पूछा कि "क्या आप ने मुझे पद-च्युत कर दिया है?" भगवान् विष्णु को भी संशय हो गया कि शायद जो मेरे से ऊपर मायापति महाविष्णु हैं उन्होंने ही आज्ञा-पत्र न भेज दिया हो। अन्त में वे महाविष्णु के पास पहुँचे। पर वहां यमराज के विषय में कोई चर्चा ही नहीं। अब वे सब विचार करने लगे कि अच्छा उस किसान को तो देखा जाय कि वह कैसा है। ऐसा सोच कर वे सब देव उस किसान के पास आकर कहने लगे—"क्यों रे पापात्मन्! तू यम-सदन में क्यों नहीं जाता? क्या सोच रखा है तूने?" तब किसान ने कहा- "हां महाराज! यह तो मुझे पहले ही पता था कि जब आप जैसे देवों के दर्शन हो जायेंगे तो मुझे नरक ही मिलेगा, वैकुंठ जाने की तो आशा ही कहाँ?" अब विष्णु भगवान् स्वयं चक्कर में पड़ गये। सोचने लगे कि यह

बात तो उलटी हमारे पर ही आ पड़ी। क्योंकि हमारा यह नियम है कि जिसे हमारे दर्शन हो जाते हैं उसे अवश्य ही वैकुंठ मिलता है। अब इस किसान को हमारे दर्शन के फल-स्वरूप वैकुंठ ही मिलना चाहिये। अतः उस किसान को वैकुंठ भेज दिया गया।

अब आप विचार कर सकते हैं कि क्या उस किसान को प्रभु-भक्ति करने से सब देवों के दर्शन हुए थे? नहीं, अपितु अकस्मात् ही सब देवों के दर्शन हो गये। जिसका फल यह हुआ कि विष्णु भगवान् को मुक्ति अवश्य देनी पड़ी। यही बात गोपियों पर घट सकती है। चाहे कुछ गोपियों की प्रभु में उपपति की भावना थी। पर उनका सम्बन्ध तो प्रभु कृष्ण के साथ हो गया था। भला कभी ऐसा हो सकता है कि साक्षात् परब्रह्म के साथ सम्बन्ध हो और आवागमन से छुटकारा भी न मिले यह बात तो प्रभु के नियम के विपरीत है।

अब आप यह शंका करेंगे कि कर्म तीन प्रकार के होते हैं:—संचित, आगामी और प्रारब्ध। संचित कर्म वे हैं जो पहले किये जा चुके हैं तथा अभी तक जमा पड़े हैं। उन्होंने फल देना आरम्भ नहीं किया। जो भविष्य में किये जायेंगे वे आगामी कर्म कहलाते हैं। जिन कर्मों का फल (सुख-दुःख) हम वर्तमान में भोग रहे हैं वे प्रारब्ध कहलाते हैं। इनके विषय में कहा गया है कि :—

नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

जब तक हम कर्मों का फल नहीं भोग लेते तब तक वे कोटि कल्पों तक भी क्षीण नहीं होते। प्रारब्ध का क्षय तो फल भोगने के बाद ही होता है। परन्तु गोपिकाओं के कर्म विना भोगे कैसे क्षीण हो गये?

इसे आप इस प्रकार समझें कि एक व्यक्ति पर एक हज़ार रुपया का ऋण है—वह दो प्रकार से इसे उतार सकता है। प्रथम दस-दस रुपये प्रतिमास देकर, द्वितीय एक साथ एक सहस्र देकर। प्रथम उपाय से अधिक समय लगेगा और द्वितीय से तत्काल हिसाब साफ हो जायगा। इसी प्रकार गोपियों पर भी पुण्य-पाप रूपी कर्मोंका ऋण था। इसको चुकाने के लिये उन्हें अनेक जन्म धारण करने पड़ते। किन्तु गोपियों को अतिप्रिय श्रीकृष्ण के विरह से इतना दुःख हुआ कि वह उनके सम्पूर्ण पापों से होने वाले दुःख के समान

था। अतः इस दुःख-भोग से सभी पाप क्षीण हो गये, तथा शुद्ध चित्त में भगवान् की मूर्ति के आलिंगन से इतना आनन्द प्राप्त हुआ कि जो सभी पुण्यों के आनन्द के तुल्य था। अतः इससे सभी पुण्य क्षीण हो गये।

मैं पहले भी कह चुका हूँ कि यह जीव-रूपी पक्षी इस नवद्वार के पिंजरे में कैसे ठहरा हुआ है? जैसे तोते के पिजरे का यदि एक भी द्वार खोल दिया जाय तो वह झट उड़ जाता है। परन्तु इस शरीर-रूपी पिंजरे के तो आंख–नाक–कान आदि नव द्वार खुले पड़े हैं। फिर भी जीव-पक्षी क्यों नहीं उड़ता? शास्त्रों में कहा भी है कि—

उद्‌घाटितनवद्वारे पंजरेऽसौ विहंगमः।
तिष्ठति यत् तदाश्चर्यं प्रयाणे विस्मयः कुतः॥

इसका हिन्दी अनुवाद किसी कवि ने कितना सुन्दर किया है—

नव द्वारे को पिंजरो तामें पंछी पौन।
रहने को अचरज है गये अचम्भा कौन॥

पिंजरे के द्वार खुले रहने पर भी पक्षी क्यों नहीं उड़ता, इसका भी रहस्य है। यदि पिंजरे का द्वार खोल भी दिया जाय और पक्षी को डोरी के द्वारा पिजरे की श्लाका से बांध दिया जाय तो वह उड़ नहीं सकता। इसी प्रकार हमारे शरीर के सभी द्वार खुले रहने पर भी, जीव का प्राण-रूपी पक्षी पाप-पुण्य की डोरी से बन्धा होने के कारण उड़ नहीं सकता। पर जब पाप-पुण्य की डोरी कट जायगी तो यह अवश्य ही मुक्त हो जायगा।

इसी प्रकार गोपिकाओं के जो पाप-पुण्य थे वे प्रभु के विरह तथा ध्यान से क्षीण हो गये। अतः वे मुक्त हो गईं। इस लिये यह ठीक ही कहा है कि :—

जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः।

गोपिकाओं ने अपना पांचभौतिक शरीर पाप-पुण्य के क्षीण होने के कारण उसी समय छोड़ दिया।

१५

सकाम गोपियों की विना ज्ञान मुक्ति कैसे?

(२४-८-१९३८)

सज्जनो! भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति भावना-भेद से गोपियों के दो भेद थे। जिन गोपियों ने प्रभु कृष्ण को परब्रह्म-स्वरूप में देखा, उनका आश्रय लिया, वे प्रथम श्रेणी में थीं। ये गोपियां भगवान् को विश्वपति के रूप में देखती थीं; अतः इनके लिये पति, पुत्र, इत्यादि सभी भगवान् के स्वरूप में ही अन्तर्निहित थे। जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के कमनीय कान्त शरीर को देख उपपति बनाने की इच्छा की थी, वे द्वितीय श्रेणी में थीं। भगवान् श्रीकृष्ण का विश्वपति के स्वरूप में दर्शन करने वाली गोपियां सीधी भगवान् के समीप चली गईं। उन के निवृत्ति-मार्ग में कोई भी बाधा नहीं पड़ी। राजा के सेवक की ओर कोई अंगुली नहीं उठा सकता। वह निःशङ्क तथा निर्भय होकर विचरता है। प्रभु कृष्ण ब्रह्माण्ड के राजा हैं। उनके सेवक के मार्ग में कौन रोड़े अटका सकता था। अतः वे सहज ही भगवान् के समीप चली गईं।

द्वितीय प्रकार की गोपियां भगवान् को विश्वपति के स्वरूप में न देख केवल उपपति के स्वरूप में देखती थीं। उन्हें इस दुर्भावना का यह फल मिला कि वे पति-पुत्रों द्वारा बन्द कर दी गईं। वे प्रभु की सेवा में पहुँच न पाईं। भगवान् के स्वरूप में प्रबल अनुराग के कारण उन्हें अति-तीव्र विरह-ताप हुआ। विरह व्यथा की ज्वाला में अनेक जन्मों के पाप भस्मीभूत हो गये। पाप-नाश से प्रभु की मूर्ति हृदय में आविर्भूत हुई। उस के आलिङ्गन के आनन्द से सभी पुण्य क्षीण हो गये। वे पाप-पुण्य दोनों के क्षीण होने से मुक्त हो गईं।

यहां पर महाराज परीक्षित संशय-ग्रस्त हो कर शुकदेवजी से कहते हैं—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।
गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥

(भा० १०,२९,१२)

हे मुने! जो गोपियां प्रभु कृष्ण को ब्रह्मभाव से न जानकर केवल उपपति भाव से देखती थीं उनकी मुक्ति चिन्तन–मात्र से कैसे हुई ? राजा परीक्षित का उद्देश्य यह जानना है कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। पूर्ण साङ्गोपाङ्ग ज्ञान होने पर ही जीव मुक्त होता है। ऐसी अवस्था में गोपियों को न तो ज्ञान ही था और न ब्रह्म की पहचान ही थी। इतने पर भी वे मुक्त कैसे हो गईं ?

ब्रह्म के ध्यानमात्र से मुक्ति हो तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह समस्त जगत् ब्रह्ममय है। पति, पुत्र इत्यादि सभी ब्रह्ममय हैं। जगत् की समस्त वस्तुएं ब्रह्मस्वरूप हैं। ऐसी अवस्था में प्रत्येक को मुक्ति मिल जानी चाहिये, क्योंकि पति-पुत्रादि की प्रत्येक व्यक्ति सेवा करता है तथा उनका ध्यान करता है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति–वाक्य के अनुसार, पति–पुत्र आदि भी ब्रह्म-स्वरूप हैं। अतः विश्व के किसी भी प्राणी की सेवा से मुक्ति मिल जानी चाहिये; क्योकि विश्व के सभी पदार्थ ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं। परन्तु शास्त्रों का नियम यह है कि ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होगी। इस के विपरीत भागवत में गोपियों की विना ज्ञान के ही मुक्ति बताई गई है।

यहां परीक्षित के कहने का वस्तुतः भाव यह है कि श्रीकृष्ण भगवान् में ऐसी क्या विशेषता है जिससे घरके अन्दर बन्द हुई गोपियों ने ध्यान-मात्र से ही आवागमन से छुटकारा पा लिया ? वास्तव में ध्यान तो बहुत बड़ी साधना है। जीव तो भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति की पूजा करके भी कल्याण प्राप्त कर लेते हैं। कुछ लोग तो प्रभु कृष्ण के नाम–मात्र को ही रटना श्रेय समझते हैं। वे कृष्ण नाम को भव-सागर पार करने की नैय्या भी बताते हैं।

मुझे इस बात पर एक छोटी सी कहानी याद आ गई। एक पण्डित जी किसी मन्दिर में प्रतिदिन कथा सुनाया करते थे। वक्ता श्रोता दोनों कथा के अनुसार आचरण नहीं करते थे। एक दिन पण्डितजी की कथा में एक ग्वालिन आ गई। उसने पण्डितजी के मुख से सुना कि कृष्ण-नाम एक प्रकार की

नौका है। वह ग्वालिन इस बात को सुन कर बहुत प्रसन्न हुई और सोचने लगी—मैं जब दूध बेचने जाती हू तो नाव के किराये के रूप में मुझे प्रतिदिन मल्लाहों को पैसे देने पड़ते हैं। जब कृष्ण-नाम की नाव है तो व्यर्थ में मल्लाहों को क्यों पैसे दूँ? मैं कृष्ण-नाम की नौका से ही यमुना पार कर लिया करूंगी। यह सोच ग्वालिन बेचारी वहां से चल पड़ी। थी बेचारी भोली-भाली ग्रामीण। दूसरे दिन गौओं का दूध सिर पर रख यमुना की ओर उस रास्ते चली जो शहर को सीधा जाता था। पहले जिस घाट पर नाव मिलती थी, उसके लिये चक्र काटना पड़ता था और फिर प्रतीक्षा भी करनी पड़ती थी। अब वह ग्वालिन सीधी यमुना की धारा से हो ली। ग्वालिन, कृष्ण कृष्ण कृष्ण कहती जाती है तथा यमुना के जल में आगे बढ़ती जाती है, क्योंकि उसने पण्डितजी के मुख से सुन रखा था कि कृष्ण-नाम एक प्रकार की नाव है। इसे वह सत्य मानती थी, उसका विश्वास दृढ था। अब ग्वालिन के लिये सच में कृष्ण-नाम नाव बन चुका था—कृष्ण कृष्ण रटती जाती है और पानी के उपर से ऐसे जा रही है जैसे समतल भूमि पर से जा रही हो। जल उसके पाँव को स्पर्श ही नहीं करता था। इस प्रकार ग्वालिन नित्य कृष्ण-नाम की नौका से यमुना पार करने लगी। इससे ग्वालिन को बहुत लाभ हुआ। आमदन बढ गई। पहले जो पैसे मल्लाहों को देने पड़ते थे, अब वे बच जाते। उस का समय भी बच जाता था। अब उसे मार्ग का चक्र नहीं काटना पड़ता था।

एक दिन ग्वालिन ने विचार किया कि पण्डितजी ने बहुत अच्छी युक्ति बताई। मैं पण्डित जी को एक दिन भोजन खिलाऊंगी। यह विचार वह पण्डितजी के पास आई और कहने लगी–पण्डित जी! आज आप हमारे यहां भोजन खाने की कृपा करें। पण्डितजी ने कहा कि वाह! क्या मैं तेरा बनाया हुआ भोजन खाऊंगा? ग्वालिन ने कहा—नहीं पण्डितजी! मैं आप को घी दूध खाँड आदि अलग दे दूंगी, आपने स्वयं बना कर खा लेना। पण्डितजी ने मान लिया। वे ग्वालिन के साथ चले। पण्डितजी ने सोच रखा था कि नदी पार करने के लिये कोई व्यवस्था कर रखी होगी। पर वहां तो व्यवस्था के नाम पर ग्वालिन के पास कृष्ण-नाम की ही नौका थी। जैसे ही नदी के पास पहुंचे ग्वालिन तो झट नदी के पानी पर कृष्ण-नाम रटती चल पड़ी। यह देख पण्डितजी के

होश-हवाश उड़ गये—और लगे पछताने, कि आज तो अच्छे फँसे। निमन्त्रण तो बहुत आये, पर आज जैसा प्राण लेने वाला निमन्त्रण कभी नहीं आया। विचार करते हैं—कि यदि मैं भी ग्वालिन के समान नदी में से हो लिया तो उसी क्षण डूब जाऊंगा। यदि नदी से पार नहीं होता, तो पोल खुलती है। मैंने ही तो बताया था कि कृष्ण-नाम नौका है। अस्तु, यह सोच पण्डितजी नदी में कूद पड़े, क्योंकि उन्होंने समझ लिया था कि मान बचाने के लिये मरना ही भला है। पण्डितजी डुबकियाँ खाने लगे, इतने में ज्यों ही ग्वालिन ने पीछे मुड़ कर देखा, तो पण्डितजी बुरी तरह हाथ-पैर मारते दिखाई दिये। ग्वालिन कहने लगी—क्यों पण्डितजी! क्या बात है? कृष्ण-नाम की नौका कहाँ गई? पण्डिजजी बेचारे कहने लगे—अरि! कृष्ण नाम की नौका बनाना हमने अभी नहीं सीखा है। ग्वालिन ने कहा—पण्डितजी! मेरी अंगुली पकड़ लो। ग्वालिन की अंगुली पकड़ कर पण्डितजी यमुना पार हो गये। ग्वालिन केवल स्वयं ही यमुना पार न कर गई, अपितु, पंडितजी को भी यमुना के पार ले गई।

कहने का भाव यह है कि जिस कृष्ण के नाम का इतना महत्त्व है उनकी विलक्षणता भी हमें जाननी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण बिना ज्ञान के भी अपनी किसी विलक्षणता द्वारा मुक्ति दे देते हैं। भगवान् रामचन्द्र जी ने भी ऐसा ही किया था। महाप्रयाण के समय जिन्होंने भगवान् रामचन्द्र जी का अनुसरण किया, वे सभी प्राणी मुक्त हो गये–ऐसा वर्णन मिलता है। इन में जो भगवान् राम को साक्षात् ब्रह्म जानते थे, उनका मुक्त होना तो ठीक था; किन्तु जो भगवान् राम को राजकुमार समझते थे और अपना मित्र मानते थे—उनकी मुक्ति कैसे हुई? इसके लिए भगवान् की अद्भुत शक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा।

शुकदेवजी राजा परीक्षित की इस गूढ़ शङ्का का उत्तर देते हैं—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथा गतः।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः॥

(भा० १०,२९,१३)

महाराज शुकदेवजी परीक्षित से कहते हैं—हे राजन्! मैं तुम्हें ऐसी ऐसी बातें कई बार कह चुका हूँ। पर न मालूम तुम्हारी समझ में क्यों नहीं

आता। मुझे तो तुम अच्छे बुद्धि के दिवालिया शिष्य मिले। अरे भाई! बात यह है कि श्रीकृष्ण के शत्रु भी मुक्त हो जाते हैं। जैसे शिशुपाल बचपन से लेकर अन्त तक कृष्ण का कट्टर शत्रु रहा। जब युधिष्ठिर के यज्ञ में श्रीकृष्ण जी की अग्रपूजा होने लगी उस समय शिशुपाल ने गालियां देनी प्रारम्भ कर दीं। भगवान् श्रीकृष्ण ने सैंकड़ों बार क्षमा किया। अन्तमें सुदर्शन-चक्र से शिशुपाल के प्राण हर लिये। मृत्यु के समय शिशुपाल की आत्मा परमात्मा श्रीकृष्ण में ही मिल गई। जब आत्मा परमात्मा के साथ मिल जाती है तो मुक्ति हो जाती है। हे राजन्! अब तुम सोच सकते हो कि श्रीकृष्ण का जो शत्रु था वह भी मुक्त हो गया। ऐसी अवस्था में जो भगवान् का प्यारा है, वह मुक्त क्यों न होगा? इसी लिये कहा भी है—

"कोपोऽपि देवस्य वरेण तुल्यः"

देव अथवा महापुरुषों का क्रोध भी वर के समान होता है।

परीक्षित ने कहा—मुनिराज! यह तो आपने भक्ति-मार्ग द्वारा प्रतिपादित किया। अब आप किसी दार्शनिक ढङ्ग से समझायें। शुकदेवजी कहते हैं—तुम यहां और भी गूढ भाव समझ सकते हो। यहां जो "अधोक्षजप्रियाः" कहा है, इसका भाव यह है—अक्षज कहते हैं इन्द्रियजन्य ज्ञान को। तात्पर्य—जिस ज्ञान को हम इन्द्रियों द्वारा अनुभूत कर सकें। जैसे नेत्र इन्द्रिय से किसी पदार्थ का अच्छा बुरा रूप जाना जाता है। कान से मधुर गीत का ज्ञान होता है। जिह्वा से तिक्त, कटु वस्तुओं के स्वाद का ज्ञान होता है। हम इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को किसी ज्ञानेन्द्रिय द्वारा प्राप्त करते हैं। किन्तु यदि हमारी किसी इन्द्रिय से पूछा जाय कि उस परमेश्वर का क्या स्वरूप है? तो साफ इन्कार कर जायंगी। इन्द्रियों में सब से प्रधान है मन, यदि उससे पूछा जाय कि ईश्वर कैसा है? सुन्दर है या कुरूप है? यहां मन को भी पीछे हटना पड़ेगा। वह भी भगवत्-स्वरूप को बताने में समर्थ नहीं। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण को कहा गया है—"अधोऽक्षज"। तात्पर्य—"**अधः कृतमक्षजमिन्द्रियजन्यं ज्ञानं येन**" जिसने इन्द्रियजन्य ज्ञान को नीचा दिखा दिया है। उस प्रभु का ज्ञान संसार को इन्द्रियों द्वारा नहीं होता। वे तो सभी का निरीक्षण अपनी शक्ति से कर रहे हैं। उस सर्वज्ञ

प्रभु से कोई बात छिपी नहीं। श्रीकृष्ण भगवान् तो सर्व-व्यापक और सर्व शक्तिमान् हैं।

इसी लिये हमें कहना पड़ता है कि आज कोई सच्चा मनुष्य संचार में है ही नहीं। न ही कोई आस्तिक है। जब हम प्रभु को सर्वव्यापक मानते हैं तो पाप क्यों करते हैं? क्या हमें डर नहीं लगता? आप एक साधारण डिपुटी कमिश्नर या वायसराय के सामने कोई उद्दण्डता नहीं कर सकते, क्योंकि आप समझ लेते हैं कि अब तो सामने डिपुटी कमिश्नर खड़े हैं, या वायसराय देख रहे हैं—अतः दण्ड दे देंगे। जिस को हम सर्वव्यापक मानते हैं, जो हमें हर वक्त देखता रहता है, जिससे हमारा कोई भी बुरा भला काम छिपा नहीं है, जिस विभु की सत्ता कण कण में समाई हुई है, उसीको पाप करते समय हम भूल जाते हैं। हम नहीं समझते कि हमें सर्वव्यापक परमात्मा देख रहा है। इस से साफ प्रतीत होता है कि हम आस्तिक नहीं। यदि आस्तिक होते तो भय खाना चाहिये था। जब उसी प्रभु के एक छोटे से जीव डिपुटी कमिश्नर के सामने हम अपराध करने से डरते हैं—तो उन सब के राजाधिराज तथा सर्वव्यापक से पाप करते समय न डरना, यह सिद्ध करता है कि हम प्रभु को सर्वव्यापक मान ही नहीं रहे हैं। केवल लोग-दिखावा करते हैं। अपने आप को भक्त कहलाने की कामना से प्रभु प्रभु रटते रहते हैं। सच्चा आस्तिक अथवा प्रभु-भक्त तो वही है जो पाप करते समय एकदम भयभीत हो जाय कि अहो! मुझे सर्व-व्यापक प्रभु देख लेगा। हमारे मन में ऐसा डर रहने पर हमारे हाथ से कोई पाप नहीं हो सकता। देखिये तो सही, सहस्र-बाहु ने अपराधियों को दण्ड देने के लिये सिपाही आदि रखे ही न थे। कारण कि जिस समय कोई अपराध करता, उसी समय अपनी योगशक्ति द्वारा हाथ में तलवार लिये सहस्रबाहु उसे दिखाई देते। अतः सभी को डर रहता था। इससे कोई भी पाप कर्म न करने पाता था।

जब परीक्षित ने श्रीकृष्ण भगवान् की ये सब विलक्षणताएं सुन लीं तो परीक्षित मुनिराज से कहने लगे—हे मुने! प्रतीत होता है कि आप मुझे बातों ही में टालेंगे। मैं पूछ क्या रहा था? आप उत्तर क्या दे रहे हैं? भगवन्! मैं तो यह पूछता हूं कि जब पति, पुत्र, भाई, बन्धु सब ब्रह्मस्वरूप हैं तो इनकी सेवा करने से मुक्ति क्यों नहीं होती? शुकदेवजी ने कहा।

कि तुम दो ऐनकें (उपनेत्र) लो। एक काच की हो और दूसरी काठ की। जब काच की ऐनक में से देखोगे तो साफ दिखाई देगा। काठ की ऐनक से देखोगे तो कुछ भी दिखाई न देगा। कोल्हू के बैल के समान बन जाओगे। ब्रह्म-स्वरूप प्रभु श्रीकृष्ण तथा ब्रह्ममय पति, पुत्र इत्यादि में भी यही अन्तर है। पति पुत्र इत्यादि ब्रह्मस्वरूप अवश्य हैं, उनका ब्रह्मस्वरूप माया से आवृत है, ढका हुआ है। अतः काष्ठ की ऐनक के समान कुछ भी प्रतीत नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण का ब्रह्मस्वरूप काच की ऐनक के समान स्वच्छ है निर्मल है। उनका स्वरूप अनावृत है, आवृत नहीं। उन पर किसी प्रकार का आवरण नहीं। माया का परदा भी यहां नही। वे तो मायापति हैं। काष्ठ की ऐनक तथा काच की ऐनक, ढकी हुई अग्नि तथा अनावृत अग्नि में जो अन्तर है वही अन्तर ब्रह्ममय सांसारिक प्राणियों तथा ब्रह्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण में है।

जादूगर अपनी माया से आपके सामने कुर्सी को सिंह बना देता है। आपको वह कुर्सी सिह रूपसे दिखाई देती है – अतः आप उससे भयभीत होते हैं। जादूगर कुर्सी को कुर्सी के रूप में ही देखता है। उसकी दृष्टि में वह सिंह नहीं, कुर्सी है। उसे उससे कोई भय नहीं होता। भगवान् श्रीकृष्ण जादूगर हैं। उन्हें मायाधिपति कहा गया है। प्रभु ने अपनी माया से विश्व की रचना की। प्राणी उस में भेद-भावना के कारण भटक रहे हैं। प्रभु के लिये यह ससार कुछ भी नहीं। उनमें माया का सम्पर्क नहीं। वे काच के समान स्वच्छ हैं। भगवान् का स्वरूप अनावृत है। आपका तथा पति पुत्र इत्यादि का स्वरूप आवृत है। अब चाहे पति पुत्र इत्यादि ब्रह्ममय हैं, तो भी उनका ब्रह्ममय स्वरूप आवृत होने से हम उन की सेवा अथवा ध्यान के द्वारा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकते। हमें प्रथम आवरण हटाना पड़ेगा।

शीशे को कोई तोड़ने जाये या साफ करने, वह उसे उसका आकार दिखलायगा। प्रभु भी शीशे के समान हैं। उन्हें कोई अच्छी भावना से स्मरण करे या बुरी भावना से–कल्याण तो अवश्य करेंगे। कुछ गोपियों ने चाहे सकाम-भाव से ही प्रभु कृष्ण का ध्यान किया, प्रभु के साथ उनका सम्बन्ध जुड़ जाने से प्रभु ने उनका कल्याण कर दिया। सम्बन्ध जुड़ जाने से प्रभु कल्याण अवश्य करते हैं।

सकाम गोपियों की बिना ज्ञान मुक्ति कैसे ?

भगवान् ने निष्काम तथा सकाम गोपिकाओं में अन्तर अवश्य रख दिया। सकाम गोपियों को तालों के भीतर बन्द होना पड़ा। अनेक कष्ट सहने पड़े। निष्काम गोपियां इस जन्म में प्रभु के चरणों में पहुंच गईं।

१६

मनुष्यों तथा प्रभु श्रीकृष्ण की शरीर-रचना में अन्तर

(२५-८-१९३८)

सज्जनो ! गत दिवस बताया गया था कि हम और आप सभी ब्रह्ममय हैं। सारा जगत् ब्रह्ममय है। हमारा ब्रह्मभाव माया से आवृत है। परम-पिता परब्रह्म के अतिरिक्त यह सारा जगत् माया से आवृत है, माया से ग्रस्त है। भगवान् श्रीकृष्ण का ब्रह्मभाव माया से अनावृत है। वे मायातीत हैं। वे माया के अधिपति हैं। जब तक हम स्वरूपावरण को नहीं हटायेंगे तब तक आवृत ब्रह्ममय पति-पुत्र इत्यादि की सेवा से मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। हमारा आवरण दूर होने पर ही ज्योतिःस्वरूप परब्रह्म से सम्बन्ध स्थापित होगा। फिर क्या है हमारी आत्म-ज्योति भी उसी विश्वात्मा की ज्योति में मिल जायगी।

भगवान् श्रीकृष्ण जिस समय शरीर धारण करते हैं उस समय उनके शरीर की रचना हमारे शरीर के समान ही होती है। हमारे समान उन के भी दो हाथ, दो पैर, दो आंखें इत्यादि होती हैं। भगवान् के अङ्ग प्रत्यंग हमारे समान होते हैं ऐसी अवस्था में उनका ब्रह्म-भाव अनावृत क्यों है ? हमारे समान आवृत क्यों नहीं ? यदि प्रभु का ब्रह्म-भाव अनावृत है, तो हम सब का ब्रह्मभाव अनावृत क्यों नहीं ?

हमारे शरीर और प्रभु के शरीर में अन्तर है। दोनों की समता दृश्यमात्र की समता है। हमारे शरीर की रचना माता पिता के रजोवीर्य से होती है। भगवान् का शरीर मायिक है, भौतिक नहीं। उन में कभी परिवर्तन नहीं होता। हमारे शरीर के सङ्गठन में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। भगवान् का जो शरीर रामावतार में था वही कृष्णावतार में रहा। रामावतार में माता-पिता के रजोवीर्य से उत्पत्ति नहीं थी, वैसे ही कृष्णावतार में भी।

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को कभी संकुचित कर लेता है तथा कभी उनका प्रसार कर लेता है। इसी प्रकार प्रभु भी कभी अपने मायिक शरीर का आविर्भाव कर लेते हैं, कभी तिरोभाव। कभी नृसिंहावतार, कभी वराहावतार, कभी कूर्मावतार तो कभी रामावतार के स्वरूप में दिखाई देते हैं। महाराज परीक्षित से शुकदेव जी महाराज कहते हैं—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(भा० १०, २९, १४)

हे नृप! अविनाशी, प्रमाणजन्य ज्ञान के अविषय, गुणातीत तथा गुणमय संसार के नियन्ता भगवान् अपने अव्यक्तरूप से व्यक्तरूप में मानवों के मङ्गलार्थ आते हैं।

हे नृप! प्रभु की अभिव्यक्ति मनुष्यों के कल्याण के लिये होती है। प्रभु अव्यय तथा अविनाशी हैं। जिस प्रकार जीव-समुदाय मृत्यु तथा जन्म के चक्र में पड़ा हुआ है, वैसे प्रभु नहीं। बालपन, यौवन तथा वृद्धत्व इत्यादि विकार जैसे सामान्य जीवों में होते हैं वैसे प्रभु में नहीं। प्रभु तो निर्गुण हैं। त्रिगुणात्मिका माया से परे हैं। माया जीवों पर शासन करती है। प्रभु माया पर शासन करते हैं। माया प्रभु का कुछ भी नहीं बिगाड़ पाती। मन्त्री का शासन प्रजा पर होता है, राजा पर नहीं। राजा तो मन्त्री पर शासन करता है। माया प्रभु की मन्त्रिणी है। प्रभु गुण-नियन्ता हैं। वे सब के स्वयं स्वामी हैं। उनका नियन्ता अन्य कोई नहीं है। भगवान् "भक्तानुद्धरिष्यामि" यह निश्चय कर मायिक विग्रह धारण करते हैं। तहसीलदार अपनी ड्यूटी पर आता है। ड्यूटी का समय पूरा कर वेतन ले, चल देता है। राजा प्रजा की अवस्था का निरीक्षण करता है। प्रजा के सुख के लिये अनेक प्रकार के कार्य करता है। क्या वह भी वेतन के लिये प्रजा-हित में परिश्रम करता है? नहीं, कदापि नहीं। राजा प्रजा के कष्ट-निवारणार्थ ही नगरों में आता है। उसका उद्देश्य प्रजा का मङ्गल करना होता है। किसी प्रकार की वेतन-प्राप्ति नहीं। महाराजाधिराज जगदीश्वर भी अपनी प्रजा-स्वरूप सृष्टि के कष्ट-निवारणार्थ ही समय पड़ने पर अवतरित होते हैं—

कारां यथा गच्छति भूमिपालो दयाऽत्र हेतुर्न च कर्मबन्धः।
एवं च सर्वेश्वरदेवदेवो दयावतारो न च कर्मतन्त्रः ॥

जैसे राजा दयावश कारागृह में जाता है, न कि अपराध आदि के कारण। इसी प्रकार सर्वेश्वर परमात्मा भी जीवों पर अनुग्रह करने के लिये ही संसार में आविर्भूत होते हैं, कर्मों के बन्धन से नहीं।

उस प्रभु की योग्यता और हमारी योग्यता में अन्तर है। अतः ब्रह्मभाव तथा शरीर-रचना इत्यादि में भी अन्तर होगा। शरीर-रचना पर विचार करें तो जीवों का शरीर पञ्चभूतों का कार्य है। पहले पहल सृष्टि की रचना में सर्व-प्रथम माया का सम्पर्क ब्रह्म से होता है। इससे सर्व-प्रथम सूक्ष्म पञ्चभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) की उत्पत्ति होती है। तत्पश्चात् पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पाच प्राण, मन तथा बुद्धि ये उत्पन्न होते हैं। ये सब मिल कर लिङ्ग-शरीर कहलाते हैं। मुक्ति-पर्यन्त यह लिङ्ग-शरीर बना रहता है। यह लिङ्ग-शरीर चोला बदलता रहता है। चोलों के स्वरूप में परिवर्तन होता रहता है। जैसे योद्धा की तलवार तो एक ही है, म्यानें बदलती रहती हैं। इसी प्रकार शरीर के दो भाग हैं—सूक्ष्म और स्थूल। जैसे तलवार और म्यान।

यदि वेदान्त-रीति से पांचों तत्त्वों का पञ्चीकरण किया जाय, तो वह इस प्रकार है—पहले पृथ्वी तत्त्व के दो भाग किये जाते हैं। एक भाग आठ आने पृथ्वी तत्त्व में ही रहता है। द्वितीय आठ आने शेष अंश जल, तेज, वायु तथा आकाश में मिल जाता है। प्रत्येक भूत में दो दो आने पृथ्वी-तत्त्व मिल जाता है। इसी प्रकार जल-तत्त्व के दो भाग किये गये—जिसमें आठ आने जल-तत्त्व जल में रहा, शेष आठ आने जल-तत्त्व चार सम भागों में विभक्त हो पृथ्वी, तेज, वायु तथा आकाश में मिल गया। इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व के भाग किये जाते हैं और ठीक पूर्वोक्त प्रकार से बांटे जाते हैं। यह एक बहुत बड़ी कम्पनी बन गई।

कम्पनी बना कर व्यापार करना सीखो। आज-कल कम्पनी बनाना नहीं, तोड़ना सीखते हैं। जब पैतृक सम्पत्ति हाथ लग जाती है, पुत्र उस से कम्पनी बना कर व्यापार नहीं करते। अलग अलग हो कर करोड़ों की सम्पत्ति को

एक–एक अथवा दो–दो लाख के भागों में बाँट लेते हैं, जिसका अवसान थोड़े ही दिनों में हो जाता है। हमने यही सीखा है। वेदान्त-शास्त्र की शिक्षा पर हमने ध्यान नहीं दिया। पांच भूतों ने मिल कर ऐसा व्यापार चलाया कि वह करोड़ों वर्षों से चला आ रहा है। करोड़ों वर्षों पर्यंत चलता रहेगा। इनमें से इस कम्पनी के व्यापार को कोई तोड़ भी नहीं सकता; क्योंकि इसमें सब तत्त्वों का हिस्सा है। यदि जल, पृथ्वी का नाश करना चाहे तो साथ में जो पृथ्वी के अन्दर जल अंश है, वह भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार सभी को अपने विनाश का भय रहता है; अतः कोई किसीका विनाश नहीं करता। सभी परस्पर सहयोग से रहते हैं। आप भी कम्पनी बनाना सीखो तभी भारत का उद्धार होगा। अपना अपना भाग मिला कर इस भारत वर्ष-रूपी कम्पनी के व्यापार को चलाओ। फिर किसी की शक्ति नहीं जो इस कम्पनी की ओर नज़र उठाकर देख भी सके। आज कल भारतवासी अपनी अपनी वैयक्तिक कम्पनियां ही चलाना सीखे हैं। तभी तो न मालूम ऐसी ऐसी कम्पनियां कितनी ही बनती हैं और कितनी ही टूटती हैं। पांचों तत्त्वों के समान यदि लोग मिल कर भारतवर्ष-रूपी कम्पनी के चलाने में सहयोग दें तो करोड़ों वर्ष तक इसको भी कोई तोड़ नहीं सकता। फिर इसका ऐसा व्यापार बढ़ेगा कि पृथ्वी के कोने कोने में इसीके सौदागर घूमते दिखाई देंगे।

पंचीकृत पांच महाभूतों से स्थूल शरीर की रचना होती है। समष्टि तथा व्यष्टि भेद से ये स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर दो–दो प्रकार के हैं। व्यष्टि स्थूल शरीर, समष्टि स्थूल-शरीर, व्यष्टि सूक्ष्म-शरीर तथा समष्टि सूक्ष्म-शरीर।

जैसे एक पौधे को पौधा कहा जाता है और जब सभी पौधे मिला दिये जाते हैं तो बागीचा कहा जाता है। इसी प्रकार व्यष्टि स्थूल-शरीर के अभिमानी को विश्व और समष्टि स्थूल-शरीर के अभिमानी को विराट् कहा जाता है। एवं व्यष्टि सूक्ष्म-शरीर के अभिमानी को तैजस और समष्टि सूक्ष्म-शरीर के अभिमानी को हिरण्यगर्भ कहते हैं।

भगवान् को यदि व्यष्टि स्थूल-शरीर-धारी कहें तो एक साधारण प्राणी की कोटि में भगवान् की भी गणना होगी। समष्टि स्थूल–शरीर–धारी भी कहना

युक्ति-संगत नहीं; ऐसी अवस्था में उनके शरीर द्वारा व्रज–क्रीड़ा ही सम्भव नहीं और वे विराट् कोटि के होंगे।

व्यष्टि सूक्ष्म-शरीर-धारी कहना भी शक्य नहीं। हमारी स्वप्नावस्था की आत्मा के समान तैजस कक्षा में प्रविष्ट हो जायेंगे। समष्टि सूक्ष्म–शरीर हिरण्यगर्भ का है। भगवान् तो हिरण्यगर्भ के भी नियन्ता हैं। भागवत में ब्रह्मा जी के गर्व भङ्ग की कथा आती है––अतः भगवान् का शरीर भौतिक न मान कर मायिक ही मानना होगा। इसी तात्पर्य से व्यासदेवजी ने "व्यक्तिर्भगवतो नृप" इस चरण में "भगवत्" पद का प्रयोग किया है।

१७

प्रभु की दिव्य शक्ति

(२६-८-१९३८)

सज्जनो! अब आप समझ गये होंगे कि भगवान् का शरीर भौतिक नहीं, अपितु मायिक है। उनके शरीर की रचना में भूतों का भी हाथ नहीं। वे नये नये भी नहीं होते। प्रभु का शरीर रामावतार और कृष्णावतार में एक ही रहा।

भगवान् का शरीर यदि एक ही है, कभी बदलता नहीं तो 'देवकी', 'कौसल्या' इत्यादि माताएं कैसे कही जाती हैं? इस का उत्तर भगवान् ने स्वयं गीता में ही दे रखा है।

"प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया"।

मैं देवकी इत्यादि के गर्भ से भी माया द्वारा ही अवतीर्ण होता हूं। यहां 'संभवामि' इस पदका अर्थ 'अवतरामि' है। मनुष्य-विग्रह का उद्देश्य मानवों का कल्याण करना है—"नृणां निःश्रेयसार्थाय"। प्रभु का शरीर कर्म-सापेक्ष भी नहीं है। सांसारिक प्राणियों के समान पुण्य-पाप का फल भोगने के लिये प्रभु संसार में नहीं आते। आप इसे इस प्रकार समझ सकते हैं—जेल-खाने में बहुत से कैदी रहते हैं। उनमें जब गड़बड़ पड़ जाती है अथवा उन पर किसी प्रकार का अत्याचार किया जाता है और जब यह समाचार राजा के पास पहुंच जाता है तब राजा जेल-खाने में कैदियों की व्यवस्था सुधारने के लिये आ जाता है। अब आप विचार करें कि कैदी भी जेल-खाने में हैं और राजा भी। क्या अन्य कैदियों के समान राजा को भी कैदी कहना उपयुक्त होगा? नहीं, कदापि नहीं। अन्य कैदी अपराध के कारण कारागृह में आये हैं। उन के समान राजा नहीं। वह तो कैदियों की अवस्था सुधारने के लिये आया है, न कि किसी अपराध के कारण। वह जेलखाने से बाहर जाने

में स्वतन्त्र है, अन्य कैदी परतन्त्र हैं।

इसी प्रकार यह संसार एक प्रकार का जेलखाना है। इसमें सांसारिक प्राणी कैदी हैं। वे अपने किये पुण्य-पाप-मय कर्मों का फल भोगने के लिये इस संसार-रूपी जेलखाने में डाले जाते हैं। जब इन पर अत्याचार होने लगता है, किसी प्रबल शक्ति द्वारा इनको अनुचित पीडायें दी जाती हैं, तब इन कैदियों का प्रार्थना-पत्र उस प्रभु के पास जाता है। वे परम दयालु प्रभु प्राणियों के कष्ट–निवारणार्थ संसार में आते हैं। इस उद्देश्य से इस संसार-रूपी जेलखाने में आने पर भी प्रभु कैदी नहीं कहलायंगे; क्योंकि प्रभु किसी कर्म-बन्धन के कारण संसार में अवतीर्ण नहीं होते। कहा भी है—

कारां यथा गच्छति भूमिपालो हेतुर्दया तत्र न कर्मबन्धः।
एवं च सर्वेश्वरदेवदेवो दयावतारो न च कर्मतन्त्रः॥

अतः ऐसे प्रभु में हम चाहे कैसी भी भावना करें, उसी भावना से मुक्त हो सकते हैं। भावना में तन्मयता होनी चाहिये। इसी लिए कहा है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(भा० १०,२९,१५)

परम-पिता परमात्मा में चाहे गोपियों के समान कामना करे, भले शिशुपाल के तुल्य भगवान् पर क्रोध करे, या कंस के समान उनसे भय खाये, चाहे पाण्डवों की भांति स्नेह करे, या यादवों के समान बंधुत्व की अनुभूति करे, अथवा नारद की तरह भक्ति का सम्बन्ध स्थापित कर ले, सभी प्रकार से प्रभु में तन्मयता प्राप्त हो ही जाती है। इसे पहले भी कहा है—

कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथाभक्त्येश्वरे मनः।
आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः॥
गोप्यः कामाद् भयात् कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः।
सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं विभो॥
कतमोऽपि न वेनः स्यात् पञ्चानां पुरुषं प्रति।
तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् (भा. ७.१,२७-३१)

एक ही नहीं, अनेकों प्राणी काम से, द्वेष से, भय से और स्नेह से अपने मन को भगवान् में लगा कर, अपने सारे पाप धो कर उसी प्रकार भगवान् को प्राप्त हुये हैं जैसे भक्त भक्ति से।

नारद युधिष्ठिर से कह रहे हैं– महाराज! गोपियों ने भगवान् से मिलने के तीव्र काम अर्थात् प्रेम से, कंस ने भय से, शिशुपाल आदि राजाओं ने द्वेष से, यदुवंशियों ने परिवार-सम्बन्ध से, तुम लोगो ने स्नेह से और हम लोगों ने भक्ति से अपने मन को भगवान् में लगाया।

भगवान् श्रीकृष्ण के पांच प्रकार से चिन्तन करने वाले भक्त हैं। वेन की उनमें से किसीमें भी गणना नहीं। (वेन ने किसी भी प्रकार से भगवान् में मन नहीं लगाया।) चाहे कैसे भी हो—भगवान् श्रीकृष्ण में अपना मन तन्मय कर देना चाहिये। जैसे किसी स्थान पर एक प्रज्वलित दीपक पड़ा है। उसके समीप में एक अप्रज्वलित दीपक है। जब तक प्रज्वलित दीपक का संयोग अप्रज्वलित दीपक की बत्ती से नहीं होगा, तब तक वह अप्रज्वलित दीपक दीप्त नहीं हो सकता। प्रज्वलित दीपक का संयोग यदि अप्रज्वलित दीपक से कर दिया जाय, तो वह भी दीप्त हो जाता है। इसी प्रकार जब तक मनुष्य अप्रज्वलित दीपक की तरह कुण्ठित-बुद्धि रहता है, तब तक मुक्त नहीं हो सकता। जब अपनी बुद्धि-रूपी बत्ती से प्रज्वलित दीपक-रूप प्रभु से संयोग कर लेता है, तब उसी के समान ज्योतिर्मय हो कर मुक्त हो जाता है।

टकसाल में पैसा, आना, दवन्नी, चवन्नी रुपया आदि के अनेक प्रकार के सांचे होते हैं। वहां ढाली हुई धातुएँ तांवा, चांदी, सोना इत्यादि जैसे सांचे में ड़ाली जाती है, वैसा ही आकार धारण कर लेती हैं। उनका आकार सांचेके आकार का हो जाता है। टकसाल में तीन वस्तुएं हुईं- प्रथम धातु, द्वितीय ढालने वाली अग्नि तथा तृतीय सांचे। इस प्रकार हमारा चित्त एक प्रकार की धातु है। ये कामादि भाव अग्नि हैं तथा ध्येय के स्वरूप हैं साँचे। अब चित्त-रूपी धातु को काम-क्रोध इत्यादि भाव-रूपी अग्नि से ढाल लें। जब कामादि से चित्त द्रवीभूत हो जाय, तो पिघली हुई धातु के समान, ध्येय भगवत्स्वरूप–रूपी साँचे में ड़ाल दें। बस फिर क्या है; जैसे पिघली हुई धातु पैसा, इकन्नी, दवन्नी, चवन्नी, रुपया आदि के सांचे में डालने से उन्हींके आकार में परिणत हो जाती है। उसी प्रकार चित्त-रूपी

धातु भी ध्येय-रूपी साँचे के आकार को धारण कर लेगी। इस प्रकार आप का चित्त भगवान् में तन्मय हो जायगा। भगवदाकार में ही परिणत हो जायगा। इसी प्रकार गोपिकाओं की भावना भले कुछ भी रही, उस भावना की प्रबलता से द्रवीभूत चित्त भगवदाकार में परिणत हो गया। अतः शुकदेव जी कह रहे हैं—हे राजन्! आपको शंका नहीं करनी चाहिये कि गोपियों की भावना तो प्रभु में काम-वासना की थी, ऐसी अवस्था में विना ज्ञान के उनकी मुक्ति कैसे हो गई?

न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥

(भा. १०,२९,१६)

राजन्! तुम्हें अजन्मा भगवान् के विषय में कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवान् तो योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं। अतः उनका गोपियों को मुक्त करना कोई आश्चर्य-जनक कार्य नहीं है। उनकी कृपा से तो स्थावर योनि के यमुलार्जुन वृक्षादि भी मुक्त हो गये।

साक्षात् प्रभु कृष्ण की तो बात ही क्या; प्रभु-भक्त योगिराज या प्रभु-भक्त साधु महात्माओं के दर्शन करने से भी कामी अपनी काम-वासना, क्रोधी अपना क्रोध, चोर चोरी करना तथा डाकू डाके डालना छोड़ देते हैं। प्रभु-भक्तों में दिव्य-शक्ति होती है। चैतन्य महाप्रभु को किसीने कहा कि इस रास्ते मत जाइये। आपको डाकू मार डालेंगे। चैतन्य महाप्रभु न माने। उसी रास्ते चले गये। डाकुओं ने चैतन्य महाप्रभु के दर्शन किये। उनके दर्शनों का उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि डाकुओं का मन शान्त हो गया। उन्होंने डाके डालना छोड़ दिया और भगवद्भक्त हो गये।

एक समय स्वामी रामतीर्थ के सामने विदेशी लोगों ने प्रभु कृष्ण की वंशी की दिव्य आकर्षण-शक्ति के विषय में शङ्का की। स्वामी रामतीर्थ एक दिन व्याख्यान देते देते बाहर जंगल की ओर भाग पड़े। उन्हें भागता देख उनके पीछे पीछे सभी श्रोता भी हो लिये। स्वामी राम ने अन्त में एक उच्च स्थान पर खड़े हो कर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। सभी लोग वहीं ज़मीन पर बैठे स्वामीजी का व्याख्यान सुनते रहे। उन्हें न

खाना याद आया न घर जाना। व्याख्यान के अनन्तर जब स्वामीजी ने पूछा कि तुम लोग मेरे पीछे क्यों भाग आये, तो सभी विदेशियों ने उत्तर दिया कि आपकी वक्तृत्व-शक्ति हमें खींच लाई। स्वामी रामतीर्थजी ने कहा—जब उस प्रभु कृष्ण का एक छोटा सा भक्त इतनी शक्ति रखता है कि तुम सभी को अपनी ओर खींच ले, तो क्या साक्षात् जगदीश्वर प्रभु कृष्ण की वंशी में इतनी शक्ति न थी जो प्रत्येक के मन को खींच सके। सब को स्वीकार करना पड़ा कि वास्तव में प्रभु की वंशी में दिव्य आकर्षण-शक्ति थी।

स्वामी विवेकानंद जी जब विदेश में थे उस समय उनके रूप-लावण्य को देख एक लेड़ी उन पर मुग्ध हो गई। उस लेड़ी ने रात्रि के समय स्वामीजी के कमरे में प्रवेश कर लाइट का बटन दबाया। स्वामीजी की आंख खुल गई। स्वामीजी ने पूछा तुम क्यों आई बहिन? उस लेड़ी ने राजस-भाव व्यक्त किये। स्वामीजी ने कहा—अरि बहन! भारत-वर्ष के अर्जुन जैसे गृहस्थी को स्वर्ग की उर्वशी जैसी परम सुन्दरी अप्सरा भी पथ-भ्रष्ट न कर पाई। उर्वशी ने अपने रूप के जादू को व्यर्थ होते देख, अर्जुन जैसे वीर-पुत्र की कामना अर्जुन से प्रकट की थी। अर्जुन ने कहा माता! क्यों नव मास पर्यंत कष्ट उठाओगी, मुझे ही अपना पुत्र बना लो। बहिन! जिस देश के गृहस्थ का इतना आत्म-संयम है, उस देश का मैं सन्यासी क्या आपके हाव भावों पर मुग्ध हो सकता हूं? कदापि नहीं। लेड़ी स्वामीजी के उस संयम पूर्ण उत्तर को श्रवण कर शान्त हो गई। सर्वदा के लिये काम-वासना का परित्याग कर स्वामीजी की भक्ता बन गई। इसके अनन्तर यह देवी जीवन भर हिंन्दू-धर्म की सेवा करती रही।

अब आप सोच सकते हैं कि जिस प्रभु के भक्त महात्मा परदेशी युवतियों की काम-वासना वचन-मात्र से शान्त करने में समर्थ थे, तो वे भक्त-वत्सल प्रभु कृष्ण गोपियों के बुरे भाव नष्ट करने में क्यों समर्थ नहीं थे? कतिपय गोपियां यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण में उपपति का भाव रखती थीं, तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रभु ने उनकी सभी वासनायें नष्ट कर दीं, जिससे वे मुक्ति-पद को प्राप्त कर प्रभु-ज्योति में जा मिलीं।

१८

कर्तव्य-शिक्षा तथा वैराग्य-परीक्षा

(२७-८-१९३८)

सज्जनो! प्रभु कृष्ण, अपनी मुरली-ध्वनि से आकृष्ट हो अपने समीप आई गोपियों को देख, कुछ कहने को तैयार हुये। कहने वालों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण कुछ इस ढङ्ग से कहने लगे जैसे मानव समाज के लिये गृहागत अतिथि की सेवा का एक आदर्श उपस्थित कर रहे हों। श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम् ॥

(भा० १०,२९,१८)

"भाग्यशालिनी गोपियो! तुम्हारा स्वागत है। आपके किस प्रिय कार्य का मैं सम्पादन करूं। व्रज में मङ्गल तो है? अपने आने का कारण कहो!"

भाग्यशालिनी गोपियो! आप मेरे पास आई हो। मैं आपका स्वागत करता हूं। मैं आपके किस प्रिय कार्य को करूं? गोपियां कुछ घबराई हुई दिखाई दे रही थीं। उनकी घबराहट को देख प्रभु कहने लगे—गोपियो! मेरा प्रिय व्रज तो सकुशल है न?

इस श्लोक में प्रभु ने क्या ही सुन्दर शिक्षा दी है। यहां प्रभु बतला रहे हैं कि यदि कोई व्यक्ति तुम्हारे पास आता है तो उस का मधुर मधुर शब्दों से स्वागत करो। उसे शरीर तथा घर की कुशल-क्षेम पूछो। व्रज का कल्याण पूछ कर प्रभु ने यह उपदेश दिया कि देश की कुशलता अवश्य पूछनी चाहिये। देश-प्रेम प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में रहना चाहिये। प्रभु कृष्ण यहां राजा के कर्तव्य की भी शिक्षा दे रहे हैं। वे राजकुमार हो कर भी साधारण गोपियों से

देश की कुशलता पूछ रहे हैं; अतः राजा को साधारण से साधारण व्यक्ति से भी देश की कुशलता पूछनी चाहिये। वह राजा कहलाने का अधिकार नहीं रखता जो अपनी दुःखी प्रजा की कुशलता नहीं पूछता। आज-कल के राजा लोग प्रजा के कष्टों की ओर ध्यान देना ही अपने आराम में बाधा समझते हैं। ये लोग दीन दुःखी प्रजा के रक्त को चूस-चूस कर अपने शरीर को अमर बनाना चाहते हैं। दुःखी प्रजा के हृदयों की आहें आकाश को व्याप्त कर देती हैं। राजाओं को इन आहों का किञ्चिन्मात्र भी ध्यान नहीं।

प्रभु ऐसे न थे। प्रभु तो गोपियों की थोड़ी सी घबराहट देख एकदम सहम कर पूछते हैं—क्या किसी दुष्ट ने व्रज को सताया तो नहीं? कोई मेरी प्यारी मातृ-भूमि के भाईयों के पवित्र जीवन-यापन में रोड़े तो नहीं अटका रहा है? हे गोपियो! क्या तुम्हारा कोई वैयक्तिक कार्य है या सामाजिक? मुझे शीघ्र बताओ। क्या आज-कल ऐसी कुशलतायें पूछी जाती हैं? भगवान् और भी क्या सुन्दर पूछ रहे हैं—"प्रियं किं करवाणि वः" हे गोपियो! तुम यदि कोई कामना ले कर आई हो, वह तो रह नहीं सकती, क्योंकि मेरी शरण में आने पर सभी कामनायें शान्त हो जाती हैं। "यं मां स्मृत्वा सकामो निष्कामो भवति" (गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्)। मेरा ऐसा स्वरूप है कि उसका स्मरण करने पर सकाम प्राणी भी निष्काम हो जाते हैं। मैं तुम्हारा क्या प्रिय कार्य करूँ? मैं तुम्हारे किसी अभीष्ट को नहीं साध सकता। तदनन्तर श्रीकृष्ण गोपियों से कह रहे हैं—

रजन्येषा घोररूपा घोरसत्त्वनिषेविता।
प्रतियात व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः॥

(भा. १०,२९,१९)

गोपियो! रात्रि बहुत भयंकर है। यह जंगल बड़ा भयानक है। इसमें बड़े बड़े हिंसक जन्तु रहते हैं। स्थान स्थान पर सिंह चीते इत्यादि घूम रहे हैं। रात्रि में स्त्रियों का यहां घूमना उचित नहीं। तुम अबला कहलाती हो। तुम्हारे लिये हिंसक जानवरों का सामना करना सम्भव नहीं। सुमध्यमाओ! तुम व्रज को वापस चली जाओ। यहां पर सुमध्यमा शब्द का अर्थ वह नहीं जिस अर्थ में कवि-जन इस शब्द का प्रयोग करते हैं। जिस स्त्री का कटि-भाग बहुत पतला हो,

अङ्ग-सौष्ठव भी ठीक हो ऐसी परम सुन्दरी स्त्री को कवि लोग सुमध्यमा कहते हैं। प्रभु का यह भाव नहीं है। उन का भाव है कि तीन तरह के सात्त्विक, राजस तथा तामस पुरुषों में से इस भयङ्कर जङ्गल में सात्त्विक योगी लोग घूमते हैं, या तामस किरात इत्यादि। सात्त्विक योगी अपनी दृष्टि-मात्र से हिंसक जन्तुओं को शान्त बना देते हैं। तामस प्राणी शस्त्र-बल से निर्भीक रहते हैं। गोपियो! तुम तो सुमध्यमा हो—राजसी हो। रजोगुण मध्यम गुण होता है। गोपियां रजोगुण से युक्त थीं, अतः उन्हें "सुमध्यमा" कहा।

इस प्रकार प्रभु यह भी संकेत कर रहे हैं कि जब जिज्ञासु गुरुदेव के समीप जाता है तो गुरुदेव उसके मार्ग में अनेक विघ्न—बाधायें तथा कष्ट उपस्थित कर देते हैं। यह शिष्य की परीक्षा का ढङ्ग है। यदि शिष्य साधना मार्ग में आने वाले भयों से भयभीत न होकर अपने पथ पर दृढ रहता है तो गुरुदेव उसे योग्य समझ कर दीक्षा देते हैं। श्रीकृष्ण भगवान् भी यहां पर गोपियों की परीक्षा ले रहे हैं। यदि गोपियां ऐसे भयङ्कर भय उपस्थित होने पर भी दृढ़ रहीं तब समझ लिया जायगा कि अब इनके हृदयों में सच्चा वैराग्य है। न इन्हें किसीका भय है न दुःख। ऐसी परीक्षा लेने के निमित्त ही प्रभु ने "रजन्येषा" इत्यादि कहा।

इस से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि रास-लीला निवृत्ति-मार्ग जानने का एक उच्च आदर्श है। इसमें काम-भावना की गन्ध भी नहीं है। भागवत टीकाकार श्रीधरजी भी कहते हैं "निवृत्तिपरेयं रास-पञ्चाध्यायी"। भगवान् श्रीकृष्ण के "प्रतियात" इस क्रियापद-प्रयोग से प्रतीत होता है कि चाहे गोपियों में काम-वासना थी; पर प्रभु तो साफ कह रहे हैं कि तुम व्रज को लौट जाओ। प्रभु यदि कामी होते तो लौट जाने के लिये क्यों कहते? क्या आज-कल भी कोई ऐसा पुरुष है जो सुन्दर युवती को एकान्त में देख कर घर जाने के लिये उपदेश दे। यह तो सामान्य व्यक्ति के लिये कठिन ही प्रतीत होता है। लीलावतार प्रभु तो जब कि चारों ओर फूल खिले हुये थे, कामियों के हृदयों को धधकाने वाली चन्द्रमा की छटा अपना अधिकार जमाये हुए थी, एकान्त जंगल का वातावरण था—तब भी गोपियों को लौटने के लिये कह रहे हैं। अतः यहाँ कहना होगा कि यह योगिराज का ही कार्य है।

प्रभु ने "**रजन्येषा घोररूपा**" यहां अपना टेढ़ापन भी बतला दिया है।

क्योंकि यहां "अघोररूपा" यह पद भी निकल सकता है। भाव, यह रात्रि बहुत अच्छी है। इसमें किसी प्रकार का भय नहीं है" और "**अघोरसत्त्व-निषेविता**" तात्पर्य यहां पर कोई हिंसक जानवर नहीं है। शान्त वन है। एकान्त स्थान है। योगाभ्यास करने की उत्तम जगह है। इसी प्रकार "**प्रतियात व्रजं नेह स्थेयम्**" में से "**प्रतियात व्रजं न**" ऐसा पद-छेद करने पर यह अर्थ हो जाता है कि मत जाओ, अतः "**इह स्थेयम्**" यहीं पर ठहरो। दो अर्थों वाले पदों को रख कर भगवान् ने यह बताया कि जैसी इनकी भावना होगी वैसा अर्थ समझकर अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेंगी। प्रवृत्ति–मार्ग में प्रेम हुआ तो "घोररूपा" रात्रि देख कर डर जायंगी। निवृत्ति–मार्ग में प्रेम हुआ तो यह अर्थ समझ लेंगी "—अघोररूपा रजनी" रात्रि बहुत शान्त है। सारांश यह कि जैसी जिस की भावना होती है वैसा ही वह अर्थ कर लेता है।

एक दिन एक पहलवान, एक मुसलमान और एक महात्मा जा रहे थे। उन्होंने एक तीतर को बोलते हुये सुना। वे परस्पर पूछने लगे कि बताओ यह तीतर क्या बोल रहा है। पहलवानों की जैसी भावना होती है उसी के अनुसार पहलवान ने कहा–दंड, मुद्गर, कसरत। मुसलमान ने अपनी भावना के अनुसार कहा–नहीं जी! यह तो कह रहा है—"सुबहान तेरी कुदरत"। अन्त में महात्मा ने अपनी भावना के अनुसार कहा—यह कह रहा है—"सीता राम दशरथ"। कहने का तात्पर्य यह कि किसी भी बात का अर्थ अपनी भावना के अनुकूल निकाल लिया जाता है।

यहां पर यह सन्देह नहीं करना चाहिये कि वह रात्रि तो शरत् पूर्णिमा की थी तथा चान्दनी थी। फिर उसे घोर क्यों कहा गया? यहां पर बात यह है कि स्त्रियों के लिये चान्दनी रात्रि भी घोर होती है। चान्दनी रात्रि में काम उद्दीप्त होता है। दूसरी यह बात भी है कि अन्धेरी रात में तो शायद कोई बदमाश पुरुष स्त्रियों को अन्धेरे के कारण देख भी न सके और उनकी रक्षा भी हो जाय। परन्तु चान्दनी रात में प्रकाश होने से यदि किसी दुष्ट पुरुष की दृष्टि पड़ जाय। तो वह सती स्त्रियों के पातिव्रत्य धर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत हो जाता है। अतः चान्दनी रात भी स्त्रियों के लिये घोर कही गई है।

प्रभु ने रात्रि आदि को घोर बतला कर बहुत डर दिखलाया। फिर भी गोपियों

के मन में तनिक भी भय उत्पन्न नहीं हुआ। प्रभु ने सोचा कि स्त्रियां अपने पतियों से बाह्य-रूप से नाराज़ हो कर नहीं बोला करतीं। उन के दिल में पति-पुत्रों के प्रति अत्यन्त अनुराग होता है। सम्भव है, ये गोपियां अपने पति तथा पुत्रो से ऊपर ऊपर से ही नाराज़ हों। ऐसा सोच प्रभु कृष्ण ने विचार किया कि इनके हृदयों में मोह उत्पन्न करना चाहिये। अत एव कहा—

मातरः पितरः पुत्रा भ्रातरः पतयश्च वः।
विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृढ्वं बन्धुसाध्वसम्॥

(भा० १०, २९, २०)

गोपियो! तुम्हें न देख कर तुम्हारे, माता, पिता, भाई, पुत्र तथा पति तुम्हें खोज रहे होंगे। तुम बन्धुओं को कष्ट न दो।

गोपियो! जिन माताओं ने तुम्हें नौ मास गर्भ में रख कर इतना कष्ट सहा, तुम्हारी रक्षा की, परन्तु स्वयं दुःख सहती रहीं। अपने आप दुःख में पड़ी हुई भी सुख समझती रहीं। जिन पिताओं ने अपने पसीने की कमाई से तुम्हारा लालन-पालन किया, वे तथा तुम्हारे नन्हे नन्हे भूखे बच्चे रोते हुये तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। तुम अपने भाई-बन्धुओं तथा अपने पतियों को दुःखी न करो। जाओ विलम्ब न करो।

दृष्टं वनं कुसुमितं राकेशकररञ्जितम्।
यमुनानिलसलिलैजत्तरुपल्लवशोभितम्॥

(भा० १०, २९, २१)

तुम लोगों ने पुष्पों से सुशोभित और पूर्ण-चन्द्रमा की किरणों से रञ्जित (रँगा हुआ) वन देख लिया। यमुना जी के जलका स्पर्श करके बहने वाले शीतल तथा मन्द मन्द गति वाले वायु के स्पर्श से कम्पायमान पत्तों वाले वृक्षों से युक्त वन-शोभा को भी देख लिया।

तद् यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः।
क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान् पाययत दुह्यत॥

(भा० १०, २९, २२)

तुम शीघ्र व्रज को लौट जाओ। देर मत करो। तुम सब सती स्त्रियां हो,

कुछ मैं ही हूँ। मेरे ही आनन्द की आंशिक अनुभूति-वश प्रत्येक प्राणी अपने सम्बन्ध इतस्ततः जोड़ता रहता है। जहां कहीं आनन्द की झलक पड़ती है, वहीं अपना सम्बन्ध गाँठने का प्रयत्न करता है। याद रखो! तुम जितना सम्बन्ध जोड़ोगे, उतनी ही तुम अपने हृदय में लोहे की कीलें गाड़ रहे हो। एक कील भी हृदय में लगी हुई हो तो असह्य वेदना देती है। जहां अनेक कीलें लगी होंगी वहां की अवस्था का तो फिर कहना ही क्या? उन कीलों द्वारा होने वाले कष्टों का वर्णन करना तो अगाध समुद्र पार करने का प्रयास करना है।

आपके नगर में प्रतिदिन दो चार व्यक्ति काल के ग्रास बन जाते हैं, यह तो आप देखते ही होंगे। उनके काल के ग्रास बनने का सम्भवतः आप को कोई विशेष दुःख न होगा। जिस व्यक्ति से आपका सम्बन्ध है उसका मरना तो दूर, उसके बीमार होने के समाचार-मात्र से ही आपके पाँव तले की मिट्टी खिसक जाती है। आप हर प्रकार से दौड़-धूप करते हैं। कभी दवाई तो कभी डाक्टर को लाते हैं। यह सब दौड़-धूप आप क्यों करते हैं? केवल इस लिये कि उस व्यक्ति का आप से सम्बन्ध है। इसी प्रकार प्रभु कृष्ण गोपियों को समझा रहे हैं—गोपियो! कष्ट देने वाले सम्बन्धों को जो तुम तोड़ कर चली आई हो, यह तो तुमने ठीक किया है। मेरे साथ सम्बन्ध जोड़ना तो भव-सागर से पार होने का सुगम उपाय है। मेरे चरणों की शरण आनन्द-प्रद है—अतः मेरे से प्राणियों का स्वाभाविक प्रेम होता है।

प्राणीमात्र मेरी सन्तान है। सभी मेरे द्वारा निर्मित नियमों में चलते हैं। श्रुति-स्मृति मेरे कानूनों की पुस्तकें हैं। मेरे नियमों का जो उल्लङ्घन करता है, वह नरक-गामी होता है। असह्य दुःख का भागी बनता है। ये नियम मैं ने अपनी सन्तान के हितार्थ बनाये हैं, अपने लाभ के लिए नहीं। राजा अपनी प्रजा के लिए आज्ञा प्रसारित करता है कि यदि कोई चोरी करेगा तो उसे दण्ड दिया जायगा। इस आज्ञा का यदि कोई विरोध करता है तो यह उस व्यक्ति की भूल है; क्योंकि यदि ऐसा नियम न बनाया गया हो तो कल को उसके घर भी चोरी हो सकती है। राजा प्रजा के हित को सम्मुख रख कर नियम बनाता है। नियमों में राजा का कोई वैयक्तिक स्वार्थ नहीं होता।

इसी प्रकार मैं ने भी श्रुति-स्मृति-रूप कानून अपनी सन्तान को नियमित शिष्टाचार की सीमा में रखने के लिये बनाये हैं।

गोपियो! तुम ने मेरे कानूनों का उल्लंघन किया है। तुम्हारे पति मेरे बेटे हैं। उन की सेवा करना मैं ने स्त्री का मुख्य धर्म बतलाया है। तुम उनकी सेवा का परित्याग कर मेरी सेवा में आई हो—यह मेरे लिये अरुचिकर है। एक राजा अपने पुत्र को नौकर के साथ बग़ीचे में सैर करने के लिये भेज देता है। वह नौकर राजकुमार को बग़ीचे ही में छोड़ राजा की सेवा करने के लिये राजा के पास आ जाता है। राजा उस से पूछता है—राजकुमार कहां है? नौकर उत्तर देता है कि महाराज! राजकुमार तो बग़ीचे में है। वास्तव सेवा तो राजा की सेवा है। राजकुमार की सेवा तो गौण है। यह सुन राजा क्रुद्ध होकर उस नौकर को विसर्जित कर देता है और कहता है—मूर्ख! यदि राजकुमार पर कोई विपत्ति आ गई तो क्या होगा? मैं ने तुझे राजकुमार की सेवा करने को कहा था, न कि मेरी। इसी प्रकार गोपियो! मैं ने तुम्हें मेरे पुत्रों—तुम्हारे पतियों की सेवा करने को कहा था। उस आज्ञा का तुम लोगों ने उल्लंघन किया है।

अब आप विचार करें कि मुख्य सेवा तो राजा की ही सेवा है। परन्तु यहां राजा अपनी सेवा से अप्रसन्न होता है। राज-पुत्र की सेवा गौण सेवा है। परन्तु यहां राज-पुत्र की सेवा से राजा प्रसन्न होता है। इस प्रकार कहीं गौण सेवा का महत्त्व अधिक होता है, कहीं मुख्य सेवा का। गोपियो! तुम्हारे पति मेरे पुत्र हैं। मैं ने अपने पुत्रों की सेवा के लिये तुम्हें संसार में भेजा था। तुम ने मेरे पुत्रों की सेवा छोड़ दी, अतः मैं नाराज़ हूं। मेरी भक्ता होने पर भी तुम्हारे पर सिविल नाफ़रमानी की धारा लगाई जायगी। मैं ने स्त्रियों के लिये यह विधान बना रखा है—

भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।
तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम्॥
(भा० १०,२९,२४)

अपने पतिदेवों की श्रद्धा-पूर्वक सेवा करना स्त्रियों का परम धर्म है। पति-देवों की सेवा सभी प्रकार के कपटों का परित्याग कर करनी चाहिये। "अमायया—" कपट अथवा लोक-लज्जा से नहीं। कपट-युक्त हृदय से पति

की सेवा करना महापाप है। अनन्य-भाव से की हुई पति-सेवा मुक्ति-प्रद है। स्त्रियों के लिये पति से बढ़ कर अन्य कोई देवता नहीं बताया गया। कुटुम्ब में सम-भाव रखने की प्रवृत्ति नारी में अवश्य होनी चाहिये। कभी कभी स्त्रियां अपने पति-देवों को तो अच्छा भोजन देती हैं, पति-देव के भाईयों को रूखा-सूखा। इससे गृह-कलह बढ़ता है। सुशील नारी वही है जो परिवार के सभी सदस्यों को समान-रूप से भोजन दे। समान भाव रखे। देवरानी तथा जेठानी के बच्चों से अपने बच्चों के समान ही व्यवहार करना चाहिये। वस्तुतः उनके बच्चों को भोजन इत्यादि पहले देना चाहिये। इससे परिवार में स्नेह-धारा बहती है। कलह-राक्षसी गृह में प्रवेश नहीं करती। इस प्रकार गृहस्थ आश्रम एक उच्च आदर्श स्थापित करता है। घर में लक्ष्मी बढ़ती है। इसी लिये नारी को गृह-लक्ष्मी कहा गया है।

आजकल स्त्रियां प्रायः कलह-कारिणी तथा भ्रातृ-स्नेह-भेदिनी सिद्ध हो रही हैं। स्त्री का गृह-प्रवेश तथा भाईयों का गृह-विभाग, परस्पर कारण-कार्य-भाव स्वीकार किया जाता है। वास्तव में यह ठीक है। अधिकतर यह देखा गया है कि भाईयों की परस्पर की अगाध स्नेह-रज्जु को वे छिन्न-भिन्न कर डालती हैं। जो भाई पहले एक दूसरे के विना भोजन नहीं खाते थे, स्त्रियों के आने पर वे ही एक दूसरे के प्राण-हरण में भी सङ्कोच नहीं करते।

अमृतसर में मेरे पास एक व्यक्ति आकर कहने लगा—महाराजजी! मैं संसार से उपराम हो गया हूँ। मुझे गृह-कलह ने इतना सताया है कि मैं जीवन से तङ्ग आ गया हूं। मुझे भय है कि कहीं स्त्रियों के परस्पर कलह से हमारा भ्रातृ-स्नेह न टूट जाय। उसी समय उसका दूसरा भाई तथा दोनों भाईयों की स्त्रियां भी आगईं। मैं ने उन्हें बहुत समझाया और कहा—बहिनो! भाईयों की स्नेह-रूपी रज्जु टूटी हुई हो तो उसे अपने श्रेष्ठ व्यवहार से जोड़ना तुम्हारा कर्तव्य होना चाहिये। जोड़ने का कार्य करने में तुम यदि असमर्थ हो तो जुड़ी हुई को तो मत तोड़ो।

प्रभु गोपियों को कोमल शब्दों में कह रहे हैं—कल्याणियो! स्त्री-जाति तो स्वभावतः मङ्गल-मयी होती है। ऐसी अवस्था में तुमने पतियों को छोड़ कर अमङ्गल क्यों किया? तुम्हारे पति तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे होंगे। वे दुःख-सागर में मग्न हुये सोचते होंगे कि तुम्हें जङ्गल में कोई हिंसक जानवर मार

देगा। तुम्हारे छोटे छोटे बच्चे रोते होंगे। तुम प्रातःकाल अपने बच्चों को माखन खिलाती थीं। इससे बच्चे प्रसन्न दिखाई देते थे, खेलते फिरते थे। व्रज में बड़ी धूम-धाम मची रहती थी। सर्वत्र ग्वाल-बाल हंसते दिखाई देते थे। अब तुम्हारे रोते हुये बच्चों की अमङ्गल-मय ध्वनि से व्रज अमङ्गल-मय प्रतीत हो रहा होगा। तुम से अधिक अपराधी और कौन होगा जिन्होंने मेरे प्यारे व्रज की यह दशा कर दी? तुम लोगों ने अपने पतियों को दुःख सागर में डुबा दिया है अतः तुम्हारे पर कड़ी धारायें लागू की जायंगी तथा जवाब तलब किया जायगा।

इस प्रकार प्रभु कृष्ण गोपियों को कानूनी कार्रवाई में फँसा रहे हैं। गोपियां जिस समय प्रत्युत्तर देंगी तो प्रभु की युक्तियों का प्रभाव काफूर हो जायगा। सामान्यतः जिस समय अच्छा वकील बोलता है तो जज की भी लेखनी रुक जाती है।

१९

विवाह का प्रयोजन

(२८-८-१९३८)

सज्जनो ! अब यह विचार करना अनुपयुक्त न होगा कि हमारे शास्त्रों में विवाह का विधान क्यों है ?

विवाह के उद्देश्य का कालिदास ने इस प्रकार वर्णन किया है कि "प्रजायै गृहमेधिनाम्" रघुवंशी राजा लोग विवाह करते थे सन्तान के निमित्त, न कि विषय-वासना की पूर्ति के लिये। अतः कालिदास के अनुसार विवाह का मुख्य उद्देश्य है वंश-विस्तार। वेद भगवान् का भी आदेश है—

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

(तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १ अनुवाक ११ मन्त्र १)

प्रजा-तन्तु का विच्छेद न करो। कुल-परम्परा को बनाये रखने के लिये सन्तान उत्पन्न करो। इससे यह भी स्पष्ट है कि केवल प्रजा-तन्तु को बनाये रखने के लिये ही सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये न कि अन्धाधुन्ध।

विवाह के उद्देश्यों में स्ववंश का विकास सर्व-प्रमुख उद्देश्य है। पूर्वजों ने चिरकाल से वंशलता को पाला पोसा, अनंत काल से जीवित रखा, नष्ट न होने दिया। पूर्वजों ने हमारे माता-पिता के रूप में यह भार हमारे कन्धों पर डालते हुये कहा कि पुत्रो ! देखना अपने वंश का विच्छेद न होने देना। ऐसा न हो कि आप सृष्टि-विस्तार करना छोड़ दो और इस से तुम्हारे देश तथा जाति पर विदेशी आक्रमण कर दें। जिस पौधे को हमारे पूर्वजों ने लगाया उसे बढ़ाना हमारा कर्तव्य है, न कि नष्ट-भ्रष्ट करना। हमारे पूर्वजों ने वीर सन्तान उत्पन्न कर अपने देश तथा जाति के गौरव को बढ़ाया। हमारा विवाह कर हमारे पर यह भार छोड़ा कि हम भी उनके समान वीर सन्तान

उत्पन्न कर देश तथा जाति को उन्नत करें, न कि विवाह का उपयोग काम-वासना की पूर्ति मान कर अपने आपको तथा अपनी जाति और देश को विनाश के गड्ढे में ढकेल दें। जिस देश की जन-संख्या कम होती है, उस पर आक्रमण करने की शत्रुओं को प्रेरणा मिलती है। फ्रांस में तो वही व्यक्ति प्रशंसा के योग्य माना जाता है जो अधिक सन्तान पैदा करता है। जो स्त्री-पुरुष विषय-वासना की पूर्ति के निमित्त विवाह करते हैं वे सीधे नरक को चले जाते हैं। वे कीट-पतंग इत्यादि योनियों में जन्म लेते हैं।

विवाह का द्वितीय उद्देश्य अनर्गल प्रवृत्तियों का निरोध करना है। स्वभावतः युवक युवती को देख कर चञ्चल हो जाता है तथा युवती युवक को देख कर। इससे प्राणी विषय-वासना के कीट बन जायंगे तथा परस्पर कलह करेंगे। इस प्रकार जीवन अशांत तथा दुःख-पूर्ण हो जायगा। इससे प्राणी अपने लिये नरक का मार्ग प्रशस्त कर लेंगे। अतः इस अनर्गल प्रवृत्ति को रोकने के लिये विवाह का विधान किया गया। इससे स्त्री-पुरुष अपने सम्बन्धों को निश्चित कर निश्चित मार्ग पर चलेंगे। इससे समाज में सुव्यवस्था बनी रहेगी।

विवाह का तृतीय उद्देश्य है स्वार्थ-भावना (आत्म-भावना) का विकास करके सारे परार्थ को स्वार्थ में अन्तर्भूत करना। सर्वत्र आत्म-दर्शन करना। स्वभावतः प्राणी जो कुछ करता है अपने इस साढ़े तीन हाथ के शरीर के निमित्त ही करता है। वह इस शरीर ही को 'स्व'मान कर दिन रात इसके निमित्त दौड़ लगाता रहता है। विवाह हो जाने पर पति-पत्नी परस्पर एक दूसरे को भिन्न न मान कर अपना ही स्वरूप (आत्म-भाव) समझते हैं। पति भूखा रह कर भी पत्नी के लिये सामान लाता है। भोजन तैयार है तो भी पत्नी भूखी बैठी रहती है कि पति-देव के भोजन करने के अनन्तर ही भोजन करूंगी। वे एक दूसरे के निमित्त त्याग करते हैं। सन्तान के उत्पन्न होने पर उसे भी अपना स्वरूप देखते हैं। उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखते हैं। उसको सुखी दुःखी देख स्वयं सुखी दुःखी होते हैं। सन्तान की सुख-सुविधा के निमित्त अपने सुखों का परित्याग करते हैं। अब 'स्व'भावना शरीर में ही सीमित न रह कर परिवार में निहित हो गई। महापुरुषों में तो यह 'स्व'भावना सम्पूर्ण विश्व के रूप को धारण कर लेती है। उनके लिये

सारा विश्व आत्म-स्वरूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार विवाह से 'स्व'भावना सीमित न रह कर पर को भी आत्मसात् कर लेती है। इससे प्राणी में त्याग इत्यादियों का विकास होता है।

स्वार्थ-भाव जीव-भाव है, परार्थ-भाव भगवद्-भाव है। स्वार्थ-भाव का ह्रास और परार्थ-भाव की वृद्धि ही भगवत्प्रेम का अभ्यास है। जब स्वार्थ-भावना परार्थ-भावना में विलीन होकर अपना समुज्ज्वल रूप प्रकट करती है, तब समस्त विश्व में साधक को भगवद्दर्शन होने लगता है। वह समस्त विश्व में भगवान् के दर्शन करता है और समस्त प्राणियों से अकारण प्रेम करने लगता है। उस समय उसका प्रेम प्राणियों में किसी सांसारिक सम्बन्ध के कारण नहीं होता अपि तु भगवद्दृष्टि से होता है। यही विश्वव्यापी प्रेम सच्चा भगवत्प्रेम कहलाता है।

विवाह से चित्त में समाहितता आती है और समाहित चित्त में ही भगवद्दर्शन होते हैं। समाहित चित्त में ही भगवान् के स्वरूप का प्रतिभास पड़ता है, जैसे चञ्चलता-रहित जल में सूर्य इत्यादि का। योग का भी प्रमुख उद्देश्य चित्त की समाहितता ही है।

विवाह से प्राणी के हृदय में प्यार की धारा बहने लगती है। इस धारा को हम आसानी से प्रभु की ओर मोड़ सकते हैं। एक सन्त के पास कोई व्यक्ति गया। वह व्यक्ति अत्यंत शुष्क हृदय का था। उसने संसार के सभी पदार्थों में रस-हीनता का निरूपण करते हुये कहा कि मेरे हृदय में कभी प्यार इत्यादि के भाव उत्पन्न नहीं हुए। यह श्रवण कर सन्त ने कहा—"तुम भगवद्-भक्ति के योग्य नहीं हो। क्योंकि नदी में यदि जल होता तो बान्ध इत्यादि के द्वारा धारा को उचित मार्ग पर ले जाया जा सकता था। जिस नदी में जल ही नहीं, धारा ही नहीं है, उस धारा के उचित उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार जिसके हृदय-रूपी नदी में भाव-रूपी धारा बह रही है, उसीके हृदय में उस धारा को भगवान् की ओर लगाने से भक्ति-रूपी खेती उत्पन्न हो सकती है। शुष्क हृदय में तो मरुस्थल के समान कुछ भी नहीं हो सकता।"

२०

गोपियों का प्रभु को युक्तियुक्त उत्तर

(३०-८-१९३८)

सज्जनो! प्रभु कृष्ण ने धर्म-मर्यादा के उल्लङ्घन करने का आरोप गोपियों पर लगाया। प्रभु ने कहा—गोपियो! तुमने तीन अपराध किये हैं। प्रथम, पतिदेवों की आज्ञा नहीं मानी। द्वितीय, पतियों के बन्धुओं को नाराज़ किया। तृतीय, अपने नन्हे नन्हे बच्चों को छोड़ा; अतः तुम्हें नरक-गामी होना पड़ेगा।

प्रभु, गोपियों के वैराग्य की परीक्षार्थ ही यह सब कह रहे थे। अतः जब प्रभु गोपियों को भलीभान्ति अपराधी ठहरा चुके तो गोपियों ने प्रभु के सम्मुख प्रार्थना की—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

(भा० १०, २९,३१)

विभो! हम सभी विषयों का परित्याग कर, आप के चरणों में आई हैं। आप ऐसे कठोर वाक्य हमें न कहें। आप हमारा परित्याग न कर जैसे आदि-पुरुष भगवान् नारायण मुमुक्षु-जनों से प्यार करते हैं, वैसे ही आप अपनी भक्ताओं से प्यार करो। हे व्यापक परमात्मन्! आप हमें कठोर वचन क्यों कह रहे हैं। आप के वचन हमारे हृदयों में घाव कर रहे हैं। प्रभु! आपसे यह बात छिपी हुई नहीं है। हम संसार के विषयों का परित्याग कर आपके चरणों में आई हैं। विषय-भोगों की उपेक्षा कर हमने आप का आश्रय लिया है। मुमुक्षु-जन संसार से विरक्त होकर भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं। भगवान् उन्हें अपनी सेवा में स्वीकार कर लेते हैं। हम भी मुमुक्षुओं के समान आपकी शरणागत हैं; अतः हमारा त्याग अथवा

अपने चरणों से पृथक् करना आपके लिए उचित नहीं। प्रभो, हम आपकी भक्ता हैं, आसक्ता नहीं। आप हमें स्वीकार करें।

प्रभो! हमने पतियों का परित्याग कर आपकी आज्ञा का उल्लंघन किया है—यह जो आपने कहा, इस विषय में हम पूछती हैं—कि यह दूसरा नियम किसने बनाया—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

जो जिस प्रकार से मेरा भजन करता है मैं उसी प्रकार उसके साथ व्यवहार करता हूं। प्रभो! आप शरणागत-वत्सल हैं। पूर्वोक्त नियम भी आप ही का बनाया हुआ है। आप हम शरणागतों का परित्याग कर अपने ही नियम का उल्लंघन कर रहे हैं। आपका तो नियम है कि आपसे जो जितना प्यार करता है, आप उससे भी कहीं अधिक उससे प्यार करते हैं। परन्तु हमें कठोर वचन कह कर आप इस नियम का भंग कर रहे हो।

प्रभो! राजा स्वयं नियमों को निर्मित कर उन्हें तोड़ता नहीं। तोड़ने पर प्रजा विरोध करती है। आप अपने नियमों को तोड़ रहे हैं। हमें इसका विरोध करना ही पड़ेगा।

परमात्मन्! हमने संसार का परित्याग स्वार्थ को लेकर नहीं किया और न ही पतियों का तिरस्कार किसी सांसारिक लोभ को लेकर। हमने यह सब परमार्थ के निमित्त किया है। आप की आज्ञा है कि जो व्यक्ति स्वार्थ-वश आप के नियमों का उल्लङ्घन करता है वह पापी है। जो मेरी शरण में आने के लिये स्त्री, पुत्र, पति, गृह, धन तथा माता-पिता इत्यादि का परित्याग करता है, उसे मैं नहीं छोड़ता। वह व्यक्ति पापी नहीं कहलाता।

प्रभो! हमारी भी यही अवस्था है। हम ने अपने छोटे बच्चों का छाती पर पत्थर रख कर परित्याग किसी स्वार्थ-सिद्धि के लिये नहीं किया। हम तो आप की चरण-सेवा के निमित्त आई हैं। आपने कहा कि स्त्री का परम-देव पति है और हमने इसके विपरीत आचरण किया—यह भी ठीक नहीं। यह धारा भी आप ही की बनाई हुई है कि मेरी शरण में आते समय, न पति की चिन्ता करनी चाहिये, न धन तथा बच्चों की। सम्भव है, आपने नियम

बनाते समय ध्यान नहीं रखा। हम यदि व्यक्ति-गत स्वार्थ से आतीं तो दोष था। हम तो बाँके विहारी की झाँकी देखने आई हैं। ऐसा करके हम ने किसी विधि-विधान का उल्लङ्घन नहीं किया अपितु पालन किया है। हमारा दृष्टिकोण तो पारमार्थिक है न कि व्यावहारिक; अतः दोष के लिये उसमें स्थान नहीं है।

हे सर्वान्तर्यामिन् जगदीश्वर! आप स्वयं नियम बनाते हो तथा स्वयं तोड़ते हो। यह न्याय-शीलता का लक्षण नहीं। गोपियों की इस उक्ति का समर्थन गीता भी इन शब्दों में करती है—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

(गीता ७,१५)

माया से जिनका ज्ञान लुप्त हो चुका है ऐसे असुर-भाव से युक्त, पापात्मा, मूढ तथा प्राणियों में नीच मुझे प्राप्त नहीं होते। विपरीत-भावना तथा अश्रद्धा से जिन का विवेक नष्ट हो गया है, जो वेद-शास्त्र, गुरु-परम्परा के सदुपदेश, ईश्वर, कर्मफल तथा पुनर्जन्म में विश्वास न कर मिथ्या कुतर्क तथा नास्तिक-वाद में पड़ कर दूसरों का विना प्रयोजन अनिष्ट करते हैं, ऐसे अज्ञानी जन आसुरी-वृत्ति के कारण मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। पुनः गीता में कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (गीता ९, ३०)
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (गीता ९, ३१)
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ (गीता ९, ३२)

अतिशय दुराचारी व्यक्ति भी यदि मेरा अनन्य-भाव से भक्त हो कर स्मरण करता है, तो वह साधु के समान ही है। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि ईश्वर के भजन के समान अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः वह व्यक्ति

यथार्थ निश्चय वाला है। यथार्थ निश्चय वाला व्यक्ति तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और परम-शान्ति-दायिनी मुक्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन! यह ध्रुव सत्य है कि मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता। मेरी शरण में आने पर जीव अवश्य परम गति को प्राप्त होता है—भले ही वह जीव स्त्री, वैश्य अथवा शूद्र हो। नारी के स्वभाव में प्रवृत्ति की अधिकता होती है—अतः भगवान् ने स्त्री-शब्द का श्लोक में उल्लेख किया। व्यवहार में आप लोगों का प्रतिदिन का यह अनुभव है। आप लोग पति-पत्नी बाज़ार जाते हैं। पत्नी की दृष्टि जिस किसी वस्तु पर पड़ती है, उसीके खरीदने के लिये पति-देव को प्रेरित करती है। प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता का वर्णन करती है तथा कहती है—यह भी ले लूं, वह भी। सामान्यतः रजोगुण-मयी प्रवृत्ति-प्रदायिनी वस्तुयें माताओं को अधिक प्रिय होती हैं। वैश्य तथा शूद्र भी स्वभाव से प्रवृत्ति-प्रधान होते हैं—अतः प्रवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करते हैं। स्वभाव से प्रवृत्ति-मार्ग पर जाने वाले पापी भी जिस समय भगवान् की शरण में आ जाते हैं तो उनका भी कल्याण हो जाता है।

ब्राह्मणों तथा राजर्षियों के विषय में तो कहना ही क्या है? ब्राह्मण का कर्तव्य है कि विषय-वासनाओं का परित्याग कर शान्त रहे तथा ज्ञानोपार्जन कर सभी कल्मष धो डाले। ऐसे ब्राह्मण लोग तो मृत्यु के आगमन से पूर्व ही आवागमन के चक्र से छूटने का प्रबन्ध कर लेते हैं, ताकि उन्हें पुनः जन्म न लेना पड़े।

क्षत्रिय राष्ट्र की सम्पत्ति हैं। क्षत्रिय के शरीर का निर्माण राष्ट्र-हित के लिये हुआ है। देश-हितार्थ बलिवेदी पर बलिदान के निमित्त सन्नद्ध क्षत्रिय को रोकने का अधिकार माता-पिता तथा पत्नी को भी नहीं है। क्षत्रिय अपनी रमणीया रमणी के रमण की परवाह नहीं करता। देश की पुकार श्रवण कर क्षत्रिय अपनी नवोढ़ा बधू को छोड़ कर चल देता है। क्षत्रिय अपने विषयानन्द तथा अन्य सभी भोग्य पदार्थों और स्वार्थों का देश के लिये हँसते हुये बलिदान कर देता है। अतः उस की गति का वर्णन तो ऐसा मिलता है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः॥

संसार में दो ही ऐसे पुरुष हैं जो सूर्य-मंडल का भी भेदन कर जाते हैं। एक तो योग-युक्त पूर्ण त्यागी तथा दूसरा देश के हित सम्मुख युद्ध में वीरगति को प्राप्त होने वाला वीर। कहने का सारांश यह है कि ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण और क्षत्रियों के विषय में तो सन्देह ही नहीं। वे तो अवश्य परम-गति को प्राप्त होते हैं।

सातवें अध्याय में यह कहा गया है कि पापी मूढ़ लोग मुझे प्राप्त नहीं कर सकते और नवम अध्याय में इसके विपरीत—चाहे कितना बड़ा पापी हो वह भी मेरी शरण में आ सकता है और परम गति को प्राप्त कर सकता है। यहां पर इन दोनों प्रकरणों का परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इस विरोध को हटाने के लिये इन भावनाओं पर विचार करना चाहिये। ये चार प्रकार की भावनायें हैं:—स्वार्थ, परम स्वार्थ, परोपकार तथा परम परोपकार।

मैं धनी बनूं, बङ्गले बनाऊं, मेरे जैसा कोई सुखी न हो, मोटरकारों द्वारा ही मेरी जीवन-यात्रा समाप्त हो, मुझे मोक्ष की आवश्यकता नहीं, मुझे प्रभु-स्मरण की आवश्यकता नहीं—इस प्रकार की इच्छाएं जो व्यक्ति करता है, वह स्वार्थी है। यह भावना स्वार्थमयी भावना कहलाती है।

मैं अपना परलोक नहीं बिगड़ने दूंगा, चाहे मुझे नंगा, भूखा, दीन, हीन तथा अपमानित जीवन ही बिताना पड़े। चारों ओर से चाहे विपत्ति के काले बादल छाये रहें। चाहे दरिद्रता पिशाची नग्न-नृत्य करती रहे। मैं अपने परलोक-साधन के पथ पर दृढ़ रहूंगा। इस प्रकार की भावना परम स्वार्थ कहलाती है। जैसे राजा हरिश्चन्द्र ने प्रतिज्ञा-भङ्ग के भय से, जो परलोक बिगाड़ने में कारण था, अत्यन्त दुःख सहे। महाराजा हरिश्चन्द्र अपने स्वामी की आज्ञा के अनुसार श्मशान में कार्य कर रहे थे। उनकी परम-प्रिया पत्नी उनके पास अपने मृत परम-प्रिय पुत्र को गोद में ले कर आई। इस करुणामय दृश्य को देख कर यदि पत्थर को आँखे होतीं तो वह भी करुणा से पिघल कर पानी बन जाता। महाराजा हरिश्चन्द्र ऐसे करुणामय दृश्य को देख कर भी दयार्द्र न हुये। उनकी आँखों में करुणा के दो अश्रु भी न आये। ऐसा क्यों? उन्हें अपने स्वामी की आज्ञा का ध्यान है। स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन पर-लोक को नष्ट करने वाला है। अतः ऐसी परिस्थितियों में महाराजा शान्त हैं। यह है परम स्वार्थ-साधन की भावना।

जिस समय संसार दुःख-सागर में डूब रहा हो। प्राणी दुःखों से संतप्त हो रहे हों, उस समय उनके कष्ट निवारण करने के लिये अपने तन, मन, धन को न्योछावर कर देना ही परोपकार है। परोपकार में प्राणी अपने स्वार्थों का परित्याग दूसरों के सांसारिक हितों के लिये करता है।

परम परोपकार वह कहा जाता है जहां यह विचार रहे कि चाहे मुझे कितने ही कष्ट उठाने पडें, पर मेरे कुटुम्बियों का परलोक न बिगड़े। जैसे "मदालसा" रानी ने अपने पुत्रों को राज्य के लोभ में न फँसने दिया। मदालसा जानती थी कि मेरे पुत्र इसी मनुष्य शरीर द्वारा मुक्त हो सकते हैं। ऐसा न हो कि कहीं ये राज्य के सुखों तथा भोग-विलासों में फँस कर नरक-गामी हो जायं—अतः उन्हें निवृत्ति-मार्ग का उपदेश दे कर परम त्यागी बना दिया।

राजा गोपीचन्द की माता ने अपने पुत्र को चारों ओर से युवतियों द्वारा घिरा देखा। वे उसे स्नान करा रहीं थीं। कोई युवती इत्र फुलेल लगा रही थी तो कोई शरीर मल रही थी। माता यह सब देख बहुत दुःखी हुई। उसकी आँखों से आँसु बहने लगे। वह सोचने लगी कि मेरा पुत्र इन भोग-विलासों में पड़ कर अपना परलोक बिगाड़ लेगा। मकान पर से माता के गरम अश्रुओं की धारा गोपीचन्द पर पड़ी। गोपीचन्द ने ऊपर दृष्टि उठा कर देखा तो माता रो रही थी। गोपीचन्द ने कहा—हे माता! आप क्यों रो रही हैं? क्या किसी ने अपनी मृत्यु को निमंत्रित करने के लिये गोपीचन्द की माता को कुछ कह दिया है। माता ने कहा—नहीं पुत्र! भला गोपीचन्द के होते हुये मुझे कौन कुछ कह सकता है। हे पुत्र! रोने का कारण यह है कि मुझे भय है कि तू कहीं भोगविलास में फँस कर अपना परलोक न बिगाड़ लेना। बेटा! यह भोग-विलास की सामग्री तो स्वप्न-तुल्य है। स्वप्न के पदार्थ दो चार क्षण स्थायी होते हैं तथा जाग्रति के दो चार दिन—

एता याः प्रेक्षसे लक्ष्मीः छत्रचामरचंचलाः।
स्वप्न एष महाबुद्धे दिनानि त्रीणि पंच च॥

माता की इस पवित्र तथा वस्तु-सत्य भावना को सुन कर गोपीचन्द वैरागी हो गये। कुटुम्ब को परलोक-साधना में लगाने वाली भावना को परम परोपकार कहते हैं।

इन चार भावनाओं को ले कर विचार करने से गीता के श्लोकों का परस्पर विरोध निवृत्त हो जाता है। अब सातवें अध्याय के श्लोक का अर्थ हुआ—ऐसे पापी प्रभु को नहीं पा सकते जो स्वार्थ-वश पाप करते हैं तथा धर्म-मर्यादा को तोड़ते हैं। जो परम स्वार्थ, परोपकार तथा परम-परोपकार के लिये धर्म-मर्यादा का उल्लंघन करते हैं वे धर्म–विरुद्ध चलते हुये भी परम गति को प्राप्त होते हैं।

२१

गोपियों ने पति-पुत्रों को क्यों छोड़ा ?

(१-९-१९३८)

सज्जनो ! गोपियों पर श्रीकृष्ण भगवान् की ओर से दोषारोपण किया गया; अतः गोपियां अपने दोष का प्रतिकार करने के लिये प्रभु के सामने अपनी युक्तियां रख रही हैं। वे प्रभु कृष्ण को खुले शब्दों में कह देती हैं कि हे परमात्मन् ! हमारे लिये जो नियम आपने बनाये हैं, उन्हें आप स्वयं भङ्ग कर रहे हैं—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

(भा० १०, २९,३२)

सब धर्मों के तत्त्व को जानने वाले प्रिय प्रभो ! पति, पुत्र, और भाई-बन्धुओं की सेवा करना स्त्रियों का धर्म है, यह आपका कथन अक्षरशः सत्य है। इस उपदेश के अनुसार तो हमें आपकी सेवा करनी चाहिये, क्योंकि आप सब उपदेशों के चरम लक्ष्य हो। आप समस्त शरीर-धारियों के सुहृद् हो, आत्मा हो, तथा परम प्रियतम हो।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥

(भा. १०, २९, ३३)

आत्म-ज्ञान में कुशल आप ही से प्रेम करते हैं; क्योंकि आप अपने ही आत्मा और नित्यप्रिय हो। दुःख देने वाले अनित्य पति तथा पुत्र इत्यादि से क्या प्रयोजन है ? परमेश्वर ! अतः हमारे पर प्रसन्न हो कृपा करो।

कमलनेत्र प्रभो ! आपको निमित्त बना कर पालीपोसी आशालता का छेदन न करो। हे प्रभो ! आपने पति-पुत्र और कुटुंबियो की सेवा करना स्त्रियों का धर्म बताया। यह ठीक है; ठीक भी क्यों न हो आप तो बड़े धर्मवित् हैं। आप धर्म-तत्त्व के वेत्ता हैं। सामान्यतः किञ्चित् व्यंग्य को ले कर जैसे कहा जाता है कि आप तो बड़े न्यायशील हैं—फिर आप न्याय क्यों न करेंगे? इसी प्रकार गोपियां भी भगवान् को किञ्चित् व्यङ्ग्य भाव से कह रही हैं। गोपियां हास्य के द्वारा भगवान् से कह रही हैं कि आप धर्म को जानने वालों में प्रकाण्ड पण्डित हैं। अतः धर्म तो आप बतलायेंगे ही ? भगवन् ! आप धर्मवित् कहलाने में तो उत्साह रखते हो, क्या धर्म-पथ पर चलते भी हो ? नहीं, जब आप स्वयं धर्म-संहिता का अनुसरण नहीं कर रहे हो, तो हमें धर्म पर चलने को कहने का आप का क्या अधिकार ? उपदेश अथवा शिक्षा देने का वही व्यक्ति अधिकारी है, जो उसका स्वयं अपने जीवन में पालन करे। आपके साथ तो ऐसा प्रतीत नहीं होता। आप तो प्रत्यक्ष अपने नियमों का उल्लंघन कर रहे हैं। भगवन् ! आप सर्व-जगत् की कल्पना के आधार-स्तम्भ हैं। आपने इतने बड़े संसार को धारण कर रखा है। क्या आप धर्म के इन दो तीन शब्दों को अपने पास नहीं रख सकते ? आप इन्हें अपने पास ही रखें। हमें इनकी आवश्यकता नहीं। प्रभो ! आप तो समस्त विश्व के प्रियतम तथा घट-घट के ज्ञाता हो। हम यह भी जानती हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारा ही स्वरूप हैं, अतः हम आपसे प्रीति करती हैं। धर्म-निष्ठ तथा ज्ञान-निष्ठ सभी पुरुष आप ही से सम्बन्ध जोड़ते हैं, क्योंकि आप नित्यप्रिय हैं। आपका अनुराग सदा बना रहता है। इस लिये नित्य-प्रिय प्रभु के साथ प्रेम करना प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है। जो व्यक्ति संसार के अनित्य पदार्थों में अनुरक्त होता है, वह विपत्ति को निमन्त्रण देता है। अनित्य पदार्थ आपात–रमणीय होते हैं। उनका सम्पर्क प्रथम सुख-प्रद होता है और परिणाम में दुःख-दायी। अविनाशी नित्य-सुख, जो आदि अन्त में सम हो वह तो केवल प्रभु ही में मिल सकता है।

गोपियां प्रभु से कहती हैं कि प्रभो ! नित्य आनन्द-स्वरूप आप में प्रेम होने के अनन्तर अन्य अनित्य सांसारिक पदार्थों के अनित्य सुख हम क्यों अपनायें ? हमें पति-पुत्रों का सुख नित्य नहीं प्रतीत होता। पति-पुत्रों का सुख तो यहां

दुःख-दायी ही बन जाता है। जो अन्त में दुःख-दायी हो ऐसे पति-पुत्रों के सुख से हमें कोई प्रयोजन नहीं है।

गोपियों के समान प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अनित्य पदार्थों से अपना सम्बन्ध न जोड़े। वास्तव में जो प्रभु-भक्त होते हैं, वे तो प्रथम ही समझ लेते हैं कि पति-पुत्र इत्यादि दुःख ही देने वाले हैं। प्रभु-भक्त तो विश्वपति प्रभु से ही प्रेम किया करते हैं। ऐसा होने पर प्रभु भी अपने भक्तों को परमानन्द का अनुभव कराते रहते हैं। देखिये! जब मीराबाई प्रभु-स्मरण में ही नित्य सुख समझने लगी और अपने सभी कुटुम्ब से सम्बन्ध तोड़ लिया, तब स्वयं प्रभु कृष्ण उसे अपनी मधुर मुरली की तान से आनन्दित किया करते थे। एक दिन मीराबाई की माता ने सुना कि कोई मीराबाई को वंशी सुना रहा है और उसके साथ बातचीत भी कर रहा है। माता को सन्देह हुआ कि मेरी पुत्री ने किसीसे अनुचित सम्बन्ध जोड़ लिया है। वह बाहर से आवाज़ देती है-बेटी! दरवाज़ा खोलो, तुम किससे बातचीत कर रही हो। मुझे तुम्हारी चालाकी अब ज्ञात हो गई। मीरा ने माता की आवाज़ सुन कर दरवाज़ा खोला। पर वहां था कौन? प्रभु तो अन्तर्धान हो चुके थे। प्रभु अपने भक्तों के सिवाय किसीको दर्शन नहीं दिया करते। माता ने मीरा से कहा-बेटी! क्या तुम्हारा लग्न कर दें? तुम्हारी आयु लग्न-योग्य हो गई है। यह सुन मीराबाई ने कहा—

ऐसे पति को क्या करूं, जो जन्मे ओ मर जाय।
वर वरिये गोपाल जी, मेरो चूँड़लो अमर हो जाय॥

ऐसी स्थिति उसी भक्त की होती है जिसने नित्य और अनित्य पदार्थों के तत्त्व को जान लिया हो। गोपियां भी नित्यानित्य-विवेक में पूर्ण थीं— अतः वे कहती हैं—प्रभो! हम अनित्य संसार से विरक्त हो चुकी हैं। हम आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। इस लिये आप हमारे पर कृपा करें, हमारी आशा-लता को न तोड़ें।

अब प्रभु जान गये कि गोपियां ठीक वैराग्यावस्था को प्राप्त हो गई हैं। इन्हों-ने पति-पुत्र इत्यादि की सेवा नित्य-सुख-प्राप्ति के लिये ही छोड़ी है न कि

अनित्य विषयानन्द के निमित्त। प्रभु ने गोपियों की बहुत कड़ी परीक्षा ली थी परन्तु वे उसमें उत्तीर्ण हो गईं।

गोपियां प्रभु के सम्मुख कह रही हैं कि हे प्रभो! भला आप ही बतलायें —क्या वृक्ष के मूल को सींचने पर उसकी शाखाओं को सींचने की आवश्यकता रह जाती है? यह संसार एक वृक्ष है। इसका मूल आप हैं तथा शाखायें अन्य प्राणी-वर्ग है। हम ने संसार के मूलरूप आपसे प्रेम कर लिया है। अब भला शाखा-स्वरूप पति-पुत्र इत्यादि से प्रेम करने की क्या आवश्यकता है?

गोपियों के प्रश्न-उत्तर श्रवण कर अन्त में भगवान् को निरुत्तर होना पड़ा और गोपियों ने परीक्षा में शत–प्रतिशत अङ्क प्राप्त कर सफलता प्राप्त की। आज-कल नियम है कि जब कोई विद्यार्थी परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता है, तो उसे प्रमाण-पत्र प्राप्त होता है। इस नियम के अनुसार गोपियों को भी परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के परिणाम-स्वरूप कोई प्रमाण-पत्र मिलना चाहिये। वह प्रमाण-पत्र था—प्रभु की उनके साथ रास-क्रीड़ा।

इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः।
प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत्॥

(भा. १०, २९, ४२)

गोपियों के व्याकुलता-भरे वाक्यों को श्रवण कर, अपने स्वरूप में रमण करने वाले योगेश्वर भगवान् ने गोपियों पर दया करके मुस्कराते हुये रमण किया। दीन वचनों को श्रवण कर आत्माराम तथा योगेश्वरों के भी ईश्वर प्रभु ने हँस कर रमण किया।

यहां पर "आत्माराम" तथा "योगेश्वर" पदों से व्यासदेव जी ने प्रभु के स्वरूप और स्वभाव को स्पष्ट कर दिया है। प्रभु के विषय में जो काम-वासना का लांछन लगाते हैं, उन्हें इन पदों पर विशेष ध्यान देना चाहिये। सम्भव है, इन्होंने इन पदों का अर्थ ही नहीं समझा। प्रभु रमण अवश्य करते हैं; किन्तु रमण करते समय प्रभु आत्माराम हैं। प्रौढ़ व्यक्ति बच्चों को खिलाते समय जैसे उन्हींके समान कूदने लग जाता है, वैसे ही प्रभु कृष्ण भी गोपियों के साथ नाचने कूदने लगे। यही था गोपियों के साथ रमण करना। कई लोग यहां पर रमण शब्द को देख कर घबरा जाते

हैं। वे रमण शब्द का अर्थ विषय-भोग समझ लेते हैं। रमण शब्द का वास्तविक अर्थ विनोद है। गुजराती भाषा में आज कल भी कहा जाता है कि बच्चा रमता है, भाव—बच्चा खेल रहा है। यहां पर बच्चा विषय-भोग कर रहा है—क्या यह अर्थ करना युक्ति-सङ्गत है? नहीं, कदापि नहीं। यहां तो रमण शब्द का अर्थ विनोद करना ही लिया जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी रमण शब्द का अर्थ विनोद करना ही आप अधिकतर पायेंगे। जैसे महर्षि पाणिनी ने भी कहा है–

"स्तम्बकरणयो रमिजपोः"

(अ० ३ पा० २ सूत्र १३)

इस सूत्र के उदाहरण में 'स्तम्बेरमः' यह उदाहरण दिया गया है, जो हस्ती का वाचक है। स्तम्ब, तृणों के गुच्छे को कहते हैं—उसके साथ जो रमण विनोद करे उसे "स्तम्बेरमः" कहते हैं। लोग तो 'रम' धातु के प्रयोग को देख कर ही विषय-वासना का सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। इस प्रकार की भावना उपयुक्त नहीं है।

इस श्लोक में भी "अरीरमत्" शब्द को देख कर हमें अनुचित अर्थ नहीं करना चाहिये।

यहां पर प्रभु को "योगेश्वरेश्वर" कहा गया है। योगी तो वही होता है जो एक विचार में लीन रहे। इस प्रकार एक विचार में लीन रहने वाले योगी आपको अनेक मिल सकते हैं—जैसे न्यूटन। न्यूटन को यह भी पता न चला कि भोजन कौन खा गया। न्यूटन ने अपने नौकरों से कह रखा था कि भोजन रखते समय मुझे बुलाना नहीं चुपचाप भोजन रख जाया करो। नौकर चुपचाप भोजन रख जाया करते थे। एक दिन न्यूटन विचार-मग्न थे। उसी समय उनका एक मित्र आया और हास्य करने के निमित्त उनका भोजन ही खा गया। न्यूटन अपने कार्य में इतने व्यस्त थे कि उन्हें इसका पता ही न चला। पर्याप्त समय के अनन्तर न्यूटन का ध्यान टूटता है। वे क्षुधा का अनुभव करते हैं। वे सामने भोजन के खाली बर्तनों को देखते हैं। विचार करते हैं—भूख से तो पता चलता है कि मैंने भोजन नहीं किया; परन्तु बर्तनों से ज्ञात होता है कि मैंने भोजन कर लिया है। वे इसी प्रकार

विचार में मग्न थे कि मित्र सामने आगया। वह मित्र न्यूटन से कहने लगा कि मित्र! आप धन्य हो। मैं आशा करता हूँ कि अपनी इस तल्लीनता से विज्ञान में अपने देश का नाम ऊँचा करोगे। ऐसा ही हुआ। न्यूटन ने अनेक आविष्कार किये।

एक विचार में रूढ़ होने वाले योगी तो अनेक मिल जाते हैं। जो आत्म-साक्षात्कार करले, वह व्यक्ति योगेश्वर होता है। योगेश्वर में सिद्धियां उत्पन्न हो जाती हैं। योगेश्वर की आत्मा का आवरण भङ्ग हो जाता है। आवरण भङ्ग हो जाने से योगेश्वर आत्म-साक्षात्कार कर लेता है। योगेश्वर में सङ्कल्प-सिद्धि होती है। ये विशेषतायें जिसमें साधनों द्वारा आयें वही योगेश्वर होता है और जिसमें स्वतःसिद्ध हों वह योगेश्वरेश्वर है। भगवान् श्रीकृष्ण योगेश्वरेश्वर हैं, क्योंकि ये सभी विशेषतायें उनमें नैसर्गिक हैं। ऐसे योगेश्वरेश्वर प्रभु कृष्ण के विषय में काम-भाव का लाञ्छन लगाना नराधमता का ही सूचक है।

भगवान् श्रीकृष्ण गोपियों के साथ विनोद अथवा रमण करने लगे। गोपियों को अपने सौभाग्य का अभिमान हो गया। जहां अहंकार होता है वहां से प्रभु अदृश्य हो जाते हैं; अतः गोपियों के मध्य से प्रभु अन्तर्धान हो गये—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

(भा. १०, २९, ४८)

जब श्रीकृष्ण भगवान् ने गोपियों के सौभाग्य-मद और मान को देखा, तो वहीं पर उनके मद को नष्ट करने के लिये और मान को शान्त करने के लिये अन्तर्धान हो गये।

यहां पर व्यास देवजी ने मद और मान ये दो पद देकर राधाजी के वर्णन को भी सूचित किया है। लोग कहते हैं कि भागवत में राधा जी का वर्णन नहीं मिलता। हम कहते हैं कि इस श्लोक में राधा जी का वर्णन है। कवि की वही कविता चमत्कार-जनक होती है जिसमें भाव विचित्र ढङ्ग से प्रतीत हों। जिस काव्य से चमत्कार उत्पन्न नहीं होता तथा जहां व्यञ्जना-वृत्ति नहीं ली जाती, वहाँ कवि की कविता सरस प्रतीत नहीं होती।

काव्य-सौन्दर्य का प्रदर्शन करते हुये यहां व्यासदेवजी ने विचित्र ढङ्ग से राधा का वर्णन किया है—जैसे मद को नष्ट करने के लिये और मान को शान्त करने के लिये प्रभु लुप्त हो गये। यहां पर देखना यह है कि मद और मान में क्या अन्तर है? पहले जो छोटा व्यक्ति हो तथा बाद में बड़ा पद प्राप्त कर ले, उस समय उस व्यक्ति में जो अहंभाव उत्पन्न होता है—उसे 'मद' कहते हैं। जैसे कोई व्यक्ति सिपाही के योग्य हो, परन्तु उसे बना दिया जाय मन्त्री, तो मन्त्री के गौरवमय उच्च पद को पा कर उसमें जो गर्व उत्पन्न होगा, उसे 'मद' कहते हैं। गोपियां थीं तो ग्वालिनें; परन्तु इस समय भगवान् के साथ क्रीड़ा कर रही हैं—यहां वे छोटे दर्जे से ऊपर पहुंची हैं, इस लिये उन्हें 'मद' पैदा हुआ। अतः कहा है—"प्रशमाय"—शमन करने के लिये—मद को नष्ट करने के लिये भगवान् लुप्त हो गये।

राधाजी थीं तो महारानी; परंतु साधारण गोपियों के समान ही क्रीड़ा कर रहीं हैं। प्रभु भी गोपियों के समान ही राधाजी का सम्मान करने लगे। इससे राधा जी को जो असन्तोष या प्रणय-कोप पैदा हुआ—उसे 'मान' कहते हैं। बड़ा होकर नीचे की अवस्था में पहुंचने पर जो असन्तोष उत्पन्न होता है—उसे 'मान' कहते हैं। यही मान और मद में अन्तर है। अब इस श्लोक की व्याख्या भी ठीक बैठ गई—

तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः।
प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥

(भा० १०, २९, ४८)

"सौभगमदस्य प्रशमाय तथा मानस्य प्रसादाय केशवोऽन्तरधीयत।"

गोपियों के मद को नष्ट करने के लिये और राधाजी के मान को शान्त करने के लिये प्रभु लुप्त हो गये।

२२

श्रीकृष्ण के अन्तर्धान से गोपियों की दशा

(२-९-१९३८)

सज्जनो! हम किस प्रकार प्रभु के दर्शन कर सकते हैं? हमारे भेद-भाव का पर्दा कैसे हटाया जा सकता है? हमारी आत्मा का परमात्मा के साथ कैसे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर आपको आज गोपियों द्वारा किये गये श्रीकृष्ण के अन्वेषण द्वारा प्राप्त हो जायगा। गोपियों के भगवद्-अन्वेषण से आप को यह भी पता चल जायगा कि भक्ति के राज्य में हमारी उन्नति किस दशा में होती है?

गोपियां प्रभु श्रीकृष्ण की खोज में तल्लीन हैं। अत्यधिक अन्वेषण करने पर भी गोपियों को प्रभु के दर्शन नहीं हो रहे। प्रभु इन्हें तब तक दर्शन नहीं देंगे, जब तक गोपियां अहंकार-रहित हो कर प्रभु में पूर्ण-रूपेण तल्लीन नहीं हो जातीं। गोपियां इधर उधर रुदन करती हुई भटक रही हैं। भगवान् श्रीकृष्ण की विरहाग्नि से सन्तप्त हो रही हैं। हथनियों के झुण्ड जैसे अपने पति गजराज से वियुक्त हो कर व्याकुल हो उठते हैं, ठीक वैसे ही गोपियां भी सुध-बुध खो कर 'हे कृष्ण! हे कृष्ण!' की रट लगाती हुई घूम रही हैं। आकाश के समान सर्वत्र व्यापक प्रभु को वृक्षों से पूछ रही हैं। जिस प्रकार आकाश संसार के कण कण में व्याप्त है, वैसे ही प्रभु की सत्ता भी सर्वत्र समाई हुई है। हम नहीं कह सकते कि आकाश कहीं नहीं है। यही बात प्रभु के विषय में भी है। सर्वान्तर्यामी, सर्व-व्यापक प्रभु के विषय में गोपियां कभी वट वृक्ष से पूछती हैं तो कभी पीपल के वृक्ष से। कभी तुलसी से पूछ रही हैं—प्यारी बहिन! तू तो बतला दे कि प्रभु कृष्ण कहां गये हैं? तेरे तो प्रभु अतिस्नेही हैं। तू तो हमारी सजातीया बहिन है। क्या तू नहीं बतलायगी? तुलसी

बेचारी क्या बताये। तुलसी से कोई उत्तर न पा कर गोपियाँ बेचारी कभी इधर दौड़ती हैं, कभी उधर। आँखों से आँसुओं की अविरल धारायें बह रहीं हैं। आँसू क्या बह रहे हैं, प्रतीत होता है कि विरहाग्नि से पिघल-पिघल कर गोपियों के पाप बाहर निकल रहे हैं। श्रीकृष्ण-विरह से व्याकुल गोपियों की दृष्टि जब हरी-हरी दूब पर पड़ी, तो विरह में पागल हुई गोपियां अनुमान करती हैं कि यह हरी-हरी दूब नहीं है, अपितु पृथ्वी प्रभु श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श से रोमाञ्चित हो रही है। गोपियां समझती हैं कि सम्भव है श्रीकृष्ण भगवान् यहां से अभी अभी गये होंगे—अतः यह पृथ्वी पुलकित-कलेवरा हो रही है। पृथ्वी से पूछती हैं—

किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकितांगरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद् वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥

(भा० १०,३०,१०)

पृथ्वी देवि! आप ने कौनसी तपस्या की है कि श्रीकृष्ण के चरण–कमलों का स्पर्श प्राप्त कर आनन्दित हो रही हो और तृण-लता आदि के रूप में अपना रोमाञ्च प्रकट कर रही हो। आपका यह उल्लास श्रीकृष्ण के चरण-स्पर्श के कारण है अथवा वामन अवतार में जो नापा था—उससे। अथवा वराह भगवान् के अङ्ग-सङ्ग से तुम्हारी यह अवस्था हो रही है। हे पृथ्वी सहचरि! तू ही कृपा कर बता कि प्रभु कृष्ण कहां गये? क्योंकि तुम पुलकित-शरीरा हो रही है। सम्भव है, प्रभु कृष्ण ने अभी तेरा स्पर्श किया है। तू ने ऐसा कौनसा तप किया है जिससे तुझे प्रभु कृष्ण के चरण कमलों के स्पर्श का सौभाग्य मिल गया। हे सहचरि! सच बता! क्या सचमुच ही प्रभु कृष्ण के स्पर्श से रोमाञ्चित हो रही हो? जब वामनावतार में विष्णु भगवान् ने अढ़ाई कदम भर कर तेरा स्पर्श किया था, तभी से तू आनन्द से पुलकित-शरीरा हो रही है? अथवा वराह अवतार में तेरे अङ्ग से प्रभु का स्पर्श हुआ था, तभी से तू पुलकित-गात्रा हो रही है? तू हमें निश्चय कर बता दे।

कहने का सारांश यह कि गोपियों की प्रभु दर्शन के विना अत्यन्त चिन्तनीय अवस्था हो रही है। ठीक यही अवस्था अन्य प्रभु-भक्तों की होती है। जब प्रभु-भक्तों को प्रभु के दर्शन नहीं होते तो वे व्याकुल हो उठते हैं।

उनकी आंखों से अश्रुओं की धारायें बहने लगती हैं तथा वे सुध-बुध खो बैठते हैं।

किसी ने कहा है—

जिस पर तुम हो रीझते क्या देते यदुवीर।
रोना धोना सिसकना आहों की जागीर॥

भक्त पर रीझ कर प्रभु उसे धन-दौलत दे कर प्रवृत्ति-मार्ग में नहीं डालते। प्रभु तो प्रसन्न हो कर भक्त को ऐसा विरह प्रदान करते हैं कि वह प्रभु की याद में रो रो कर अपने सभी पापों को बाहर निकाल देता है। मलिन हृदयों के जन्म-जन्मान्तर के पाप-पुञ्ज पिघल जाते हैं। विरहाग्नि की धधकती हुई ज्वालायें पापों को पानी बना कर आंसुओं के रूप में बाहर निकाल देती हैं। सुवर्ण-कार सुवर्णको प्रदीप्त अग्नि में डालकर उसे खूब तपाता है; क्या आप सोचेंगे कि वह सुवर्ण को जला रहा है? नहीं, सुनार तो सोने को निर्मल और कीमती बना रहा है। जैसे जैसे अग्नि का ताप सुवर्ण को तपायगा, वैसे वैसे सोना चमकता जायगा। अन्त में सुवर्ण शुद्ध हो कर कुन्दन बन जाता है, चमक उठता है। प्रत्येक ग्राहक का चित्त उसे खरीदने को करता है, क्योंकि उसके अन्दर जो मलिनता थी, वह सब अग्नि ने बाहर निकाल दी।

इसी प्रकार भक्त जब प्रभु के दर्शनों के विना व्याकुल हो उठता है, उस समय उसे यह पता नहीं रहता कि मैं कहां हूं, क्या कर रहा हूं। प्रभु के विरह में न उसे भूख का ज्ञान रहता है न प्यास का। विरहाग्नि भक्त को व्याकुल बना देती है। उसकी आँखों से अविरल अश्रु-धारा बहती है। इन सब का परिणाम यह होता है कि जैसे सोने की सारी मलिनता को अग्नि बाहर निकाल फैंकती है, उसी प्रकार प्रभु के विरह की अग्नि भी भक्त के सभी पापों को क्षीण कर उसे निर्मल बना देती है। जब भक्त का हृदय पाप-पुञ्जों से खाली हो जाता है, पूर्ण निर्मल तथा स्वच्छ हो जाता है, तब बाँके बिहारी अपना सिंहासन वहीं जमा लेते हैं। तब प्रभु के दर्शन शीघ्र ही हो जाते हैं।

यहां गोपियां भी व्याकुल हो कर उन्मत्त सी हो रही हैं। उन्हें कुछ पता न रहा कि वे कहां हैं और क्या कर रही हैं। उनकी तन्मयता इतनी बढ़ी कि वे अपने आपको भगवान् श्रीकृष्ण ही समझने लगीं—

इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥

(भा० १०, ३०, १४)

भगवान् श्रीकृष्ण को ढूंढती-ढूंढती मतवाली गोपियां प्रलाप करती हुई कातर हो रही थीं। तन्मयता से भगवन्मय हो कर गोपियां भगवान् की लीलाओं का अभिनय करने लगीं। अपने आपको भगवान् श्रीकृष्ण समझ उनकी बाल-लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। जो लीलायें भगवान् श्रीकृष्ण ने बाल्यकाल में की थीं, गोपियां भगवान् का स्वरूप बना कर उन सभी लीलाओं को करने लगीं।

एक गोपी पूतना बन गई, दूसरी श्रीकृष्ण बन कर उसका स्तन-पान करने लगी। इस प्रकार उन दोनों गोपियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की पूतना-बध-लीला का अभिनय किया। एक गोपी ने दूसरी गोपी पर पाँव रख कर शकट-भञ्जन लीला की। एक गोपी हाथ पर सफेद वस्त्र धारण कर गोवर्धन-लीला दिखाने लगी। एक गोपी ने दूसरी गोपी के सिर पर पाँव रख लिया और कालिय नाग के नथने की लीला का अभिनय करने लगी। वह गोपी बहुत ही ओजस्वी शब्दों में कहती है—रे दुष्ट कालिय! तू ने अनेक निर्बल जीवों पर अत्याचार किया है। आज मैं तुम्हें यम-धाम पहुंचाता हूं। आज तू अपने कृत्य का फलास्वादन कर। दूसरी ओर एक गोपी ने उलूखल-क्रीड़ा का अभिनय करने के लिये अपनी सखी को रस्सी से बान्ध दिया।

जब गोपियां इस प्रकार भगवल्लीलाओं का अभिनय कर रहीं थी, तो उन्हें भगवान् के पद-चिह्न दिखाई दिये; क्योंकि तन्मयता का यही फल होता है। जब योग की तीन अवस्थाओं (धारणा, ध्यान, समाधि) में भक्त पहुंच जाता है, तो प्रभु-दर्शन होने में देरी नहीं होती। भक्त जब पहले पहल अपने इष्ट देव में चित्त लगाता है तो उस अवस्था को 'धारणा' कहते हैं। जब भक्त अपने हृदय में भगवान् के एक स्वरूप के लगातार दर्शन करता है तो उसे 'ध्यान' कहते हैं। धारणा अवस्था में हृदय में प्रभु की मूर्ति की स्थिरता अत्यन्त अल्प-कालीन होती है, तथा मूर्ति के आकारों में भेद होता रहता है। ध्यान अवस्था में मूर्ति का एक ही आकार होता है। उसका निवास हृदय में पर्याप्त

स्थिर होता है। धारणा तथा ध्यान इन दोनों अवस्थाओं में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय, ये तीनों भिन्न भिन्न होते हैं। इनका अभेद नहीं होता। ध्यान अवस्था की अतिपरिपक्वावस्था ही 'समाधि' कहलाती है। इस अवस्था में ध्याता, ध्यान तथा ध्येय एक रूप में परिणत हो जाते हैं। भेद की दीवारें गिर जाती है। त्रिपुटी का लय हो जाता है। यह है तन्मयता की अवस्था। इस अवस्था में भक्त भगवन्मय हो जाता है। जब तक भक्त तन्मय नहीं होता तब तक भगवान् के दर्शन नहीं होते।

जब तक गोपियां अपने आपको कृष्ण-स्वरूप न समझने लगीं, तब तक उन्हें प्रभु के पद-चिन्ह दिखाई न दिये। जब भगवान् में तन्मय हो प्रभु की बाल-लीलायें करने लगीं तो उन्हें भगवान् के पद-चिन्ह दिखाई दिये। इसके अनन्तर सभी गोपियां यमुना के तट पर एकत्रित हो कर प्रभु के गीत गाने लगीं, उन्होंने भगवान् को ढूँढना छोड़ दिया। इससे यह स्पष्ट होता है कि जब भक्त को भगवान् के दर्शनों की किञ्चित् झलक प्रतीत होती है, तब भक्त एकान्त स्थान में भगवान् की प्रार्थना में लग जाता है। भक्ति-राज्य में उन्नति कर लेता है।

राजस प्रेम-राज्य की सीमा अत्यन्त विस्तृत है। सम्भव है, आप ने मजनूं और राजकुमारी लैला के प्रेम की कहानी सुनी होगी। मजनूं देहली में रहता था और राजकुमारी लैला लाहौर में निवास करती थी। लाहौर के कुछ व्यापारी ऊँट ले कर देहली कुछ माल लेने आये। उस समय रेलगाड़ी तथा मोटरें न थीं—अतः माल ऊँटों पर ही लाया तथा ले जाया जाता था। जब मजनूं को पता चला कि मेरी प्यारी लैला की नगरी के व्यापारी आये हुये हैं तो वह दौड़ता हुआ उनके पास पहुँचा। मजनूं कभी उन व्यापारियों के पाँव पड़ता तो कभी ऊँटों से प्यार करता। "ओह प्यारी लैला!" "मेरी प्यारी लैला" इस प्रकार वह रट लगाने लगा। सौदागरों ने पहले उसे पागल समझा। मजनूं ने व्यापारियों को लैला के लिए सन्देश सुनाना प्रारम्भ किया। व्यापारी उस पावन-प्यार के सन्देश को श्रवण करने लगे, तथा उसी अवस्था में लाहौर को चल पड़े। मजनूं लैला के लिये सन्देश सुना रहा है और ऊँट वाले व्यापारी उस सन्देश को श्रवण कर रहे हैं। सभी उस सन्देश में इतने तल्लीन हुये कि उन्हें पता ही न चला कि लाहौर पहुँच

गये। मजनूं को देहली वापिस जाने का ध्यान ही न रहा और सन्देश देते देते लाहौर पहुँच गया। यह था प्रेम में तन्मयता का प्रभाव।

अब आप समझ सकते हैं कि जब राजस प्रेमी की यह अवस्था होती है, तो प्रभु-प्रेम में तल्लीन भक्त की तो न मालूम क्या अवस्था होती होगी? प्रभु-भक्त अपनी तन्मयता से निराकार सर्व-व्यापक प्रभु को साकार बना लेता है, असीम को सीमा में बान्ध लेता है—जैसे गोपियों ने किया। गोपियाँ तन्मय हो प्रभु जैसी चेष्टायें कर रही हैं। कालिन्दी के तट पर एकत्रित हो प्रभु ही के गुणों का गायन कर रही हैं—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥

(भा. १०, ३१, १)

प्यारे! व्रज की महिमा आप के जन्म से वैकुण्ठ आदि लोकों से भी बढ़ गई है। लक्ष्मी देवी ने अपना निवासस्थान व्रज को निरन्तर रूप से बना रखा है। प्रिय! देखो! आपकी गोपियां जिन्होंने आपके चरणों में अपने प्राण समर्पित कर रखे हैं, आपको वन वनमें भटक कर खोज रही हैं।

इस प्रकार प्रभु की स्तुति करती हैं। हे नन्द-नन्दन! सुनो, आप जब से आये हैं, तभी से यह व्रज श्री को धारण किये है। जो व्रज जङ्गल ही जङ्गल था, वह आप के यहां आने से चारों ओर से मंगल ही मङ्गल हो गया। जिस व्रज में अत्याचारियों के अत्याचार से वेद-ध्वनि लुप्त हो गई थी, वहां आज घर घर में वेद-ध्वनि सुनाई दे रही है। प्रभो! आपके नाम की जय-जयकार कोने कोने में सुनाई देती है। इस समय व्रज की शोभा दिन दुगुणी और रात चौगुणी बढ़ रही है। प्रभो! ऐसा हो भी क्यों न? यह नियम है कि जहां पति जाता है वहीं पत्नी को भी जाना पड़ता है। जब से आप वैकुण्ठ से यहां पधारे हैं, तभी से आप की पत्नी लक्ष्मी भी यहां पधारी हुई है। जहां लक्ष्मी का निवास होता है वहां तो शोभा ही शोभा होती है। वहां तो नये नये गगन-चुम्बी बङ्गले और मनोहर बगीचे ही दिखाई देते हैं।

आपको पता होगा कि पहले इस अहमदाबाद की क्या दशा थी। चारों ओर रेत ही रेत उड़ा करती थी। परन्तु जब थोड़े से कारखानों के

कारण लक्ष्मी देवी ने यहां पांव रखा, तो अब चारो ओर बङ्गले ही बङ्गले दिखाई देते हैं। बम्बई जो सौ वर्ष पहले एक छोटा सा गाँव था, अब उसकी शोभा स्वर्ग-तुल्य हो गई है। यदि कोई नूतन मनुष्य बम्बई को देख ले तो संसार को सत्य ही मान ले।

अस्तु, गोपियां व्रज की शोभा को सामने रख कर कृष्ण-स्तुति कर रही हैं। और कहती हैं कि हे प्रभो! हम आपकी भक्ता हैं, आप यदि हमें दर्शन नहीं देंगे, तो इसमें हमारी हानि नहीं है। इसमें तो आपकी ही हँसी है। क्योंकि प्रभु के भक्त का भार प्रभु पर पड़ता है। अब तो आप दयालु कहलाते हैं। यदि हम आपके दर्शनों बिना मर गई तो आप हमारे हत्यारे कहलायेंगे। अतः हे प्रभो! रक्ष! रक्ष!

यह तो आप को गोपियों की सगुण उपासना बतलाई, कल आपको उनकी निर्गुण उपासना बतायेंगे।

२३

संसार कल्पना-मात्र क्यों ?

(३-९-१९३८)

गोपियां प्रभु से प्रार्थना करती हैं कि भगवन्! जैसे शरद् ऋतु में जल स्वच्छ और निर्मल हो जाता है उसी प्रकार हम भी आप की शरण में आने से शुद्ध-अन्तःकरण हो गई हैं। कमल की शोभा को तिरस्कृत करने वाले आपके नेत्र-कटाक्ष ने हमारे मन को हर लिया है। हे सुरतनाथ! (प्राणेश्वर) आपके कमल-नयनों ने हमारे पर वशीकरण मंत्र की भांति प्रभाव डाल दिया है। आपने एक बार दर्शन देकर हमारे प्राण ही हर लिए हैं। प्रभो! प्राण-हरण, किसी शस्त्र के द्वारा मनुष्य की हत्या का ही नाम नहीं है, अपितु मन का हर ले जाना ही प्राण-हरण कहलाता है। आपने अन्तर्धान होकर हमारे जीवन को ही हर लिया है। हम सब कर्तव्य-अकर्तव्य भूल चुकी हैं। हम आपकी निष्काम दासिकाएं हैं, अतः हमें दर्शन देकर कृतार्थ करें।

इस प्रकार गोपियों द्वारा सगुण प्रभु की उपासना की जा रही है। क्योंकि यहां साकार प्रभु के सौन्दर्य की प्रशंसा हो रही है। साधक, सर्व-प्रथम भक्ति-राज्य में उन्नति पाने के लिए प्रभु के अंग-प्रत्यंगो की प्रशंसा किया करता है। सगुण उपासना द्वारा ही निर्गुण परब्रह्म-स्वरूप की सत्ता का ज्ञान हो सकता है। ब्रह्म-तत्त्व को जानने का प्रथम सोपान सगुण प्रभु-उपासना ही है। नाम तथा रूप को लेकर ही सब कल्पनाएं की जाती हैं। क्योंकि यह संसार नाम-रूपात्मक ही है। संसार में सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप ये पांच पदार्थ हैं। सत्, चित् एवं आनन्द तो केवल ब्रह्म में ही पूर्ण-रूपेण संगत हैं। ब्रह्म में कोई बन्धन नहीं। वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्विकार और मायातीत है। परन्तु नाम और रूप माया के कार्य हैं। उनकी कल्पना की जाती है। कल्पना द्वारा ही हम अनेक नाम-रूपों से सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। यदि नाम और रूप

न हों तो संसार का अस्तित्व ही न रहे। थोड़ा विचार कीजिए :-प्रेमी का नाम लेने से अथवा नाम-स्मरण करने से हमारी मुखाकृति बदल जाती है। चाहे हम अपने प्रेम-पात्र से कोसों दूर हों। दूरस्थ होने पर भी किसी पथिक द्वारा हम अपने प्रेमी का नाम व रूप बतलाकर पता लगा सकते हैं। कुशल-समाचार पूछ सकते हैं। कभी अचानक ही किसी के द्वारा अपने प्रेमी का नाम सुनकर अधिक जानने की इच्छा से व्याकुल हो उठते हैं। चाहे हमारा नगर हो या छोटासा गाँव, ज़िला हो अथवा प्रान्त, इन सभी के नाम सुनकर हमारी जिज्ञासा बढ़ती ही जाती है। और हम विना संकोच और झिझक के कह उठते हैं कि क्या आप भी वहीं के निवासी हैं? यदि किसी प्रेमी से सम्बन्ध ही बता दिया तो बहुत आतुर होकर यह कहते हैं :-अच्छा क्या आप उन्हें भी जानते हैं ? तब तो आप हमारे घर के ही निकल आये। कहने का भाव यह है कि यह सब नाम की ही महिमा है।

नाम की भांति रूप ने भी प्राणियों के अन्दर बड़ी हलचल मचा रखी है। जहां भी रूप की झलक पड़ती है तो झट यह प्राणी उतावला हो जाता है और उस रूप को अपनाने का प्रयत्न करता है। पर आज वर्तमान काल की दशा को देखकर कहना पड़ता है कि यह रूप ही कलन्दर बनकर बन्दर की भांति हमें मनमाना नाच नचा रहा है। हम उस आपात-रमणीय रूप के लिए अपने तन मन और धन की आहुति विना विचारे ही दे डालते हैं।

वास्तव में यदि विचार किया जावे तो नाम-रूप माया के हैं। ये सब कल्पित तथा क्षण-भंगुर पदार्थ हैं। अतः यह निश्चित है कि क्षण-भंगुर पदार्थों में मन लगाना स्वयं दुःखों का आवाहन करना है। फिर भी संसार की प्रवृत्ति रूप की ओर उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। जिससे मनुष्य का जीवन अधोगति को ही प्राप्त होता जा रहा है। हमारे ऋषियों ने तो पहले ही इस बात की खोज निकाल रखी थी कि यदि संसार नाम-रूपात्मक ही है तो क्यों न नाम-रूप द्वारा ही संसार से जीव को मुक्त कराया जावे। अत एव निर्विकार तथा निराकार ब्रह्म में पांच प्रकार की नाम-रूप से कल्पना कर ली। जैसे गणपति, पार्वती, सूर्य, शंकर और विष्णु पाँच देवता मान लिये गये। उपासक के स्वभावानुसार ही तत्तत् देवता की उपासना का विधान किया गया। इस रहस्य से अनभिज्ञ जन तो बहुत सी शंकाएं भी किया करते हैं कि हिन्दू-जाति अनेक देवताओं की पुजारी

होती हुई कैसे संगठित रह सकती है ? परन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि सनातन धर्म का कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं जो निर्बल और निःसार हो। इस विषय का विस्तार अन्य किसी व्याख्यान में किया जायगा।

एक शुद्ध-ब्रह्म में पांच प्रकार के नाम-रूप की कल्पना करके सगुण ब्रह्म की उपासना करना बताया गया है। इसीको मंत्र-योग कहते हैं। यह समस्त संसार नाम-रूप से बना है। अतः उसके लिए आवश्यक है कि लौकिक नाम-रूपों से मन हटाकर दिव्य नाम-रूपों द्वारा अपने आपको ब्रह्म-केन्द्र में पहुंचाया जावे। जैसे आप चलते चलते पृथिवी पर गिर पड़ते हैं तो उस समय आप आकाश का सहारा लेकर नहीं उठ सकते। क्योंकि आकाश रूप से रहित है। उस समय आप पृथिवी अथवा पार्थिव वस्तुओं की सहायता से ही उठ सकेंगे। इसी प्रकार नाम-रूप के द्वारा ही हम संसार-बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। नाम-रूपात्मक सगुण-ब्रह्म की उपासना ही हमारे कल्याण का एक-मात्र साधन है। इस सगुण ब्रह्म की सत्ता सर्वत्र समाई हुई है। इससे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य से, जल-तरंग जल से, घटाकाश और मठाकाश महाकाश से भिन्न नहीं होता, इसी प्रकार संसार के नाम-रूप भी सगुण-ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। सच्चिदानन्द ब्रह्म का सद्भाव सर्वत्र समाया हुआ है। चाहे हम अन्धकार में हों अथवा एकान्त में, उस समय यदि कोई हमसे पूछे कि क्या आप हैं ? तो हम झटसे कह देते हैं कि "अहमस्मि" मैं हूँ। ठीक इसी प्रकार चैतन्य-सत्ता भी सर्वत्र विद्यमान है और आनन्द भी। परन्तु उस आन्तरिक आनन्द को नाम-रूप के मोह द्वारा खो बैठे हैं। अविद्या का मलिन परदा हमारी आनन्दानुभूति में बाधक हो रहा है। यदि आनन्द को प्रकट करने का कोई उपाय है तो वह है दिव्य-नामावलि का सतत-स्मरण तथा दिव्य-रूप का निरन्तर ध्यान। यदि आप सोपान द्वारा मन्दिर पर चढ़ोगे तो सोपान द्वारा ही उतरना होगा। आप सीधे उछलकर नहीं उतर सकते। इसी प्रकार हम संसार में नाम-रूप द्वारा ही फँसे हैं और नाम-रूपावलम्बन से ही संसार से मुक्त होकर पुनः ब्रह्म-पद को प्राप्त कर सकते हैं।

इसी नाम-रूपात्मक सगुण ब्रह्म की स्तुति गोपियां कर रही हैं। गोपियां पहले लौकिक पति–पुत्रों के नाम-रूपादि में आसक्त थीं। पर अब वे मुरली-मनोहर के दिव्य नाम रूप के गुण-गान में लगी हुई हैं। कभी प्रभु की आखों

का वर्णन करती हैं तो कभी दिव्य मूर्ति का। क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति करने का मुख्य उपाय है सगुण ब्रह्म के अंगों का सौन्दर्य-वर्णन। सगुण उपासना से जब साधक ध्यान-राज्य में लीन हो जाता है तब प्रभु साकार रूप में अविलम्ब ही प्रकट हो जाते हैं। गोपियां जब तक सगुण ब्रह्म की उपासना में संलग्न थीं तब तक तो साकार प्रभु का दर्शन करती रहीं, जब भक्ति और ज्ञान एक आधार में स्थित हो गये, ब्रह्म-प्रयागस्थली में भक्ति-यमुना और ज्ञान-गंगा का सम्मेलन हो गया, तब उन्हें घट-घट में व्यापक ब्रह्म ही दृष्टि-गोचर होने लगा और वे एक स्वर में पुकार उठीं—

"न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्"।

आप यशोदा–गोपिका के पुत्र नहीं हैं। हम सब भूल में थीं। इसलिए आपको यशोदा-नन्दन ही समझ रही थीं। अब ध्यान-राज्य में पहुंचने से पता लगा कि आप तो सब के हृदयों में विराजमान सब के साथी और सर्वान्तर्यामी हैं। आपसे कोई रहस्य छिपा हुआ नहीं है।

यहां प्रभु कृष्ण ने शंका की कि हे गोपिकाओ! यदि मैं सर्व-व्यापक होता तो मुझे गोपाल बनने की क्या आवश्यकता थी? क्यों मैं गोपाल-विग्रह धारण करता? तब गोपियां कहती हैं कि हे प्रभो! अब आप हमारे से अपना कोई भी रहस्य छिपा नहीं सकते, क्योंकि जो पूर्ण प्रेमी है उससे अपने आन्तरिक भाव छिपे नहीं रहते। उसके सब रहस्य खुल जाते हैं। जैसे कोई घनिष्ठ सम्बन्धी अथवा अन्तरंग मित्र हमारे घर की गोपनीय बातों को जान लेता है। उससे कोई भी बात छिपी नहीं रह सकती। वैसे ही गोपिकाओं ने भगवान् के रहस्य को भली-भांति जान लिया है। वे कहती हैं कि भगवन्! हमें वे सब बातें स्मरण हैं कि जब दुष्टों से सन्तप्त विश्व की रक्षार्थ ब्रह्मा ने आपसे प्रार्थना की थी। और आपने उस समय कहा था कि मैं यादव-कुल में जन्म लेकर संसार की रक्षा करूंगा। इसी बात को स्मरण दिलाने के लिये कहती हैं कि :—

"विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले"।

इसी भाव के पोषक रहीम कवि के कितने सुन्दर शब्द हैं :—

यह रहीम तन मन दियो कियो हीय में भौन।
तांसे दुःख सुख कहन की रही बात अब कौन ॥

जब भक्त प्रभु को तन मन समर्पण कर देता है, उस समय प्रभु उसके हृदय में ही अपना आसन जमा लेते हैं। तब दुःख सुख की बात छिपी नहीं रह सकती। अपने आप ही प्रकट हो जाती है। दैनिक जीवन में भी हम अनुभव करते ही रहते हैं कि यदि कोई सरकारी अधिकारी स्थानाभाव के कारण हमारे घर में आकर अस्थायी रूप से निवास कर ले और उस समय हमारे पर कोई संकट आ पड़े तो क्या हम उससे उस संकटावस्था को छिपा सकेंगे, यह कभी संभव नहीं। और ऐसा कोई अधिकारी भी निपट हृदय-हीन नहीं होगा जो हमें संकटापन्न देख कर यथा-संभव हमारी सहायता न करे।

आप को रहने के लिए स्थान मिल सकता है। आप विदेश में भी किराया देकर रह सकते हैं। परन्तु प्रभु के लिए रहने का स्थान कहीं भी नहीं मिलता। क्योंकि सच्चा और निष्काम हृदय तो कहीं मिलना अत्यन्त कठिन है, अतः भगवान् निवास करें तो कहां? आप लोग विना किराये के किसीके मकानमें एक दो दिन रह सकते हैं। अधिक से अधिक मित्र-भाव से एक दो वर्ष रह लेंगे। पर सदा के लिए विना किराया दिये नहीं रह सकते। प्रभु विना किराए का मकान ढूंढते हैं, जो मिलना कठिन है। यदि किराया देकर रहें भी तो भक्त लोग अधिक से अधिक किराये की मांग भगवान् के समक्ष प्रस्तुत करेंगे। कोई पुत्र मांगेगा तो कोई धन की इच्छा प्रकट करेगा। इस किराये के भय से प्रभु छिपे ही रहते हैं। कहीं पर अपना भवन बना नहीं पाते। भगवान् सोचते हैं कि यदि मैंने किराये के लोभी (सकाम-हृदय) मालिक-मकान के भवन को अपना निवास-स्थान बना लिया तो पड़ोसी भी चैन से नहीं बैठने देंगे। यदि आज कृषकों को भगवान् कहीं मिल जाए तो प्रभुका पीट पीट हुलिया ही बिगाड़ दें और झट किराया के रूप में मांग पेश करें कि वर्षा बर-साओ। अतः प्रभु प्रकट होते ही नहीं, क्योंकि निष्काम तथा निःस्वार्थ हृदय-रूपी भवन प्रभु को मिलता नहीं। बहुत खोज करने के पश्चात् गोपिकाओं का निष्काम, स्वच्छ हृदय-भवन निवासार्थ मिल गया। ऐसे दुर्लभ, सुन्दर और विना किराये के भवन को त्याग कर भगवान् अन्यत्र जाएं तो कहां? अतः गोपियों से प्रभु

की कोई लीला छिपी हुई नहीं है। गोपियों ने निष्काम तथा शुद्धान्तःकरण द्वारा तथा ध्यान की पराकाष्ठा से सगुण प्रभु को साकार कर लिया। परन्तु ज्ञान की अभी अपूर्णता है। ज्ञान तब तक नहीं होता जब तक ब्रह्म-जिज्ञासा न की जाए। अर्थात् मैं क्या हूं? कहां से आया हूं? मेरा स्वरूप क्या है? इस प्रकार गुरुदेव के समक्ष तत्त्व-जिज्ञासा करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इसी विषय का स्पष्टीकरण करते हुये भगवान् अर्जुन से कहते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ (अ. ४ श्लो. २४)

हे अर्जुन! यदि ज्ञान-प्राप्ति का कोई साधन है तो यह है कि ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर श्रद्धा-पूर्वक चरणों में दंडवत् प्रणाम करें, निष्काम सेवा करें और सरल भाव से प्रश्न करें। तब प्रत्यगात्म-तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे तत्त्व-ज्ञान का उपदेश करेंगे।

२४

मानव का परम लक्ष्य—आत्मोद्धार

(४-९-१९३८)

सज्जनो! गीता में बतलाया गया है कि जिज्ञासु प्रथम ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के चरणों में साष्टांग प्रणाम करे, निःस्वार्थ भाव से सेवा करे। जब गुरुदेव सेवा से प्रसन्न हो जायें तो उसके पश्चात् जिज्ञासा प्रकट करे अर्थात् मेरा स्वरूप क्या है? मुझमें और ईश्वर में क्या भेद है? ब्रह्म का क्या स्वरूप है? इत्यादि आध्यात्मिक विषयका प्रश्न करे। इस प्रकार जब शिष्य ब्रह्म-तत्त्व को जान लेता है तब उसके पापों के क्षय होने में देर नहीं लगती। अत एव कहा भी है—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः।

'ब्रह्म-तत्त्व जान लेने से सब बन्धन निवृत्त हो जाते हैं'। सब बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करना ही इस मनुष्य-देह का परम लक्ष्य है। यदि इस सर्वोत्तम योनि में ब्रह्म-तत्त्व नहीं जाना तो समझो पुनः चौरासी लक्ष योनियों के चक्र में फँसना पड़ेगा। श्रुति भगवती इसी वास्ते कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

'इस जन्म में परमात्मा को जान लिया तो ठीक है और यदि उसे इस जन्म में नहीं जाना तो बड़ी हानि होगी।' क्योंकि मनुष्य-देह बहुत ही दुर्लभ है। यह मानव-देह पुण्य-बल से और विशेष कर भगवान् की कृपा से ही प्राप्त होती है। इसके मिलने का प्रयोजन भी केवल यही है कि ईश्वर-प्राप्ति कर सके। इस मनुष्य-जन्म को पाकर जो ईश्वर-प्राप्ति का साधन करता

है, उसका जन्म तो सफल है और जो इसमें भोग-सुख खोजता है वह असली लक्ष्य से वंचित रह जाता है। क्योंकि यह संसार सर्वथा दुःखमय है। इसमें कहीं भी सुख का लेश नहीं है। जिन विषयोपभोगों को मनुष्य सुख-स्वरूप समझता है वे बार बार जन्म-मृत्यु के चक्कर में डालने वाले होने के कारण वस्तुतः दुःख-रूप ही होते हैं। अत एव इसको सुखरूप न समझ कर और उसमें आसक्त न होकर जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिए मिला है उस उद्देश्य को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त कर लेना चाहिये। क्योंकि यह शरीर क्षण-भंगुर है। पता नहीं कब इसका नाश हो जाय। इसलिए समय पर ही सावधान हो जाना चाहिए। यदि सदा असावधान ही रहे तो एक भयंकर किले में गये हुए मनुष्य की भांति आपकी हालत हो जायगी।

जैसे कोई नेत्र-हीन मनुष्य किसी किले में चला जाए, जिससे बहिर्गमन के लिए एक ही द्वार है। जिसमें एक बार प्रवेश करने पर अनभिज्ञ पुरुष निकल नहीं सकता। उसमें अनेक हिंस्र जन्तु हैं और जहरीले सांप हैं। पिशाची और राक्षसी मुख खोले खाने को दौड़ती हैं। इनसे बचने के लिये मनुष्य बहुत यत्न करता है। बाहर निकलने के लिए बड़ा द्वार ढूंढता है, पर सफल नहीं हो सकता। इतने में कोई दयालु पुरुष कहता है कि इस दीवार के सहारे हाथ से स्पर्श करते बढ़े चलो, आगे दरवाज़ा मिलेगा, उस से बाहर निकल जाना। ज्योंही वह अन्धा पुरुष द्वार के समीप आता है तो उसके सिरमें खुजली आरम्भ हो जाती है। अतः जब खुजलाने लगता है तो उसी समय दरवाजे को पार कर जाता है। फिर उसी चक्कर में फँस जाता है। बाहर निकलने का द्वार मिलता ही नहीं। इस दृष्टान्त को आप यूँ समझ सकते हैं कि यह चौरासी का चक्कर ही एक प्रकार का किला है। इसका बड़ा द्वार मनुष्य-योनि है। काम-क्रोध-लोभादि हिंस्र-जन्तु हैं। अहंकार एक प्रकार का सर्प है। वृद्धावस्था ही एक प्रकार की राक्षसी है, जो सर्वदा मुख खोले खाने को तत्पर रहती है। न मालूम कब हड़प कर जाय। गुरुदेव-कृपा से इस मनुष्य-रूपी दरवाज़े से निकलने का रास्ता मिलता है। परन्तु हम जब विषय-भोग-रूपी खुजली को शान्त करने लगते हैं तो यह मनुष्य-योनि-रूपी दरवाज़ा खो बैठते हैं और फिर पहले की भांति इस भयावह चौरासी के किले के अन्दर चक्कर काटते रहते हैं। हमें आवागमन के चक्कर से निकलने

का सुअवसर तो मिला था, परन्तु हमने उससे लाभ न उठाया। नदी का स्वभाव है कि वह पानी में कूदे हुए मनुष्य को एक बार ऊपर अवश्य लाती है और उसे तैरकर बाहर निकलने का अवसर देती है। यदि उसने ऊपर आकर हाथ-पांव मारकर तैरने का प्रयत्न नहीं किया तो वह फिर कभी निकल न सकेगा, यदि निकलेगा भी तो निर्जीव होकर। इसी प्रकार प्रकृति देवी जीवात्मा पर कृपा कर उसे मनुष्य-देह में भेजती है, जिसमें आकर वह संसार-सागर से पार हो सकता है। इस सर्वोत्तम योनि के विषय में कहा भी है—

"इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपतेः।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः" ॥

परमात्मा द्वारा दी हुई मनुष्य-योनि सब से उत्तम है। शुभ कर्मों द्वारा इसी योनि में आत्मा का उद्धार संभव है। यदि इस समय अपना उद्धार नहीं किया तो फिर वही पहली उद्भिज्ज स्थावर योनि में गिरना पड़ेगा, जो जड़ और अचेतन है। तत्पश्चात् स्वेदज कीड़ों की योनि में, कीड़ों के बाद जल-जन्तुकी सर्पादि योनि में, सर्प के बाद अंडज पक्षी योनि में आकर आकाश में चक्कर काटते फिरोगे। तदनन्तर जरायुज—गधा, ऊँट, घोड़ा, हाथी, गाय की योनि प्राप्त होगी और अन्तमें वानरादि की योनि भुक्त कर, चौरासी के चक्करके बाद मनुष्य योनि की प्राप्ति हो सकेगी। इस चौरासी लक्ष योनि का विभाग शास्त्रों में इस प्रकार किया गया है:—

स्थावरे लक्षविंशत्यो कृमिजं नवलक्षकम्।
जलजं रुद्रलक्षञ्च अण्डजं दशलक्षकम् ॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशत् चतुर्लक्षञ्च वानरे।
ततो मनुष्यताप्राप्तिस्ततः कर्माणि साधयेत् ॥

बीस लाख वृक्षादि, नौ लाख कीट-पतंगादि, ग्यारह लाख जल-जन्तु आदि, दश-लाख योनि पक्षियों की, तीस लाख पशुओं की और चार लाख योनि वानरादि की भोगकर तत्पश्चात् मनुष्य—योनि मिलती है, जिसमें जीवात्मा अपने उद्धार का प्रयत्न कर सकता है। अतः यह सर्वोत्तम योनि मानी गई है। इसीमें ईश्वर-

का एक सूखा वृक्ष दिखाते हुए मंत्री से कहा कि यही शेष है। मंत्री ने उसका मूल्य देना चाहा तो किसान ने लेने से इन्कार कर दिया और कहा कि इसके मैं दाम क्या लूंगा। ऐसे तो न मालूम कितने वृक्षों के कोयले बना कर बेच दिये। फिर भी मंत्री ने उस वृक्ष के लिए एक लाख रुपये किसान को दे ही दिये। यह देख किसान को बहुत पश्चात्ताप हुआ कि ओहो! चन्दन तो बहुत कीमती वस्तु है। तब चन्दन की बाकी बची हुई लकड़ियों से उसने पर्याप्त धन प्राप्त किया।

इसी प्रकार राजा-रूपी प्रभु प्रेम का प्यासा है। भक्त एक प्रकार का किसान है। मनुष्य-जीवन बगीचे के समान है। श्वास चन्दन के वृक्ष हैं। मंत्री-रूपी गुरुदेव बताता है कि तुम्हारे एक श्वास की कीमत लाख रुपये है। क्योंकि आप बहुत मूल्यवान् वस्तु भी रुपये देकर खरीद सकते हैं; परन्तु श्वास नहीं खरीद सकते। चाहे लाखों रुपये ही क्यों न खर्च कर दो। इंग्लैंड में एक समय एक साहूकार ने अपने प्रिय-पुत्र को दम तोड़ते देख डाक्टरों से प्रार्थना की कि मैं तुम्हें पांच अरब रुपये दूंगा, यदि तुम सब मिलकर मुझे मेरे प्रिय पुत्र से तीन मिनट बात करवादो। डाक्टरों ने उत्तर दिया कि सेठजी! पाँच अरब तो साधारण बात है यदि त्रिलोकी का राज्य भी दो तो भी एक श्वास आना कठिन है। अतः ये प्राण अमूल्य वस्तु हैं। इसी वास्ते गुरुदेव कहते हैं कि अरे बेसमझ अज्ञानी जीव! इन रहे सहे श्वासों की अमूल्य निधि से पश्चात्ताप-रूपी दरिद्रता को खोकर अक्षय मुक्ति-धन प्राप्त करने का प्रयत्न कर। अतः क्या ही सुन्दर कहा है:—

पुत्र कलत्र सुमित्र चरित्र, धरा धन धाम है बन्धन जी को,
बार ही बार विषय-फल खात, अघात न जात सुधारस फीको।
ज्ञान औ शान तजो अभिमान, कही सुन कान भजो सीय पी को,
पाय परम पद हाथ सों जात, गई सो गई अब राख रही को॥

अतः यदि हम इस रहे सहे जीवन से भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करें तो अपनी आत्मा का उद्धार कर सकते हैं। क्योंकि आत्मज्ञान-प्राप्ति ही मानव-जीवन का मुख्य लक्ष्य है। इससे आनन्द का अक्षय स्रोत बहने लगता है।

२५

प्रेमियों के विविध प्रकार

(६-९-१९३८)

सज्जनो! पिछले प्रवचन में बताया गया कि मानव का परम लक्ष्य आत्मोद्धार—स्व-स्वरूप का ज्ञान ही है। गोपियों को भी साक्षात् परम-तत्त्व गुरुदेव मिले हैं। वे ऐसा अवसर हाथ से क्यों जाने दें? वे दुपट्टों के आसन पर आसीन भगवान् श्रीकृष्ण से ब्रह्म-ज्ञान ही पूछ रही हैं। परंतु गोपियों की ब्रह्म-जिज्ञासा में इतना अन्तर है कि वे कोरा ब्रह्म-ज्ञान ही नहीं, भक्ति-मिश्रित ज्ञान पूछ रही हैं।

भगवन्! कई पुरुष तो संसार में ऐसे देखे गये हैं कि यदि हम उनसे प्रेम करते हैं तो वे हम से प्रेम करते हैं। बहुत से पुरुष ऐसे हैं, चाहे हम उनसे प्रेम न भी करें परन्तु वे तो हम से अवश्य ही प्रेम करेंगे। तीसरी श्रेणी के पुरुष ऐसे देखे गये हैं कि चाहे उनसे कोई प्रेम करे या न करे, वे ऐसे कठोर और निःस्नेह-हृदय होते हैं कि किसीसे प्रेम नहीं करते। प्रभो! इस बात का रहस्य हम आपसे भली प्रकार पूछना चाहती हैं।

अहो! क्या ही शिक्षाप्रद और मधुर प्रश्न है। मैंने सम्पूर्ण भागवत का कई बार पारायण किया परन्तु रासक्रीडा जैसा सरस और निवृत्ति-परक प्रकरण कहीं भी नहीं पाया। जब गोपियों के इस प्रश्न को भगवान् ने सुना तो कहने लगे—हे गोपियो! जो लोग परस्पर प्रेम करते हैं अर्थात् प्रेम करने पर प्रेम दिखलाते हैं, वे प्रेमी नहीं—प्रेम के दुकानदार हैं। जैसे एक बनिया पैसे लेकर वस्तु दे देता है। उसी प्रकार ये पुरुष भी प्रेम को कलंकित ही करते हैं। इस प्रकार का व्यापार करना प्रेमी मित्र का धर्म नहीं है। जो प्रेम करने पर प्रेम करता है अथवा विना प्रेम किये ही प्रेम करता है, कोई सम्बन्ध या मैत्री-स्थापन करता है, वह पुरुष दयालु माना

गया है। जैसे माता-पिता का पुत्र पर, गुरु का शिष्य पर अकारण ही प्रेम होता है। ऐसा प्रेम अपवाद-शून्य धर्म है। ऐसे प्रेम को ही मित्रता की श्रेणी में गिन सकते हैं। अकारण प्रेम करने वालों में राजा शिवि, महर्षि दधीचि, जीमूतवाहन और युधिष्ठिरादि हुए हैं, जिन्होंने विना किसी स्वार्थ के केवल पर-हितार्थ प्राणों तक की बाजी लगा दी थी।

जब महाभारत युद्ध में पाण्डवों की जीत हो चुकी तो कोई कहता है कि द्रौपदी के सतीत्व के कारण ही पांडव जीते हैं। कोई कहता है कि अर्जुन की वीरता ही विजय का कारण है। किसीने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण के आशीर्वाद से ही सफलता मिली है। इसी समय व्यासदेवजी वहां पधारे और कहने लगे कि अन्य किसी की सहायता से पांडव नहीं जीते, इसमें केवल धर्मराज युधिष्ठिर की करुणा ही कारण है। "एक समय की बात है कि राजा युधिष्ठिर जंगल में जा रहे थे। उनकी दृष्टि एक निःसहाय स्त्री पर पड़ी, जो प्रसव-वेदना से कराह रही थी। राजा के मन में करुणा का सागर उमड़ आया। घोड़े से उतर कर उसके समीप पहुंचे। दुःख के कारण का पता लगाया और सोचने लगे कि यदि इसके पेट में जरा गर्मी पहुंच जाय तो यह प्रसव–वेदना से त्राण पा सकती है। ऐसा विचार कर राजा युधिष्ठिर ने उसके पेट पर अपने हाथ के स्पर्श से गर्मी पहुँचाई, जिससे स्त्री को विना कष्ट के प्रसव हुआ और सब दर्द जाता रहा। तब उसने सुख की श्वास लेते हुए कहा–राजन्! जिस प्रकार तूने मुझे दारुण दुःख से मुक्त किया है, इसी प्रकार भगवान् तुम्हें भी दुःख से मुक्त करेंगे"। कहने का भाव यह है कि युधिष्ठिर जैसे दयालु, अकारण-स्नेही पुरुष ही प्रेमी कहलाने के अधिकारी हैं।

दो प्रश्नों का उत्तर गोपियों को मिल चुका। अब तीसरे प्रश्न का उत्तर प्रभु श्रीकृष्ण इस प्रकार देते हैं—जिन लोगों से हम प्रेम करते हैं वे किसीसे प्रेम नहीं करते और यदि हम उनसे प्रेम न करें तब तो फिर उनसे प्रेम की आशा ही क्या? उनसे हम कितना भी प्रेम करें परन्तु वे तो अत्यन्त कठोर-हृदय बने रहते हैं। थोड़ा भी स्नेह किसीसे प्रदर्शित नहीं करते। ऐसे पुरुष कौनसे हैं? वे किस श्रेणी में आते हैं? गोपियों के इस तृतीय प्रश्न का उत्तर भगवान् इस प्रकार देते हैं:—

प्रेमियों के विविध प्रकार

भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥
(भा. १०, ३२, १९)

कुछ लोग ऐसे हैं जो प्रेम करने वालों से भी प्रेम नहीं करते, न प्रेम करने वालों की तो उन के सामने बात ही क्या। ऐसे लोग चार प्रकार के होते हैं:— प्रथम, वे जो स्व-स्वरूप में ही मग्न रहते हैं, जिनकी दृष्टि में द्वैत को स्थान ही नहीं। वे प्रेम करें तो किससे करें। दूसरे, वे जो आप्त-काम हैं—अपना स्वार्थ सिद्ध कर चुके हैं। स्वार्थ शेष न रहने से वे किसीसे प्रेम करें ही क्यों? तीसरे, वे जो अकृतज्ञ-कृतघ्न हैं, जो किसीके किये हुए उपकार को भूल जाते हैं। वे यह भी अनुभव नहीं करते कि हमसे किसीने प्रेम किया है। चतुर्थ श्रेणी में वे लोग हैं जो जान-बूझकर स्व-हितकारी गुरु-तुल्य लोगों से भी द्रोह करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि गोपिकाओ! इस संसार में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो प्रेम किये जाने पर भी प्रेम नहीं करते-वे चार प्रकार के हैं:— १. आत्माराम २. आप्तकाम ३. अकृतज्ञ तथा ४. गुरुद्रोही। भगवान् की इस गूढ़ोक्तिका विस्तार इस प्रकार है—प्रथम तो वह पुरुष प्रेम किये जाने पर भी प्रेम नहीं करता जो आत्माराम है—आत्मा में ही रमण करता है—आत्म-ज्ञानी है और सच्चिदानन्द-घन परब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभावापन्न है। जो आसक्ति-रहित होकर केवल परमात्मा में ही रमण करता है। जो निरन्तर अभिन्न भाव से परमात्मा का चिन्तन करते करते ब्रह्म-रूप ही हो जाता है। जिसने समस्त संसार को आत्म-स्वरूप ही समझ लिया है, जिसकी दृष्टि में संसार का अस्तित्व ही नहीं, जिसके लिए उसके सांसारिक सुख स्वप्न की भांति हैं, जिसने सबके अन्तःस्थित परमानन्द-स्वरूप परमात्मा में सुख मान लिया है—ऐसे पुरुष ही प्रेम किये जाने पर भी प्रेम नहीं करते। वे प्रेम करें भी तो कैसे? क्योंकि उनकी दृष्टि में कुछ सत्य ही नहीं है। उनकी दृष्टि में भाई-बहिन, माता-पिता सब मिथ्या हैं। उदाहरण-रूप में जड़भरत, शुकदेवादि आत्मनिष्ठ महात्मा लिये जा सकते हैं। शुकदेव के पीछे उनके पिता व्यासदेवजी भागे आ रहे हैं, परन्तु उन्हें उनका कुछ ध्यान ही नहीं।

ऐसे पुरुष माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र को अन्य संसारी जीवों के समान ही समझते हैं, जो अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इस आवागमन के चक्कर में भटक रहे हैं।

दूसरी श्रेणी के वे आप्त-काम पुरुष हैं, जो प्रेम करने पर भी प्रेम नहीं करते। वे अपने स्वार्थ को ही मुख्य समझते हैं। जब स्वार्थ सिद्ध हो गया तो वे किसी से आंख तक नहीं मिलाते। कोई प्रयोजन न रहने पर पुराने मित्र से भी नाता तोड़ लेते हैं। वर्षों पुरानी मित्रता पर पानी फेर देते हैं। अवसरवादी पुरुष अपना कार्य सिद्ध करने के लिए झूठा प्रेम भी प्रदर्शित करने में चूकते नहीं। परन्तु प्रयोजन सिद्ध होने पर घनिष्ठ मित्र की छाया से भी दूर रहते हैं—ऐसे पुरुषों को स्वार्थी या मतलबी कहा जा सकता है।

तीसरी श्रेणी के पुरुष अकृतज्ञ हैं, जो प्रेम करने पर तो प्रेम नहीं करते, अपितु प्रेम को भी अप्रेम ही कहते हैं। किये हुए उपकार पर भी पानी फेर देते हैं। जिस माता-पिता ने अनेक कष्ट झेल कर पुत्र की रक्षा की, पालन-पोषण किया, स्वयं पेट पर पत्थर बांध कर उसकी क्षुधा को शान्त किया—वह पुत्र भी कह डालता है कि तुमने मेरे लिये क्या किया? मैं अपने आप ही पला हूँ, बड़ा हुआ हूं। बहुत से अकृतज्ञ शिष्य भी गुरु से विद्याध्ययन करके कह देते हैं कि उन्होंने तो मुझे एक अक्षर भी नहीं सिखाया। मैं तो उनके पास अध्ययनार्थ कभी उपस्थित ही नहीं हुआ। वास्तव में तो बात यह है कि इन्हें कुछ आता जाता नहीं। जो कुछ ज्ञान उपार्जन किया है वह तो मेरी बुद्धि की विलक्षणता है। ऐसे अकृतज्ञ पुरुष भी प्रेम दिखलाने पर निःस्नेही ही रहते हैं।

चतुर्थ श्रेणी के गुरु-द्रोही पुरुषों के साथ भी चाहे कितना भी प्रेम क्यों न किया जाय, वे तो सदा विरोधी ही रहेंगे। द्वेषाग्नि में सदा जलते रहेंगे। जो समाज में पूज्य हैं, आदरणीय हैं, प्रतिष्ठित हैं उन व्यक्तियों का भी वे सदा निरादर ही किया करते हैं।

गोपियों का छिपा हुआ भाव यह था कि हम भी भगवान् को उन्हींके मुख से कृतघ्न कहलवादें। क्योंकि हम तो प्रभु से प्रेम करती हैं। पर प्रभु हमारे पर अपनी कृपा-दृष्टि की वृष्टि नहीं करते। अतः प्रभु की गणना भी तीसरे प्रकार के मनुष्यों के अन्दर ही होनी चाहिये। उधर प्रभु श्रीकृष्ण भी

तो सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी थे। उनसे भी कोई बात छिपी हुई नहीं रह सकती थी। अतः गोपियों के अविद्या के परदे को हटाने के लिये बोले—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥

(भा. १०, ३२, २०)

'गोपियो! मैं प्रेम करने वालों से भी प्रेम का यथायोग्य व्यवहार इस लिए नहीं करता हूँ कि उनकी चित्त-वृत्ति मुझमें निरन्तर लगी रहे। जैसे निर्धन पुरुष को बहुतसा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका मन खोये हुये धन की चिन्ता से पूर्ण हो जाता है। वह अन्य किसी वस्तु का चिन्तन नहीं करता। वैसे ही मैं भी मिल कर पुनः छिप जाता हूँ।

भगवान् गोपियों की शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि गोपियो! आपके दिल में यह शंका नहीं होनी चाहिये कि हमारे इष्ट-देव श्रीकृष्ण प्रेम किये जाने पर भी हमसे प्रेम नहीं करते; अतः वे कृतघ्न हैं। कृतघ्नता का यह दोष मुझ पर नहीं लगाया जा सकता। क्योंकि मेरा तो यह नियम है कि जब तक मेरा भक्त पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, समस्त मोह-जाल से मुक्त नहीं हो जाता, अपनी अविद्या का परदा हटा नहीं लेता, तब तक मैं अपने भक्तों को भी नहीं अपनाता हूं। इससे यह न समझ लेना कि भगवान् निःस्नेही हैं, मैं तो अपनी विरहाग्नि से भक्त के जन्म-जन्मान्तरों के पापों को भस्म करके, उसके हृदय को शुद्ध एवं निष्पाप बनाता हूं। जैसे स्वर्णकार स्वर्ण को संदीप्त अग्नि में डालकर उसके अशुद्ध भाग को जलाकर कुन्दन बनाना चाहता है, इसी प्रकार मैं भी अपनी विरहाग्नि के द्वारा अशुद्धता को भस्म करके भक्त-हृदय को पवित्र बनाना चाहता हूं। भक्त मेरे विरह में मेरी प्राप्ति के लिए और अधिक प्रयास करता है। जैसे किसी पुरुष का यदि धन नष्ट हो जाता है, तो वह उसीकी प्राप्ति के लिये प्रतिक्षण यत्न करता रहता है। वह अन्य किसी वस्तु से प्रयोजन ही नहीं रखता।

यही दशा मेरे भक्तों की होती है। जब मैं एक बार दर्शन देकर अदृश्य हो जाता हूं तो भक्त मुझे पुनः प्राप्त करने के लिये ध्यानस्थ हो जाता है। मेरी ही झांकी देखने में अपना सौभाग्य समझता है। क्योंकि भक्त का मैं ही

सर्वोत्तम धन हूं। अतः हे गोपियो! तुम ही अपने हृदय पर हाथ रखकर कहो कि क्या मैं इस प्रकार का आचरण करता हुआ कृतघ्न कहला सकता हूं? क्या मैं यह अच्छा नहीं कर रहा? मैं तो कहीं गया भी नहीं था। यहीं तुम्हारी सब लीलाएं देख रहा था। इसलिए तुम्हें किसी प्रकार की असूया का भाव मन में नहीं लाना चाहिये। मैं तुम्हारे द्वारा किये हुए उपकारों को भूला नहीं हूं? तुमने मेरे लिये अपने नन्हे नन्हे दूध पीते बच्चों को पीछे छोड़ा, अपने पतियोंकी आज्ञा भंग की, बहुत कठिन व्रत किये, बड़ी विपत्तियों का सामना किया तथा समस्त सांसारिक जंजीरों को काट ड़ाला। सांसारिक-प्रेम को मेरे प्रेम की तुलना में तुच्छ समझा। अतः तुमसे बढ़ कर मेरा भक्त कौन हो सकता है। तुम साधारण स्त्रियाँ नहीं हो, अपितु साक्षात् देवांगनाएं हो। स्त्रियों में इतनी शक्ति कहां जो ऐसी विपत्तियों को सहन कर सकें। अतः मैं तुम्हारे इस ऋण से कभी भी उऋण नहीं हो सकता। इस मनुष्य-विग्रह की तो बात ही क्या यदि दिव्य सहस्र-वर्ष की आयु वाला दैव-विग्रह भी धारण करलूं, तब भी मैं तुम्हारा प्रत्युपकार नहीं कर सकता। तुम मेरी निष्काम भक्ता हो, अतः मैं तुम्हें कुछ दूं भी तो कौनसी वस्तु दूं। यदि कोई थोड़ी आय वाला पुरुष एक लाख रुपया का ऋणी हो जाय तो उसके लिये सूद देना भी कठिन हो जाता है, मूल धन देने की तो बात ही क्या? वैसे ही तुमने भी मेरे ऊपर बहुत सा ऋण चढ़ा दिया है; जिसका चुकाना कठिन ही प्रतीत हो रहा है। मेरे पास तो भक्त का ऋण चुकाने के लिये चार ही पदार्थ हैं, जो सूद ही सूद में चले जाते हैं। मूल धन वैसे का वैसा ही बना रहता है। जैसेः—

प्रेमी के हम ऋणी हैं हमरा यही उसूल।
चार पदार्थ सूद में, रहा मूल का मूल॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पदार्थ ही हमारे पास हैं; यही हमारा सर्वस्व है। यह हमारा पक्का नियम है कि हम प्रेमी के ऋणी अवश्य बने ही रहते हैं। तत्पश्चात् उऋण होने के लिये ये चार पदार्थ देते हैं; परन्तु ये सब सूद ही में समाप्त हो जाते हैं। पांचवां कोई पदार्थ हमारे पास है नहीं जिसे देकर हम प्रेमी से उऋण हो सकें।

गोपियों ने जब इस प्रकार भगवान् का गम्भीर और युक्ति-युक्त उत्तर सुना

तो तत्क्षण ही परमभक्ति में आने से उनकी मनःस्थिति बदल गई। चारों ओर सच्चिदानन्द-घन, पर-ब्रह्म भगवान् कृष्ण ही कृष्ण दिखाई देने लगे। प्रभु ने समस्त गोपियों को अपने दिव्य और मनोहर दर्शन से सन्तुष्ट कर दिया। अखंड ब्रह्मचारी रहकर गोपियों के साथ क्रीड़ा की। सबकी कामनाएं शान्त कर दीं। योगेश्वर भगवान् कृष्ण दो दो गोपियों के मध्य एक-एक रूप धारण करके स्थित हो गये, जिससे समस्त गोपियां प्रभु का दर्शन पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो गई। सबको अखंड आनन्द का अनुभव होने लगा। गोपियों के अन्य समस्त आनन्द फीके पड़ गये। सारा संसार नीरस प्रतीत होने लगा। बस इसी का नाम रासलीला है। जब जीव की समस्त चित्त-वृत्तियां इधर उधर के सब मायिक पदार्थों से हटकर एकाधार सच्चिदानन्द-घन भगवान् में एकत्रित हो जाती हैं, उसीका नाम रासक्रीड़ा है।

परन्तु बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ लोग प्रभु का वास्तविक स्वरूप न जानकर तर्क-वितर्क करने पर तुल जाते हैं। कलि-काल की कुटिल गति का ही यह प्रभाव है कि हम पूर्णावतार प्रभु श्रीकृष्ण के पवित्र चरित्र पर दोषारोपण करने में भी संकोच नहीं करते। यदि वे शास्त्रों का रहस्य नहीं समझते हैं तो इसका अर्थ यह तो नहीं कि शास्त्रों को असत्य ही ठहरा दें। शास्त्र-ज्ञान भी विना पुण्यों के नहीं होता। अतः ऐसा गम्भीर शास्त्रीय रहस्य समझने के लिए योगेश्वर श्रीकृष्ण की शरण में रहते हुए पुण्यों की ओर प्रवृत्ति बढ़ानी चाहिये। यह तो सभी प्रभु-भक्त जानते हैं कि श्रीकृष्ण भगवान् पूर्णावतार थे। यदि पूर्णावतार न होते तो शायद रासलीला भी न करते। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण पूर्णावतार हैं और उनके चरित्र में पूर्ण शक्तियों का होना भी आवश्यक है। प्रभु श्रीकृष्ण योगिराज थे और यह शक्ति योग में ही है कि एक योगी अनेक स्थूल और सूक्ष्म शरीर बना सके। एक जादूगर आपके सामने अपने एक स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से अनेक रूप नहीं बना सकता। परन्तु एक योगी में यह शक्ति होती है कि अपने स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर से अनेक रूप बना सकता है, क्योंकि योगी का पांचों तत्त्वों पर पूर्ण अधिकार होता है। पांचों भूतों पर अधिकार होने से जिस तत्त्व को जब आज्ञा दी तभी वह कार्य करने के लिये उपस्थित है। इस कारण योगी को अनेक रूप धारण करने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। जब एक साधारण

योगी में यह शक्ति हो सकती है कि जब चाहे अनेक रूप धारण कर ले; तो साक्षात् परब्रह्म योगेश्वरेश्वर पूर्णावतार सच्चिदानन्द-घन भगवान् श्रीकृष्ण के लिये तो कठिनाई ही क्या हो सकती है। वे मायापति होने के नाते नया विश्व भी बनाने की सामर्थ्य रखते हैं, तो थोड़ेसे अपने नये रूप बना लेना तो एक साधारण सी बात है। आत्माराम योगेश्वरेश्वर में विषय-वासना की भावना करना तो और भी हास्यास्पद बात है। विषयासक्त प्राणी तो योगी और स्थित-प्रज्ञ कभी हो ही नहीं सकता। योगी बनने के लिये संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। योग-दर्शन-कार संयम का लक्षण बतलाते हुए लिखते हैं—"त्रयमेकत्र संयमः"। धारणा, ध्यान और समाधि का एक विषय में होना ही संयम है। तो यह कार्य एक योगिराज और जितेन्द्रिय व्यक्ति का ही हो सकता है। काम-दशा में ऐसी बातों की सम्भावना करना तो "ख-पुष्प" के समान है। भोग-लोलुप पुरुष कभी शान्त तथा योगी नहीं बन सकता। इस बात को भगवान् गीता में स्वयं कहते हैं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।

(गीता. २,७०)

नाना नदियों के जल-प्रवाह, सब ओर से परिपूर्ण, अचल-स्थिति वाले समुद्र में, उसको विचलित न करते हुए भी समा जाते हैं। इसी प्रकार सब भोग-कामनाएं योगी तथा स्थितप्रज्ञ पुरुष में विना किसी विकार को उत्पन्न किये ही समा जाती हैं। वही पुरुष शान्ति को प्राप्त करता है। भोगी तथा विषय-वासना का दास कभी शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। प्रभु कृष्ण तो भोगी नहीं अपितु साक्षात् योगी थे। और योगी स्वभावतः शान्त चित्त वाला होता है। शान्त चित्त वाले व्यक्ति का प्रभाव दूसरों पर भी वैसा ही पड़ा करता है। अतः भगवान् ने अपने दर्शन से सब को शान्ति प्रदान की। जैसे समुद्र को जल की आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह स्वतः ही परिपूर्ण है। परन्तु चाहे कितने ही जल-प्रवाह उसमें आ मिलें, तब भी वह विचलित नहीं होता, सबको स्थान दे देता है। इसी प्रकार परमात्मा के स्वरूप में स्थित योगी की स्थिति भी अचल ही रहती है। बड़े से बड़े चटकीले भटकीले सांसारिक सुख-

दुःखों के संयोग–वियोग भी उसे क्षणभर के लिये भी विचलित नहीं कर सकते। प्रभु श्रीकृष्ण तो साक्षात् पूर्णावतार, कन्दर्प-दर्प-हर, तथा सच्चिदानन्द-घन परमात्मा थे; वे कैसे विचलित हो सकते हैं। गोपियों की कामनाएं चाहे कैसी भी हों, उनका प्रभाव भगवान् पर नहीं पड़ सकता था। अचल, अटल, अपरिवर्तन-शील भगवान् में उनकी सब कामनाएं समा गईं। वे शान्त होकर परम पद को प्राप्त हुईं। यह है रासलीला का वास्तविक रहस्य।

२६

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि

(५-९-१९३८)

जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

सज्जनो ! जीवन्मुक्त का स्वरूप स्फटिक मणि की भांति होता है। जैसे स्फटिक मणि लाल रंग के फूलों के समीप लाने से लाल रंग को प्रकट करती है और पीले रंग के फूलों के पास लाने से पीले वर्ण को प्रतिभासित करती है। परन्तु वास्तव में स्फटिक मणि का स्वरूप तो स्वच्छ और शुभ्र है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त पुरुष भी वैसे तो निर्विकार, निर्द्वन्द्व और निर्लेप होता है, पर जिस पुरुष के साथ उसका संसर्ग होता है, वह वैसा ही बन जाता है; अपने स्वरूप और स्वभाव को वैसा ही बना लेता है। इस विषय में क्या ही सुन्दर कहा है :—

बाले बाला विदुषि विबुधा गायके गायकेशाः,
शूरे शूरा निगमविदि चाम्नायलीलागृहाणि ।
सिद्धे सिद्धा मुनिषु मुनयः सत्सु सन्तो महान्तः,
प्रौढे प्रौढाः किमिति वचसा तादृशा यादृशेषु ॥

मौने मौनी गुणिनि गुणवान् पंडिते पण्डितोऽसौ,
दीने दीनः सुखिनि सुखवान्भोगिनि प्राप्तभोगः ॥
मूर्खे मूर्खो युवतिषु युवा वाग्मिषु प्रौढवाग्मी,
धन्यः कश्चित् त्रिभुवनजयी योऽवधूतेऽवधूतः ॥

उस तीनों लोकों के जीत लेने वाले किसी जीवन्मुक्त को धन्य है; जो बालकों में बालक, विद्वानों में महान् विद्वान्, गायकों में गायनाचार्य, शूरवीरों में

अत्यन्त शूरवीर, वेदज्ञ विद्वानों में ज्ञान का भंडार, सिद्धों में सिद्ध, मुनियों में महामुनि, सज्जनों में सज्जन, चतुरों में अतिचतुर, कहां तक वर्णन करें जैसा संग वैसाही रंग बना लेता है। यदि मौनी मिल गये तो मौन हो गये, गुणी देखे तो गुणों का परिचय दे दिया, यदि कहीं पंडितों का संसर्ग हो गया तो पांडित्य जमाने में कम न रहे। यदि गरीबों में रहने की नौबत आई तो दीनावस्था ही धारण कर ली। यदि कहीं सुखियों से सामना हो गया तो सुखी बन बैठे। यदि कहीं भोगी मिल गये तो भोगासक्ति का ही अभिनय करने लगे। यदि अचानक कहीं मूर्खों से पाला पड़ गया तो मूर्खों जैसे आचरण करने लगे। यदि कहीं सुन्दर युवतियों के साथ ही रहना पड़ा तो युवक ही हो बैठे। तो यह महिमा केवल जीवन्मुक्त व्यक्तियों की ही है। इसी प्रकार प्रभु श्रीकृष्ण भी वैसे तो निष्काम, निर्लेप तथा निःसंग थे, पर वे भी जैसे को तैसे ही दिखलाई पड़ते थे।

"**जैसी मति तैसी गति**"—के अनुसार जिसके जैसे भाव थे, वैसे ही प्रभु श्रीकृष्ण बन जाते थे। इसी कारण से तो पूर्णावतार का परिचय मिलता है। जहां जिस शक्ति की आवश्यकता पड़ी, वैसी ही शक्ति का प्रादुर्भाव कर दिखाया। देखिये भागवत में क्या ही सुन्दर वर्णन किया है—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रंगं गतः साग्रजः॥

(भा. १०, ४३, १७)

जब कंस का नियत किया हुआ धनुर्याग हो रहा था तो उस समय वहां चाणूर जैसे पहलवान (मल्ल) भी थे। उन पर भगवान् जब मुष्टि-प्रहार करते थे तो उन्हें भगवान् वज्र के समान प्रतीत होते थे। सज्जनों को नर-रत्न प्रतीत हुए। स्त्रियां ऐसा अनुमान कर रही थीं कि जो कामदेव भगवान् शंकर के द्वारा अनंग बना दिये गये थे वे ही अब साक्षात् मूर्तिमान् होकर भगवान् के रूप में उपस्थित हो गये हैं। अतः स्त्रियों को भगवान् कृष्ण लावण्यावतार प्रतीत हो रहे हैं। बाल-समाज अनुभव कर रहा था कि यह तो वही गोपाल कृष्ण है जो हमारे साथ वन में क्रीड़ा किया करता था; अतः वे उसे बचपन का साथी

समझ रहे हैं। आश्चर्य-चकित भी हो रहे हैं कि कल जो बालक व्रज में माखन चुराया करता था आज वही भयंकर शत्रुओं के साथ भीषण युद्ध कर रहा है। परन्तु वे भगवान् से भयभीत नहीं हुए, अपितु अपना मित्र ही मान रहे हैं। दुष्ट और कुकर्मी राजाओं को साक्षात् नियन्ता प्रतीत हुए कि ये हमें हमारे अपराधों का दंड अवश्य देंगे। भगवान् के पिता नन्द तथा अन्य वृद्ध गोपों को प्रभु छोटे से बच्चे के रूप में दिखाई दिये। कंस ने उधर दृष्टि-पात किया तो घबरा गया और उसने मन में निश्चय कर लिया कि यह तो काल ही उपस्थित हो गया है। साधारण अल्पज्ञ जनों ने भगवान् को मल्ल-युद्धादि क्रियाओं में विराट् अर्थात् असमर्थ और निर्बल समझा। योगियों को सच्चिदानन्द-घन परब्रह्म और भक्त-शिरोमणि वृष्णि-वंशियों को आराध्य-देव के रूप में प्रतीत हुए। इस प्रकार धनुर्याग स्थल के मध्य में विराजमान भगवान् बड़े भाई बलदेव के सहित स्व-स्व-विचारों के अनुसार भिन्न भिन्न प्रतीत हुए।

इस श्लोक के अनुसार रंगशाला में प्रविष्ट भगवान् मल्लादिकों को अपने अपने भावानुसार दशधा प्रतीत हुए। भागवत-टीकाकार श्रीधर ने भगवान् को शृंगारादि रस-समूह की मूर्ति इसी पद्य के आधार पर प्रदर्शित किया है। वहां क्रमशः मल्लादियों में रौद्रादि दश रस अभिव्यक्त हुए हैं। उन्हीं दश रसों का संग्रह निम्नलिखित श्लोक में किया गया है—

रौद्रोऽद्भुतश्च शृंगारः हास्यं वीरो दया तथा।
भयानकश्च बीभत्सः शान्तः सप्रेमभक्तिकः॥

उपर्युक्त विचारणा से यह सिद्ध हुआ कि भिन्न भिन्न दृष्टि-कोण से मल्लादियों में क्रमशः दश रसों की अवतारणा हुई—मल्लों में रौद्र, मनुष्यों में नर-रत्न कृष्णके दर्शन से अद्भुतरस, स्त्रियों में शृंगाररस, गोपाल-बालों में हास्यरस, अत्याचारी दुष्ट राजाओं में वीररस, वयोवृद्धों में वात्सल्य, कंस में भयानक, साधारण जीवोंमें बीभत्स, योगियों में शान्तरस तथा वृष्णि-वंशियों में भक्तिरस अभिव्यक्त हुआ।

इस श्लोक का विराट् शब्द विचारणीय है। गीता में वर्णित दिव्य दृष्टि-सम्पन्न अर्जुन द्वारा दृष्ट विश्वरूप विराट् शब्द ही प्रायः बुद्धि में आरूढ होता है। यत्र-तत्र

पुराणों में भी विराट् शब्द का विश्वरूप अर्थ में प्रयोग हुआ है। उस विश्वरूप का दर्शन दिव्य दृष्टि-सम्पन्न योगियों को ही हो सकता है, अज्ञानी जीवों का सौभाग्य ही कहां कि उसका दर्शन कर सकें। अतः "विराडविदुषाम्" इस उक्ति के अनुसार अज्ञानी जीवों को श्रीकृष्ण की विराट्रूप में प्रतीति भला कैसे युक्ति-संगत हो सकती है? इस शंका का निवारण टीकाकार श्रीधर ने बड़ी कुशलता से किया है। वे लिखते हैं कि विराट् शब्द का अर्थ यहां विश्वरूप नहीं किन्तु विकल, न्यून, दुर्बल और मल्लक्रीड़ादि क्रियाओं में असमर्थ साधारण बालक है। इसके समर्थन में व्याकरण की रीति से, **वि–विकलः–अपर्याप्तः–असमर्थः राजति-भाति इति विराट्**–यह व्युत्पत्ति निर्दिष्ट की है। जिसके आधार पर सहज में ही विराट् शब्द का असमर्थ और निर्बल अर्थ समझ में आजाता है। उन्होंने विकलता के उपपादनार्थ निम्न श्लोक की ओर संकेत किया है—

क्व वज्रसारसर्वांगौ मल्लौ शैलेन्द्रसन्निभौ।
क्व चातिसुकुमारांगौ किशोरौ नाप्तयौवनौ॥

(भा. १०·४४·८)

एक दर्शक दूसरे के प्रति कह रहा है कि कितना अन्याय है कि इस सभा में कोई भी विचारवान् पुरुष नहीं जो इन मल्ल युद्ध करनेवालों में अन्तर अनुभव कर सके। देखो :–इन पहलवानों का प्रत्येक अंग वज्रके समान कठोर है। देखने में ये बड़े पर्वत के समान प्रतीत होते हैं। परन्तु दूसरी ओर श्रीकृष्ण और बलराम अभी युवा भी नहीं हुए। उनके अंग अभी सुकुमार हैं। मल्ल-युद्ध में इनकी समता का अनुमोदन किस हीन-बुद्धि ने किया है? यह महान् आश्चर्य की बात है। यह उक्ति प्रभु-प्रभावानभिज्ञ स्त्री-दर्शकों की है, जो भगवान् को मल्ल-युद्ध में निर्बल मान रही हैं। कुछ अन्य साधारण जीव भी भगवान् में असमर्थता और निर्बलता का आरोप करें तो आश्चर्य की कौनसी बात है? अतः सिद्ध हुआ कि यहां विराट् शब्द विश्वरूप का वाचक नहीं, अपितु निर्बल का सूचक है।

अब आप विचार कर सकते हैं कि ऐसी अद्भुत शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी वे क्या पूर्णावतार नहीं थे? प्रभु तो जल में स्थित कमल-पत्र की भांति

निर्लेप थे। यदि कोई प्रभु को कामुक समझता है, तो समझो कि वह स्वयं ही कामुक है। क्योंकि जिसके जैसे विचार होंगे, उसे दूसरा भी वैसा ही दृष्टि-गोचर होगा। जैसे अपनी आंख पर अंगुली रखने से दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं; वास्तव में चन्द्रमा एक ही है, दो नहीं। अपनी ही दृष्टि दो भागों में बँट जाने से सामने की वस्तु दो रूपों में दिखाई देती है।

यहां पर यह बात भी विचारणीय है कि यदि प्रभु कामुक होते तो वे भी अन्य कामी पुरुषों की भांति गोपियों के अधीन हो जाते। विषयासक्त व्यक्ति युवती-मंडल के मध्य आया हुआ अपने दुर्बल और हीन विचारों को छिपा नहीं सकता; वह तो युवतियों का दास और वशवर्ती बन जायगा। उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करेगा। परन्तु भगवान् गोपियों की निपट परवाह नहीं करते और अचानक अदृश्य हो जाते हैं और गोपियां उन्हें—हे प्राणनाथ! हे जगदीश्वर! हे जगत्त्राता! ऐसे अनेक संबोधनों से पुकारती हुई वन में भगवान् की तलाश करती हैं। तो क्या स्त्रियां भी कभी कामुक पुरुषों को ऐसे पुकारा करती हैं? कामासक्त पुरुष तो स्त्रियों को स्वयं मनाता है, उनके पाँव छूता है, सौ सौ खुशामद करता है। परन्तु यहां तो राधा ने ज़रासा गर्व करके भगवान् के कन्धे पर चढ़ने की इच्छा की, जिसको भगवान् ने ऐसी शिक्षा दी कि कन्धा बताकर झट छिप गये। राधा वहीं रोती चिल्लाती रह गई। प्रभु तो क्षीर-सागर में शयन करते समय लक्ष्मी से पांव में माखन लगवाते हुए ही बतला रहे हैं कि मैं अपनी प्रकृति-देवी के अधीन नहीं हूं। अपितु लक्ष्मी की पाद-सेवा से यह बतलाया कि माया मेरे अधीन है, जो सदा पाद-संवाहन करती हुई सेवा में तत्पर रहती है। यही तो जीव और ईश्वर में भेद है कि जीव मायाधीन है और माया प्रभु के अधीन है। जीव माया के जिन कार्यों के अधीन है, प्रभु का उनके साथ स्पर्श-मात्र भी सम्बन्ध नहीं। योगशास्त्र में ईश्वर का लक्षण करते हुए महर्षि पतंजलि लिखते हैं—

क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इन पांच क्लेशों से तथा शुक्ल (पुण्य) कृष्ण (पाप) और शुक्लकृष्ण (पुण्यपाप) इन तीन प्रकार के कर्मों से तथा त्रिविध विपाक अर्थात् विशेष जाति में उत्पत्ति, आयु-प्राप्ति और

भोग-सामग्री के आस्वाद से तथा आशय=वासना से अपरामृष्ट=रहित हो— उसे ईश्वर कहते हैं। परन्तु जीव इन बातों से रहित नहीं है। अत एव जीव में वह शक्ति नहीं जो ईश्वर में है। प्रभु श्रीकृष्ण ने तो सकाम गोपियों को अपने दिव्य दर्शन और अलौकिक संस्पर्श द्वारा विषय-वासना से दूर कर दिया। जो गोपिकाएं विषय-वासना के भाव से आईं थीं; वे प्रभु श्रीकृष्ण के साथ रासक्रीड़ा करने से शुद्ध-अन्तःकरणा हो गईं और मुक्तिपद को प्राप्त हुईं।

यहां पर आलोचकों की शंकाओं का समाधान करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। उनका कहना है कि हम तो प्रभु की रासक्रीड़ा पर शंका न भी करें, परन्तु परम भक्त राजा परीक्षित स्वयं प्रभु पर शंका-पंक उछाल रहे हैं। राजा परीक्षित शुकदेवजी से प्रश्न करते हैं—

संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च।
अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः॥

स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता।
प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम्॥

आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वै जुगुप्सितम्।
किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत॥

(भा० १०,३३,२७–२९)

शुकदेव गुरो! जगदीश्वर भगवान् कृष्ण ने बलराम के सहित धर्म की स्थापना और अधर्म-नाश के लिये अवतार धारण किया था। वे धर्म-मर्यादा के कर्ता तथा शिक्षक एवं रक्षक थे। फिर उन्होंने धर्म के विपरीत पर-स्त्रियों का स्पर्श कैसे किया? मैं यह स्वीकार करता हूं कि श्रीकृष्ण भगवान् पूर्णकाम थे, उन्हें किसी प्रकार की इच्छा नहीं थी, फिर भी उन्होंने किस अभिप्राय से यह निन्दनीय कर्म किया? हे मुनीश्वर! आप कृपया यह मेरा सन्देह दूर कीजिए।

यहां परीक्षित के मन में भगवान् की दिव्य-लीलाओं के प्रति अधर्म की शंका उत्पन्न हो रही है। इस शंका-पंक-कलंक को दूर हटाने से पूर्व उस ऊपर

के श्लोक में आये "अंशेन" पद पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। यहां अंशेन पद से आपने प्रभु श्रीकृष्ण में अंशावतार की कल्पना न कर लेना। अंशेन का अर्थ है—"**स्वांशावतारेण बलदेवेन भ्रात्रा सह अवतीर्णः**" अर्थात् अपने अंशावतार बलदेव भ्राता के सहित अवतीर्ण हुए भगवान् जगदीश्वर। अथवा अंश का अर्थ है कला, तो—**अंशानां = कलानाम्, इनः = (स्वामी) ईश्वरः इति अंशेनः, स चासौ जगदीश्वरः।** अर्थात् संपूर्ण १६ कलाओं से सम्पन्न पूर्णावतार भगवान् जगदीश्वर। अथवा :—**अंशैः समम् अवतीर्णः** समस्त कलाओं के सहित अवतीर्ण जगदीश्वर। यहां अंश शब्द में एक वचन तो जात्यभिप्रायसे "ब्राह्मणः पूज्यः" की भांति दिया गया है। यह सब कहने का तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् सोलह–कला–संपूर्ण और धर्म-रक्षक थे। फिर उन्होंने धर्म-विरुद्ध पर-स्त्री का स्पर्श (संगम) कैसे किया? भगवान् आज कल के वक्ताओं की भांति केवल वक्ता ही नहीं, प्रभु तो वक्ता होने के साथ साथ धर्म-मर्यादाओं के निर्माता भी थे। वे दूसरों को मार्ग-दर्शन कराने के लिए अवतरित हुए थे। ऐसा आचरण उनके लिए शोभा नहीं देता। अतः आप इस मेरे संशय को दूर करके इसका गुप्त रहस्य बतलाने की कृपा करें।

शुकदेवजी के उत्तरसे पूर्व ही आप यह समझलें कि साधारण लोग "परदाराभिमर्शनम्" का अर्थ पर-स्त्री से भोग-विलास ही कर लेते हैं। पर उन्हें पता नहीं कि अभिमर्शन शब्द का अर्थ स्पर्श (छूना) होता है। साधारणतया किसी को स्पर्श कर लेना कोई बड़ी बात नहीं। जिसके भी साथ रहेंगे उससे वस्त्रादि का स्पर्श तो अवश्य हो ही जायगा, जैसाकि उत्सवों और मेलों में प्रायः होता है। स्पर्श-मात्र से ही रति-व्यवहार अर्थ कर लेना युक्ति-संगत नहीं। अभिमर्शन शब्द से विषय-वासना का विचार करना अपने शास्त्र-ज्ञान की न्यूनता को प्रकट करना है।

अच्छा अब आप शुकदेवजी का उत्तर सुनें। शुकदेवजी परीक्षित के प्रति कहते हैं—

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥

(भा० १०,३३,३०)

ऐश्वर्य-युक्त व्यक्ति धर्म का तो उल्लंघन कर जाते हैं, उनके धर्म-विरुद्ध आचरण यत्र-तत्र देखे जाते हैं। पर इसका रहस्य यह है कि तेजोयुक्त पुरुषों को धर्म-विरुद्ध आचरण का दोष नहीं लगता। जैसे सर्व-भक्षी अग्नि सदा निर्दोष ही रहती है। कविकुल-शिरोमणि तुलसीदासजी भी कहते हैं—

समरथ को नहीं दोष गुसाईं।
रवि पावक सुरसरि की नाईं॥

संसार में तीन वस्तुएं हैं जिन्हें कभी दोप नहीं लगता। वे हैं रवि, पावक और सुरसरि=गंगा। जैसे सूर्य मलिन पदार्थ को सुखा कर स्वच्छ बना देता है, पर उस मलिनता को स्वयं ग्रहण नहीं करता है। एवं अग्नि में आप कितनी भी मलिन वस्तु डालदें; अग्नि उसकी मलिनता को जला देगी और स्वयं उसको ग्रहण भी न करेगी। इसी प्रकार भागीरथी गंगा में भी बड़े बड़े बदबूदार गन्दे नाले पड़ते हैं। पर जब वे गंगाजल में मिल जाते हैं तो अतिस्वच्छ बन जाते हैं। गंगा उनकी मलिनता को दूर कर देती है और उस मलिनता का स्वयं स्पर्श तक नहीं करती।

यही तो समर्थ पुरुषों की समर्थता है कि दूसरों के दोष को निकाल देना और स्वयं उस दोप को ग्रहण न करना, जैसा कि सूर्य, अग्नि और गंगा के विषय में कहा गया है। प्रभु श्रीकृष्ण भी तेजस्वी और सर्वाधिक समर्थ थे। फिर उनके लिए अशुद्ध हृदय वाली गोपिकाओं के मन से विषय-वासना को जलाकर शुद्ध और पवित्र कर देना क्या कठिन था? अत एव कहा कि "**तेजीयसां न दोषाय**" अर्थात् समर्थ पुरुषों को दोष नहीं लगता। दूसरे के दूषित भावों को निकाल कर पवित्र कर दिया और उन दोपों को अपने में नहीं आने दिया, यही उनका अलौकिक सामर्थ्य था। अतः सिद्ध हुआ कि भगवान् अखंड ब्रह्मचारी थे और निर्लेप थे।

बहुतसे लोग यह भी शंका किया करते हैं कि गोपियों की बुरी कामनाओं को तो भगवान् अपने उपदेश द्वारा घर में रहते हुए भी दूर कर सकते थे। बाहर वन में रासक्रीड़ा रचने की क्या आवश्यकता थी? और वह भी रात्रि में? परन्तु इसमें भी कोई रहस्य छिपा हुआ था जिसको समझने के लिए आपको एक महात्मा का उदाहरण लेना पड़ेगा।

एक महात्मा भ्रमण करते करते किसी गांव में चले गये। वे जहां भी जाते वहाँ के मलिन-आत्मा लोग भी उनके दर्शन करते ही शुद्धात्मा हो जाते थे। उसी नगर में एक सेठ भी रहता था। उसका बेटा बड़ा शराबी और दुराचारी था। उस सेठने भी महात्मा से प्रार्थना की कि यदि आप मेरे पुत्र को शराब आदि व्यसन से छुटकारा दिला दें तो मैं कुल-कलंक से बच जाऊं। महात्मा ने सेठ से कहा कि अच्छा उसे यहां ले आओ। हम उसे समझा बुझाकर ठीक मार्ग पर चलने का उपदेश देंगे। तब सेठ ने कहा कि महाराज! बस यही तो दुःख है कि वह किसी महात्मा के दर्शन ही नहीं करता। यदि मैंने आपके दर्शन करने की बात उससे कही तो मुझे ही गालियां देना आरम्भ कर देगा और शायद बढ़ते बढ़ते आप तक भी हाथ मारे। महात्माजी ने कहा कि अच्छा आप जाइये, हम उसे स्वयं बुला लेंगे। तदनन्तर महात्माजी ने अपनी कुटिया के सामने बहुत बढ़िया शराब मिलने का साईन-बोर्ड लगा दिया। जब उस सेठ के पुत्र ने देखा तो बहुत प्रसन्न हुआ और अपने साथियों को साथ लेकर शराब पीने की इच्छा से वहां आया। कुटिया के सामने पहुंचते ही महात्मा के दर्शनों से वे सब निष्पाप और निर्विकार हो गये। शराब आदि पीने के कलुषित विचार कपूर हो गये और वे प्रभु के परम भक्त बन गये।

अब आप विचार करें कि वैसे तो महात्मा के लिए शराब का साईन-बोर्ड लगाना धर्म-विरुद्ध है; परन्तु उन्होंने विशेष समय और विशेष कार्य के लिए ऐसा किया। प्रभु श्रीकृष्णने भी समझा कि वैसे तो ये गोपियां निर्विकार होंगी नहीं; अतः मधुर मुरली-वादन का ऐसा चित्ताकर्षक साईन-बोर्ड लगाया कि गोपियां बरबस खिंचती चली आयीं। गोपियां यह विचार कर आयीं थीं कि यहां हमारी विषय-वासना अवश्य ही पूर्ण हो जायगी। परन्तु आप्तकाम भगवान् ने अपने दर्शन और स्पर्श-मात्र से ही गोपियों के कलुषित भाव को दूर करके उनके अन्तःकरण को शुद्ध और शान्त बना दिया।

२७

गुरुदेव तथा विधाता की मस्तक-रेखा

(९-९-१९३८)

सज्जनो! गोपियां भगवान् की परम भक्ता थीं। परन्तु स्त्री-स्वभाव-सुलभ विषय-कामना ने उन्हें कुछ कुछ आ घेरा था, जिसे प्रभु ने तुरन्त दूर कर गोपियों को निर्विकार और शुद्धान्तःकरण बना दिया। क्योंकि यह तो नियम है कि जो प्रभु के ध्यान में मग्न हो जाता है उसके हृदय से विषय-वासना सदा के लिए विदा हो जाती है। प्रभु के ध्यान-मात्र से सब मलिनता कपूर हो जाती है। प्रभु तो स्वयं भागवत में कह रहे हैं—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥

(भा. १०,२२,२६)

जिन्होंने मेरे स्मरण में ही अपनी बुद्धि को लगा दिया है, उनकी काम-भावना अंकुरित ही नहीं होती। जैसे भुने हुए और उबाले हुए धान, शक्ति के नष्ट हो जाने से कभी अंकुरित नहीं हो सकते। अतः सिद्ध हुआ कि गोपियों ने चाहे काम-भावना प्रकट भी की हो परन्तु उनकी काम-भावना प्रभु के सामने सफल न हो सकी। इससे गोपियां आसक्ता न बन भक्ता ही बन गईं, जिसके विषय में आपके सामने दस पंद्रह दिन से कहा जा रहा है।

यहां तक रासलीला का आधिभौतिक या स्थूल भाव ही बतलाया गया है। अब आपको इसका आधिदैविक और आध्यात्मिक भाव भी बतलाया जायगा। परन्तु रासलीला के एक दो श्लोक और शेष रह गये हैं जिनको लेकर लोग शंका करने के लिए कटि-बद्ध हो जाते हैं। अतः प्रथम उन्हीं का गूढ़-भाव प्रकट कर देना आवश्यक समझता हूं—

व्यक्तं भवान् व्रजभयार्तिहरोऽभिजातो,
देवो यथाऽऽदिपुरुषः सुरलोकगोप्ता ।
तन्नो निधेहि करपंकजमार्तबन्धो,
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किंकरीणाम्॥

(भा. १०·२९·४१)

हे प्रभो! आप देवलोक की रक्षा करने के लिये भांति भांति के रूप धारण करते हैं। आपने ही आदि काल में वामनादि अनेक अवतार धारण किये हैं। अब आप व्रज के दुःखों को हरने के लिये प्रकट हुए हैं। जिस व्रज में अनेक दुष्ट अपने अत्याचार का जाल फैला रहे थे, उनको आपने समूल नष्ट कर दिया। भगवन्! आपका तो नाम ही दीन-बन्धु है। आप सर्वदा दीन दुःखियों की सेवा करते आये हैं। हम भी आपकी दीन सेविकाएं हैं। अतः आप हमारे तप्त-स्तनों और शिर पर अपना कर-कमल रखें, जिससे हमें शान्ति प्राप्त हो सके।

यहां पर तप्त-स्तनों और मस्तक पर हाथ रखने को सुनकर ही लोग शंका किया करते हैं कि देखिये कैसी अश्लील बातें हैं! श्रीकृष्ण भगवान् गोपियों के स्तन व मस्तक पर हाथ रख रहे हैं। पर उन शंकावादी प्रेमियों से यदि पूछा जाय कि क्यों भाई! मस्तक पर हाथ रखने में कौनसी कामुकता टपकती है? यह तो प्रत्येक भक्त ही प्रार्थना किया करता है कि हे देव! आपका हाथ मेरे सिर पर सदा बना रहे। मैं सर्वदा आपके आश्रित रहूँ। सेवक भी कभी कभी कहा करते हैं कि अजी! मुझे क्या परवाह है जब तक मेरे स्वामी का हाथ मेरे सिर पर है। अतः मस्तक पर हाथ रखना तो एक बड़े सौभाग्य की बात है। गुरुदेव के रूप में एक लौकिक मानव भी जब अपने भक्त के मस्तक पर हाथ रख कर उसके भाग्य को पलट सकता है, विधाता की बनाई हुई लकीरों को साफ कर सकता है तो पूर्ण पुरुष भगवान् की तो बात ही क्या कहें? यह बात शास्त्र-प्रमाणित है कि जो बातें हमारे भाग्य में हैं वे सब हमारे मस्तक में लिखी हुई हैं। इसी वास्ते नामदेव कहते हैं—

जौ गुरुदेव बुरा भला एक। जौ गुरुदेव ललाटैं लेख।

'गुरुदेव, विधाता द्वारा लिखी हुई उलटी रेखाओं को भी मस्तक पर हाथ फेरने से सीधी कर देते हैं अथवा मिटा ही देते हैं। इसका अनुभव भी कई बार किया जा चुका है।

शायद आपने सुना होगा कि लाहौर में मुग़लों के अन्तिम शासनकाल में एक नबाब राज्य करता था। उसी समय लाहौर में एक परम सुन्दरी सती-शिरोमणि देवी भी निवास करती थी। उसका पतिदेव किसी कारणवश परदेश में चला गया था। परन्तु वह देवी अपने पतिदेव के न होने पर भी पतिव्रतानुकूल ही आचरण किया करती थी और भगवान् के चिन्तन में ही अपना समय बिताया करती थी। इसी प्रकार कुछ समय व्यतीत होने पर भाग्य ने पलटा खाया और उसपर विपत्ति के बादल मंडराने लगे। एक दिन जब वह स्नानोत्तर अपने केश सुखाने के लिए अपने मकान की छतपर चढ़ी तो कामुक नवाब की कुदृष्टि सती साध्वी पर पड़ी और उसके रूप-लावण्य को देखकर वह मुग्ध हो गया। उस सती को अपने अन्तःपुर में लाने का उपाय सोचने लगा। एक कुट्टनी ने नवाब को चिन्तित अवस्था में देखा और उसके भावों को जानकर कहने लगी—"नवाब साहब! आप चिन्ता किस बात की कर रहे हैं? यह तो मेरे बायें हाथ का काम है। आप मुझे कुछ इनाम देना स्वीकार कीजिए वह स्त्री शीघ्र ही आपके महल में पहुंच जायगी।" नवाब ने जब इनाम देने का वचन दिया तो वह दूतिका प्रतिदिन उस सती के पास आने जाने लगी और अपने व्यवहार से उसके साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया कि वह सती देवी उसको माता के समान मानने लगी। पर उस बेचारी भोली-भाली पतिव्रता सती को यह पता नहीं था कि वह उसे जाल में फंसाना चाहती है।

एक दिन वह कुटिला स्त्री शोक-मग्न और चिन्ता-ग्रस्त रूप बना कर जब सती के घर पहुँची तो सती देवी ने उससे पूछा—माताजी! आप इतनी उदास क्यों हैं? क्या तुम्हें कोई शारीरिक कष्ट है? तब उसने कहा—बेटी! मैं तुम्हें किस मुख से बतलाऊं! तुम्हारे पर आनेवाले एक अनिष्ट की छायासे मैं बहुत चिन्तित हूं। क्योंकि तुम मेरी धर्म की बेटी हो अतः मैं तुम्हारा अनिष्ट होनेपर जीवित नहीं रह सकूंगी।" सती देवी ने पूछा "माताजी! क्या अनिष्ट होने वाला है?" कुटिला ने कहा-"बेटी! यह नवाब तुझे

अपने अन्तःपुर में बलात् ले जाना चाहता है, क्योंकि यह तेरे पर आसक्त हो गया है। मुझे विश्वास है कि तुम सती सावित्री और पद्मिनी जैसी नारियों के आदर्श को पालन करनेवाली एक पतिव्रता देवी हो। तुम अपने धर्म के लिये प्राण दे दोगी, जिससे मुझे असह्य कष्ट होगा। अतः मैं चाहती हूं कि तुम इस विपत्ति से बच जाओ; क्योंकि मनुष्य कलंक को तो जीता हुआ दूर कर सकता है, परन्तु मानव-जीवन मिलना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि—

जीवन् नरो भद्रशतानि पश्येत्।

"मनुष्य जीता हुआ तो अपनी जिन्दगी में अनेक मंगलमय दृश्यों को देख सकता है। यदि यह जीवन ही न रहा तो क्या देखेगा।" तब उस देवी ने पूछा—माताजी! इसका कोई उपाय? कुट्टनी ने कहा—"बेटी तुम्हारा नवाब के पास जाना ही श्रेष्ठ है। निःसन्देह नवाब के प्रस्ताव को स्वीकार करने से तुम्हारा धर्म तो नष्ट हो जायगा। परन्तु तुम उस अधर्म का धार्मिक क्रिया-कलाप से इसी जीवन में मार्जन कर सकती हो"। यह उपदेश सुन कर देवी ने कहा कि अच्छा माताजी! मैं नवाब के अन्तःपुर में जाने से पहले एक बार अपने गुरुदेव के दर्शन कर आऊँ, जो वन में तपस्या करते हैं। इतना सुन वह कुटिला बड़ी प्रसन्न हुई और नवाब से जाकर कहने लगी कि नवाब साहब आपका काम बन गया! मेरा इनाम लाइये।

इधर वह देवी अपने गुरुदेव के पास पहुंची। गुरुदेव उसको देखते ही जान गये कि वह आज पातिव्रत्य-धर्म से च्युत होने जा रही है। जो गुरुदेव पहले किसी स्त्री की छाया से भी दूर रहते थे, आज उन्हीं ने उस देवी को पास बैठाया और उसके मस्तक पर हाथ फेरने लगे, और पूछा—बेटी! प्रसन्न तो हो? गुरु का यह व्यवहार देखकर पास में बैठे लोग नाक-भौं सिकोड़ने लगे—कि देखो "कैसे श्रेष्ठ महात्मा थे पर आज एक युवती के मस्तक पर हाथ फेर रहे हैं"। परन्तु महात्मा ने कोई परवाह न की। ज्यों ही वह युवती गुरुदेव को प्रणाम करके चलने को तैयार हुई तो उसके विचार बदल गये। उसके मन में एकदम सती-सावित्री और पद्मिनी का चित्र नाचने लगा। वह उनके आदर्श का पालन करने के लिये कटि-बद्ध हो गयी। उसके मस्तक में जो पातिव्रत्य धर्म से च्युत होने की रेखा विधाता ने लिखी थी

वह गुरुदेव के हाथ के स्पर्श-मात्र से मिट गई। वह सोचने लगी—ओहो! मुझे धिक्कार है! क्या मैं सती पद्मिनी की जाति में पैदा होकर भी मृत्यु के डरसे अपना सतीत्व भ्रष्ट करूँ। जिस पद्मिनी ने अलाउद्दीन के आक्रमण करने पर अपने पति के शहीद होने का समाचार पा सखियों के साथ अपने निःसीम सौन्दर्य-शाली शरीर को सहर्ष धधकती हुई अग्नि की भेंट कर दिया था। धन्य है हिन्दु-जाति की वीरबाला पतिव्रता पद्मिनी को, जिसने प्रेमी के प्रति प्रेम दिखाने में सीमा ही पार कर दी। लोग तो पतंग को सच्चा प्रेमी कहते थे। परन्तु पद्मिनी ने पतंग को भी नीचा दिखा दिया। स्वयं अलाउद्दीन पद्मिनी के इस पतिप्रेम को देखकर कह उठा था—

हम चूज़ने हिन्दु कसे दर आशिकी दीवाना नेस्त।
सोख़तन बर शमा मुर्दा कारेकस परवाना नेस्त॥

"पतंग तो अपने प्रेमी दीपक पर तभी तक प्राण न्योछावर करता है जब तक उसका प्रेमी दीपक प्रज्वलित रहता है; पर हिन्दु जाति की नारियों को धन्य है जो अपने प्रेमी दीपक-रूप पति के बुझ जाने (शान्त हो जाने) पर भी प्राणों का बलिदान कर देती हैं।"

यह भाव उस सती देवी के मन में हिलोरें मारने लगा। सती पद्मिनी के उज्ज्वल आदर्श के सामने आते ही संसार के समस्त सुख ओझल हो गये। वह देवी अपने घर पहुंची और भली प्रकार सोलह श्रृंगार किये। प्रवास में गये हुए अपने पति को स्मरण कर पेट में तेज़ कटार का एक ही वार किया कि प्राण-पखेरू नीड़ को सदा के लिये खाली छोड़कर उड़ गये। वह सती देवी स्वयं अमर होकर हिन्दु-जाति की नारियों के लिये पातिव्रत्य का आदर्श छोड़ गई। इसी देवी की यादगार में आज तक भी लाहौर में स्मारक विद्यमान है, जहां प्रत्येक वर्ष एक विशेष दिन में लोग एकत्रित होकर अपनी श्रद्धांजलि भेंट करते हैं।

यहां कहने का भाव केवल यही है कि उस देवी के मस्तक की उलटी लकीरें गुरुदेव के हाथ का स्पर्श करने मात्र से मिट गई। जिनके रहने से वह देवी अपना धर्म भ्रष्ट करके अनेक नारकीय यातनाओं की पात्र हो सकती थी। उसके श्रेष्ठ भावों का परिवर्तन करनेवाला वह गुरुदेव के हाथ

का स्पर्श ही तो था। अतः गोपियां भी चाहती थीं कि गुरुओं के गुरु प्रभु श्रीकृष्ण का हाथ यदि हमारे मस्तक पर फिर जाये तो हमारे दुर्भाग्य की लकीरें मिट सकती हैं। जिससे हम सौभाग्यवती होकर प्रभु का ही ध्यान कर सकें।

अब आप यह भी कहे विना नहीं रहेंगे कि स्वामी जी! यहां "ततस्तन" पद भी कहा है। इसे कहां छिपाओगे?

अच्छा, आप इसका भी गूढ भाव समझ लें। न मालूम लोग ऐसी श्रेष्ठ बातों को समझने की कोशिश क्यों नहीं करते। ये बातें बहुत शिक्षा-प्रद हैं। काम-वासना की तो इसमें गन्ध भी नहीं है।

सन्ताप मन की वृत्ति है। जो भी अपने इष्ट-देव के विरह से सन्ताप होता है, वह हृदय में ही रह सकता है। स्तन तो अचेतन हैं। स्तन हृदय के ऊपर ही होते हैं। हृदय का नाम न लेकर स्तनों का नाम आधार-आधेय भाव की दृष्टि से कह दिया। "शुक्लमानय" शुक्ल-गुण के आधार वस्त्र को ले आओ। क्योंकि शुक्ल, गुण है और निराकार है। अतः उसका लाना नहीं हो सकता। यहां शुक्ल-रंग आधेय है और वस्त्र आधार है। वस्त्र—आधार का नाम न लेकर आधेय शुक्ल गुण का नाम ले दिया। इसी प्रकार आधार-भूत हृदय का नाम न लेकर आधेय स्तनों का नाम ले दिया है। स्तन शब्द का अर्थ स्तन का आधार हृदय है और उसी का सन्तप्त होना संभव भी है। मांस-पिंड स्तन में सन्ताप की संभावना ही नहीं। भाव यह निकला कि गोपियां भगवान् से प्रार्थना कर रही हैं कि—हे प्रभो! आपके विरह से हमारा हृदय सन्तप्त हो रहा है। अतः आप उसे हाथ रखकर शान्त करें। क्योंकि हृदय और मस्तक में ही ज्ञान रहता है। ज्ञान कब होगा जब कि गुरुदेव के हाथ का स्पर्श होगा और तभी आत्म-ज्योति का प्रकाश भी होगा। अतः यहां विषय-वासना की तो गन्ध भी नहीं है। केवल गोपियों का भाव यही है कि आप हमारे मस्तक की भाग्य-रेखा को बदल दें और हमारे हृदय को इतना निर्मल बना दें ताकि वह आपके निवास-योग्य बन सके। थोड़ी देर के लिये यह भी मान लिया जाय कि गोपियों का भाव मलिन था; तब भी कोई हानि नहीं। क्योंकि जिज्ञासु तो पहले मलिन-हृदय ही होता है। गुरुदेव की कृपा-प्राप्ति के पश्चात् ही निर्मल हो सकता है।

अब आप उस श्लोक को भी सुन लें, जिसको शंकावादी अपनी शंका का पूरा मसाला समझते हैं और कहते हैं कि इस श्लोक में तो श्रीकृष्णजी की कामुकता की पोल खुल ही जाती है। श्लोक इस प्रकार है—

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयांचकार॥

(भा० १०,२९,४६)

हाथ फैलाना, आलिंगन करना, गोपियों के हाथ दबाना, उनकी चोटी, जांघ, नीवी और स्तन आदिका स्पर्श करना, विनोद करना, नख-क्षत करना, विनोद-पूर्ण चितवन से देखना और मुसकाना—इन क्रियाओं द्वारा गोपियों के दिव्य काम-रस, परमोज्ज्वल प्रेम-भाव को उत्तेजित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें क्रीड़ा द्वारा आनन्दित करने लगे।

आप इस श्लोक में बाहुप्रसारादि कामुक क्रियाओं को सुनकर अवश्य कहेंगे कि देखो! यहां तो स्पष्ट ही हो गया है कि कृष्ण भगवान् भुजाओं को फैला गोपियों से आलिंगन कर रहे हैं। इससे तो कामुकता ही प्रकट होती है। क्योंकि नाचना, कूदना, आलिंगन करना, स्तनों का स्पर्श करना आदि क्रियाएं रतिभाव की सहचरी-सी ही प्रतीत हो रही हैं। परन्तु ऐसा नहीं–यहां भी निवृत्ति-मार्ग ही बतलाया गया है। क्योंकि आप सुनते तथा पढ़ते भी हैं कि वेदों से लेकर पुराणों तथा सूरदास, तुलसीदास, फरीद और कबीर साहब आदि के भाषा-ग्रंथों तक में भी ऐसे वर्णन हैं, जो सुनने में तो अश्लील प्रतीत होते हैं, परन्तु उसका अर्थ परमार्थ-परक ही रहता है। हमारे साहित्य में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं। यह शैली आदिकाल से चली आरही है। क्योंकि ऋषि महर्षियों ने सोचा कि यह संसार माया-ग्रस्त है। अतः ब्रह्म-तत्त्व भी यदि मायिक भावों से समझाया जावे तो शीघ्र ही समझमें आ जायगा। वास्तव में यह बात है भी ठीक; क्योंकि यदि आप कोई बात किसी वैज्ञानिक को समझाना चाहते हैं तो वह तब तक ठीक प्रकार से नहीं समझ सकेगा, जब तक आप उसे विज्ञान के ढंग से न समझायेंगे। इसी प्रकार गणितज्ञ को गणित के तरीके से, वकील को वकालत के ढंग से ही किसी बात को समझा सकते हैं। अतः ऋषियों ने भी यही उपाय अपनाया कि यदि सांसारिक प्राणियों को कोई

रहस्य समझाना हो तो माया के रास्ते से ही उनको शीघ्र समझाया जा सकेगा। अतः इस उपाय का प्रत्येक भाषा-कवि ने आश्रय लिया। क्या वेदों और क्या भाषा-ग्रंथों में भक्त को पत्नी और परमात्मा को पति कहा गया है। जैसेः—

"पेवकड़े दिन चार सौहरडे जाना री"

यहां यह भाव प्रकट किया गया है कि लड़की मैके तो थोड़े ही दिन रह सकती है। अन्त में उसे ससुराल में ही जाना पड़ेगा। इसी प्रकार यह संसार जीवात्मा के लिये मैका (माता का गृह) है। इसमें तो थोड़े ही दिन रहना है। अन्तमें इसे ससुराल—भगवद्-धाम में ही जाना पड़ेगा। कविवर कबीर साहब भी जीव और ईश्वर के विवाह का क्या सुंदर दृश्य उपस्थित कर रहे हैं :—

गाओ गाओ री सखी मंगलाचार।
मेरे गृह आये राजा राम भरतार॥
नाभिकमलमें बेदी रचले ब्रह्मज्ञान उचारा।
रामराय से दुलहा पाये अस बड़ भाग हमारा॥
सुर नर मुनिजन कौतुक आये कोटि तैतीस जाना।
कह कबीर मोहि ब्याह चले हैं पुरुष एक भगवाना॥

यहां कबीर अपने विवाह का वर्णन स्वयं कर रहे हैं और सबको विवाह में सम्मिलित होने का निमंत्रण भी दे रहे हैं। दुलहा भी कोई साधारण नहीं, विश्वपति हैं और बारात भी उसीके अनुकूल है, जिसमें मानव ऋषि मुनि और तेंतीस कोटि देवता पधारे हुए हैं। नाभि-कमल-स्थित मणिपूर चक्र में वेदी रचाए गुरु के द्वारा 'तत्त्वमसि' व 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य वैवाहिक मंत्रों से जीव का परब्रह्म परमात्मा से विवाह सम्पन्न हो रहा है।

विवाह के पश्चात् के आकर्षण-शून्य वातावरण का स्वाभाविक चित्र भी क्या सुन्दर है—

कहन सुनन की कछु नहीं देखा देखी बात।
दुलहा दुलहन मिलि गये फीकी परी बरात॥

जब विवाह-कार्य सम्पन्न होने के पश्चात् पति-पत्नी अपने घर पहुंच जाते हैं तो विवाह-मंडप का दृश्य आकर्षण-रहित हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा तथा परमात्मा के मिलन के बाद संसार सार-हीन प्रतीत होने लगता है। समय आने पर पति को प्रदेश जाना पड़ता है। नई विवाहिता को घर काटने दौड़ता है। रात्रि बेचैनी से कटती है। दुलहन अपनी पड़ोसिन से अपना असह्य दुःख वर्णन करती है। फरीद के शब्दों में सुनिए—

अज्ज न सुत्ती कन्त संग अंग मुरे मुरझाय।
जाय पुच्छो दुहागिनी तुम कत रैन विहाय॥

इस पद्य का सीधा-साधा अर्थ तो यह है कि हे सखी! मैं अपने प्यारे पति के साथ आज ही नहीं सोई तो मेरे सब अंग मुरझा गये हैं। परन्तु उन विधवाओं से कोई जाकर पूछे कि वे पति-वियोग में अपना समय कितने दुःख से काट रही हैं—जिन्हें पति-मिलन की आशा का भी अवलम्ब प्राप्त नहीं। परन्तु इसका वास्तविक अर्थ कुछ और ही है। भक्त कहता है कि आज ही मैंने प्रभु के दर्शन नहीं किये तो मुझे महान् दुःख हो रहा है। परन्तु जो कभी भी प्रभु का दर्शन नहीं करते, उनकी हालत क्या होती होगी। क्योंकि भक्त ही प्रभु के विरह की अग्नि के दुःख को जान सकता है।

अब आप विचार करें कि यदि यहां हम अश्लीलता ही समझें तो यह हमारी मूर्खता है। मैंने भी एक बार अपने स्नेही महात्मा से पूछा कि क्यों जी! आपको ऐसा प्रभु-प्रेम कब से हुआ? तब उन्होंने कहा कि स्वामीजी! मैंने एक दिन कन्याओं का पंजाबी भाषा का गाना सुना :—

रंडियां दे विच बैह के तैनूं किसे ना सुहागन कहना।

"यदि कोई सधवा स्त्री विधवाओं के मध्य बैठ जाए तो लोग उसे विधवा ही समझेंगे, सधवा नहीं।" इसका भाव यह है कि जो प्रभु को याद करते हैं वे तो सधवा हैं और जो प्रभु को भूले हुए हैं–वे विधवा हैं। क्योंकि जो प्रभु-भक्त होगा, उसका पति स्वयं प्रभु ही होगा। अतः यदि हम विधवाओं अर्थात् कुसंगी पुरुषों में बैठेंगे तो हमें कौन प्रभु-भक्त कहेगा। अतः जिस दिन से मैंने वह गीत सुना है, तभी से प्रभु-स्मरण में लीन रहता हुआ एकान्त-वास

करता हूं। इस प्रकार आपको अनेक उदाहरण मिल सकते हैं, जो सुनने में तो अश्लील प्रतीत होते हैं, पर उनका भाव परमार्थ-परक ही होता है। दूर जाने की भी आवश्यकता नहीं। गीता में ही देख लीजिए—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

(गीता. १४,३)

हे अर्जुन! महत् ब्रह्म=प्रकृति, मेरी योनि (पत्नी) है—गर्भाधान का स्थान है, और मैं उसमें गर्भ-स्थापन करता हूँ। जिससे सब भूत पैदा होते हैं। अब यहां पर बात तो इतनी ही कहनी थी कि प्रकृति और पुरुष के संयोग से जगत् की उत्पत्ति होती है। परन्तु प्रकृति को योनि कहा गया और उसमें गर्भ स्थापन करने की बात कही गई। तो क्या ये अश्लील शब्द नही हैं? कहना होगा कि नहीं। यहां अश्लीलता प्रकट करने का तात्पर्य नहीं है। यह तो वर्णन करने की एक शैली है जिससे विषय-वासना में ग्रस्त लोक शीघ्र ही प्रकृति-पुरुष का तत्त्व समझ सकें।

बस अब स्पष्ट हो गया कि भागवत में जो बाहु–प्रसार तथा आलिंगन आदि दिखाया गया है वह निवृत्ति-परक भाव को ही दर्शाता है। संस्कृत--साहित्य में व्यासादि महर्षियों ने और भाषा–साहित्य में सूर, तुलसी और कबीर आदि भक्त-कवियों ने संसारी जीवों के लिये प्रसिद्ध पति-पत्नी के शृंगार रस के दृष्टान्त से जीव-रूपी पत्नी और परमात्मा-रूपी पति के साथ मधुर भाव का वर्णन किया है। यही मधुर भाव गोपियों में था। उस मधुर भाव के स्वरूप को समझने के लिये भक्तिरस के प्रसिद्ध शान्त आदि पंचविध भावों पर विचार करना अत्यावश्यक है। अतः भावों का विवेचन कल करेंगे।

२८

व्यावहारिक शिक्षा के प्रतीक—पञ्चभूत

(१०-९-१९३८)

सज्जनो ! गोपियों ने मधुर भाव द्वारा प्रभु श्रीकृष्ण की सेवा में आत्म-निवेदन कर दिया था। क्योंकि भक्ति-राज्यमें पांच प्रकार के भाव माने गये हैं, जिनके द्वारा प्रभु भक्त के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है। प्रथम भाव शान्त है जो सब भावों का मूल है। इस भाव में आकर भक्त सांसारिक पदार्थों में अरुचि पैदा कर विरक्त हो जाता है और समझ लेता है कि प्रभु सब जगह व्यापक है। प्रभु की सत्ता ही सर्वत्र समाई हुई है। प्रभु से बढ़ कर अन्य कोई शक्ति गौरवास्पद नहीं है। यही प्रभु-सम्बन्धी गौरव भक्त के निर्मल अन्तःकरण में घर कर जाता है। बस यही शान्त-भाव कहलाता है। इसी मूल-भूत शान्तभाव से ही अन्य भावों में उत्तरोत्तर उन्नति होती जाती है।

इसे आप यूं समझ सकते हैं कि जैसे माया-शबल ब्रह्म से प्रथम आकाश उत्पन्न होता है। यह माया-शबल ब्रह्म का प्रथम बेटा कहिये। माया-शबल ब्रह्म तो शब्दादि गुणों से रहित ही है। परन्तु इस आकाश ने अपने पिता से अधिक जो गुण पैदा किया, वह है शब्द। उससे आकाश में विलक्षणता आगई कि वह शब्द-गुण-विशिष्ट हो गया। आकाश का पुत्र हुआ वायु। इसने अपने पिता से अधिक एक नया गुण भी ग्रहण कर लिया और आकाश-रूपी पिता के शब्द-गुण को भी स्थायी रखा। वायु में स्पर्श भी है—जब वायु चलती है तो एक प्रकार का शब्द भी पैदा करती है। इसने अपने पिता की सम्पत्ति को भी न जाने दिया और अपने आप नई सम्पत्ति भी पैदा कर ली। यही तो सुपुत्र की पहचान है कि जो पिता से जायदाद मिले उसे भी स्थिर रखे और उससे अधिक जायदाद और उत्पन्न करे। पर आजकल तो ऐसे पुत्र देखे जाते हैं कि अपने आप तो सम्पत्ति पैदा करना दूर रहा, अपितु

पिता से मिली हुई को भी मिट्टी में मिला देते हैं। पिता से मिली सम्पत्ति को देख फूले नहीं समाते। विषय-वासना के चक्कर में पड़कर थोड़े ही दिनों में सब धन की सफाई कर डालते हैं। परन्तु ये पुत्र के लक्षण नहीं होते। पुत्र तो वही है, जो अपने पिता से भी अधिक सम्पत्ति पैदा कर दिखलावे।

यही शिक्षा हमें ये पांच तत्त्व दे रहे हैं। ये कैसे होशियार और कार्य-कुशल पुत्र पैदा हुए जो अपने पिता, पितामह, प्रपितामह तक की सम्पत्ति को स्थायी रखते हुए स्वयं अपने आप भी नई सम्पत्ति पैदा कर लेते हैं।

इसे आप इस प्रकार समझिये कि आकाश का पुत्र हुआ वायु—इसने अपने पिता की सम्पत्ति शब्द को भी स्थिर रखा और अपने आप भी एक नई सम्पत्ति 'स्पर्श' उत्पन्न करली। अब वायु का पुत्र हुआ अग्नि क्योंकि वायु से अग्नि ही पैदा होती है। अग्नि ने नया गुण (रूप) पैदा किया और अपने दादा आकाश के शब्द-गुण को भी रखा—क्योंकि जब आग जलती है तो भुक् भुक् ऐसा शब्द किया करती है। अतः सिद्ध हुआ कि अग्नि में रूप भी है, शब्द भी है और इसका पिता जो वायु है उसका गुण स्पर्श—वह भी अग्नि में वर्तमान है। अपना नया पैदा किया गुण 'रूप' भी विद्यमान है। इससे हमें यह शिक्षा मिली कि अग्नि ने पितामह आकाश की सम्पत्ति शब्द को तथा पिता वायु की सम्पत्ति स्पर्श को स्थायी रखते हुए एक नया धन (रूप) पैदा कर लिया। अग्नि शब्द, स्पर्श और रूप का स्वामी बन बैठा। अब इसके बाद अग्नि का पुत्र जल हुआ; क्योंकि अग्नि से जल ही उत्पन्न होता है। अतः जल ने नया धन (रस) पैदा किया, क्योंकि जल का गुण मधुर 'रस' होता है। यदि आप जल का आस्वादन करें तो आपको मधुर लगेगा। अतः जल ने तो कमाल ही कर दिया क्योंकि अपने प्रपितामह-आकाश का शब्द-गुण, अपने पितामह वायु का स्पर्श और अपने पिता अग्नि का रूप गुण भी संभाला। तो जल के पास शब्द, स्पर्श, रूप और रस इतनी सम्पत्ति हो गई। इसके पश्चात् जल की एक लड़की उत्पन्न हुई पृथिवी। क्योंकि जल के अनन्तर पृथिवी का ही निर्माण होता है। पर यह पृथिवी नाम की लड़की ऐसी विदुषी और कार्य-कुशल निकली कि इसने अपने वंश की सम्पत्ति को भी संभाल कर रखा और एक नया गुण "गन्ध" भी पैदा कर लिया। क्योंकि पृथिवी का गुण गन्ध ही होता है। अब इसके पास शब्द, स्पर्श, रूप,

रस और गन्ध ये पांच गुण इकट्ठे हो गये। इन सब को आप एक पुष्प द्वारा अनुभव कर सकते हैं जो पृथिवी का ही कार्य है। पुष्प को हिलायें तो शब्द पैदा होगा। यदि छुएं तो स्पर्श भी प्रतीत होगा। पुष्प का लाल, हरा, पीला और श्वेत रूप भी होता है। यदि पुष्प को खाएं तो रस भी मालूम होगा। यदि सूंघें तो गन्ध भी अवश्य आयेगी। इसमें सब गुण पाये गये। ये सब पृथिवी के ही गुण हुये। भाव यह निकला कि इन पांचों भूतों में उत्तरोत्तर उन्नति होती गई।

इसी प्रकार आप भक्ति के पांचों भावों को भी समझ लें। प्रथम शान्त भाव है–जिसमें भक्त प्रभु के गौरव को समझ कर विरक्त हो जाता है। उसके अनन्तर जो दास्य भाव आया—उसमें भक्त प्रभु के गौरव को भी रखता है। जो शान्त भाव में था–वह भी दास्य भाव में रहा और दूसरा सेवाभाव भी उत्पन्न हो गया। दूसरे भाव दास्य अर्थात् सेवामें, भक्त भगवत्–सेवा को ही अपना जीवन-व्रत बना लेता है। मनसा वाचा कर्मणा उन्हीं की सेवा में तत्पर रहता है। उसका भगवत्-सेवा में इतना अधिक अनुराग बढ़ जाता है कि भगवत्-सेवा से वंचित रहकर जीना भी नहीं चाहता। यही शान्त-भावसे दास्य-भाव का अधिक गुण है। फिर भी भक्त के हृदय में संकोच और भय बना रहता है। वह दिल खोलकर प्रभु से बात करने में झिझकता है और डरता है कि मेरे स्वामी मेरे पर क्रुद्ध न हो जायें। सेवक सदा चाहता है कि मेरे प्रभु प्रसन्न रहें, कभी भी मेरे पर क्रुद्ध न हों। ऐसी इच्छा सेवक की सदा बनी रहती है और सदा प्रभु से संकोच बना रहता है। दास्य-भाव के अनन्तर सख्य-भाव आया। इसमें भक्त को प्रभु पर पूरा विश्वास हो जाता है। यह डर नहीं रहता कि प्रभु मेरे पर क्रुद्ध हो जायेंगे, मेरी क्रिया से असंतुष्ट रहेंगे। जैसे एक मित्र अपने मित्र के साथ व्यवहार करता है, वैसे ही भक्त भी सख्य-भाव में सखा-भाव से प्रभु के साथ रहता है। पर इसमें प्रभु का गौरव भक्त के हृदय में होता है और सेवा-भाव भी रहता है तथा सख्य-भाव भी आ जाता है। यह बात नहीं है कि जो सम्बन्ध शान्त-भाव और दास्य-भाव में थे वे नहीं होते, वे भी होते हैं और एक नया सम्बन्ध भी बढ़ जाता है। इसके कारण भक्त निःसंकोच और निर्भीक बन जाता है। सख्य-भाव के उदाहरण को आप सुदामा को लक्ष्य कर भली प्रकार समझ सकते हैं।

सुदामाजी बाल्यकाल में श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् के सखा थे। विद्या-गुरु सान्दीपनी जी के पास विद्याध्ययन करते थे। सुदामा बड़े प्रौढ़ विद्वान्, विषयों से विरक्त, शान्त तथा निष्काम थे। विद्याध्ययन करके दोनों सखा अपने अपने घर चले गये। परन्तु सुदामा के घर की अवस्था अच्छी न थी। कई कई दिन तक सुदामा के परिवार को भरपेट भोजन भी न मिलता था। सुदामा की पत्नी भूख के मारे बिलबिलाते बच्चों को देख नित्य दुःखी हो जाती थी। जब उसको पता चला कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्णचन्द्र जी मेरे पति के सखा हैं, तो एक दिन अपने घर की सब अवस्था बता अपने पति को द्वारिका भेजने लगी। परन्तु सुदामा निष्काम भक्त थे। कहने लगे—सरले! तू मुझे धन के लिये वहां भेजना चाहती है? क्या कभी ब्राह्मण धन की इच्छा किया करते हैं? ब्राह्मण का काम तो केवल प्रभु का भजन करना है। ब्राह्मणी ने कहा—यह तो आपका कहना उचित है। परन्तु करें क्या, यहां तो भिक्षा भी प्राप्त नहीं होती। भूख से रुदन करते हुए जब मेरे पुत्र मेरे फटे हुए चीथड़े खींचते हैं, तब मेरा दिल भर आता है। उनके मुख की ओर देखा नहीं जाता। स्वामिन्! मुझे धन नहीं चाहिये। मैं यह नहीं कहती कि आप उनसे राज्य या लक्ष्मी मांगो। केवल आप इस दीन-दशा में उनके पास एक बार जा आवें। परन्तु सुदामा तो डरते थे कि कहीं मेरी निष्कामता पर धब्बा न आ जाय। भक्त लोग तो यहां तक भी चाहते हैं कि क्या ही अच्छा होता कि प्रभु सर्वज्ञ न होते और न ही हमारी इच्छाओं को जान सकते। सर्वज्ञ होने पर प्रभु को हमारी निष्काम सेवा का पता लग जाता है और वे झट हमें कोई न कोई फल देकर सकाम बना देते हैं। अतः इसी सकाम भाव के डरसे सुदामा भगवान् के समीप जाने से सकुचाते थे। सोचते थे कि लोग ऐसा न समझ लें कि सुदामा कुछ लेने आया है। धन्य है ऐसे निष्काम भक्त को जिसका मित्र चक्रवर्ती राजा प्रभु श्रीकृष्ण हो, फिर भी एक कौड़ी की इच्छा न करे।

इसके विपरीत यदि आजकल आपका कोई मित्र एक छोटा सा सरकारी अधिकारी–डिपुटी कमिश्नर भी हो जाता है तो आप यह समाचार पाते ही लगते हैं टेलीफोन खटखटाने। तब अपना परिचय देने में अतिशयोक्ति-पूर्ण ढंग का सहारा लेते हैं—अमुक स्थान पर हम इकट्ठे रहते थे–बचपन में

साथ साथ पाठशाला जाया करते थे। विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-समारोह में लिया गया हमारा चित्र अभी तक हमारी मित्रता की घोषणा कर रहा है। परन्तु डिपुटी कमिश्नर साहब का तो अब रंग ही दूसरा है—अब कहां वह मित्रता? कैसे घनिष्ठ सम्बन्ध? अब तो नाम भी अपरिचित सा प्रतीत होता है। उत्तर मिलता है कि संभव है कहीं मिले होंगे। अब कुछ ठीक ठीक स्मरण नही आता, क्योंकि मिलने वाले बहुत हैं।

कहने का भाव यह है कि आप तो अपने मित्र को एक छोटे से पद पर देखकर ही मिलने को उतावले हो जाते हैं और चाहते हैं कि कोई न कोई छोटी मोटी नौकरी तो दिलवा ही देगा। पर सुदामा का मित्र तो चक्रवर्ती राजा है। फिर भी "सकाम न हो जाऊं" इस भय से अपने मित्र से मिलना भी नहीं चाहता है।

अस्तु, स्त्री के आग्रह से जाना ही पड़ता है। सुदामा ने सोचा कि अच्छा श्रीकृष्णजी के दुर्लभ दर्शनों का ही लाभ होगा। अपनी स्त्री से कहने लगे—कल्याणि! खाली हाथ मित्र के पास जाऊं कैसे? कुछ भेंट तो मित्र के पास ले ही जानी चाहिये। तब बेचारी सारे घर की तलाशी लेकर मुट्ठी भर चावल ले आई और मैले कुचैले चीथड़े में बान्धकर दे दिये।

ज्यों ही सुदामाजी द्वारिका पहुंचे और प्रभु श्रीकृष्ण के महल के सामने गये तो वहां द्वारपाल खड़ा था। जब सुदामा ने प्रभु श्रीकृष्ण से मिलने के लिये द्वारपाल से पूछा तो द्वारपाल हँसकर कहने लगा कि वाह जी वाह! तुम्हारी सूरत तो ऐसी ही है कि जो प्रभु श्रीकृष्ण के साथ मिल सको। यहां तो बड़े बड़े राजा महाराजा भी भगवान् से नहीं मिल सकते। हटो, क्यों फर्श मैला कर रहे हो। पर सुदामा ने पुनः कहा कि अरे भाई! तुम्हारा कहने में तो कुछ नहीं बिगड़ता। तुम कह तो दो कि सुदामा नाम का ब्राह्मण आपसे मिलना चाहता है। अन्त में द्वारपाल ने सोचा कि ऐसा न हो कि यह वृद्ध ब्राह्मण शाप ही दे दे। अतः भगवान् से कहने में क्या हानि है। यह विचार कर द्वारपाल भगवान् के पास गया और चुपचाप खड़ा हो गया, क्योंकि यह समाचार कहते हुए भी उसे भय लगता था। उस समय भयभीत और कांपते हुए द्वारपाल से भगवान् ने पूछा—कहो क्या बात है? बोलते क्यों नहीं? द्वारपाल बोला—"प्रभो क्या कहूँ? मुझे एक साधारण सी बात कहते भी

डर लगता है।" सर्वज्ञ भगवान् सब कुछ जानते हुए भी कहने लगे—"डरो मत, कुछ तो बोलो" तब द्वारपाल कहता है—

सीस पगा न झगा तन पै प्रभु, न जाने को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी-सी लटी-दुपटी अरु, पायँ उपानह की और न सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल देखि, रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीन-दयालु को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

भगवान् ने जब "सुदामा" शब्द सुना तो सारी सुध-बुध भूल गये और हड़बड़ा कर उठे—मुकुट वहीं रह गया। पीताम्बर कहीं गिर गया। पादुका भी नहीं पहन पाये। एकदम द्वार की ओर दौड़ पड़े और जाकर सुदामा को गले लगा लिया। उसे सादर महल में लाये और अपने सिंहासन पर बैठा दिया—जिस सिंहासन को बड़े बड़े राजा भी स्पर्श नहीं कर सकते थे। ज्यों ही मित्र की बुरी हालत देखी तो कहने लगे—

काहे बिहाल विवाइन सों पग कंटकजाल गडे पुनि जोए।
हाय महादुःख पाये सखा तुम, आये इतै न, कितै दिन खोए॥
देखि सुदामा की दीन दशा, करुना करिकै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुओ नहीं नैनन के जल से पग धोए॥

प्रभु, सुदामा की बुरी हालत देख इतने रोए कि पात्र से जल लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी, आंसुओं के जलसे ही परात भर गई। इधर श्रीकृष्ण जगत्-पति की पत्नी लक्ष्मीजी जो साक्षात् जगदम्बा हैं, रुक्मिणी रूपमें एक भिक्षुक का पाँव पखार रही हैं। क्या इससे बढ़कर भी कहीं मित्रता का उदाहरण मिल सकता है? अतः किसी ने क्या ही सुन्दर कहा है—

जेहि सुर सदा पुकारते जगदम्बा जगतारनी।
तिन्हें आज सुर देखते भिक्षुक चरन पखारनी॥

पाँव धो चुकने के पश्चात् प्रभुने सुदामा को अच्छे अच्छे वस्त्र पहनाये और दोनों मित्र सिंहासन पर बैठकर बचपन की बातें स्मरण करने लगे। प्रभु श्रीकृष्ण बोले—मित्र! तुमने अपना पुराना स्वभाव बदला नहीं। पहले

जैसे कपटी ही प्रतीत होते हो। विद्यार्थी अवस्था में तुम अकेले ही चने चबाया करते थे और जब मैं पूछता कि सुदामाजी क्या खा रहे हो तो तुम कहा करते थे—"कुछ भी तो नहीं यह तो जाड़े के कारण दान्त खटखटा रहे हैं।" अस्तु, अब तो भाभी का दिया हुआ कुछ प्रसाद खिलाओ। सुदामा बगल में छिपाई हुई चावलों की पोटली को और भी ज़ोर से दबा लेता है। परन्तु प्रभु से क्या छिपा हुआ था। भगवान् ने हंसते हुए चावलों की पोटली बगल से जबरदस्ती खींच ली। फटे पुराने वस्त्र के कारण चावल चारों ओर बिखर गये। प्रभु उन्हें चुन चुन कर फंका लगाने लगे। जब दो फंकी लगा चुके और तीसरी की तैय्यारी करने लगे तो पास में बैठी हुई रुक्मिणी ने भगवान् का हाथ पकड़ लिया, जिसे इस प्रकार वर्णन किया गया है—

हाथ गहे प्रभुको कमला कहै नाथ कहा तुमने जिय धारी।
तंडुल खाय मुठी दोउ दीन कियो तुमने दोऊ लोक बिहारी॥
खाय के तीजी मुठी अब नाथ कहाँ निजवास की आस विचारी।
रंकहिं आप समान कियो तुम चाहत आपन होत भिखारी॥

रुक्मिणीजी कहती हैं—हे स्वामिन्! आपने दो मुट्ठी चावल खाकर दो लोक तो इस ब्राह्मण को दे डाले। अब तीसरी मुट्ठी खाकर तीसरा लोक भी इसे देना चाहते हो। क्या तुम भी भिखारी होना चाहते हो? आपने ज़रा विचार कर लेना! यह ब्राह्मण तो एक पत्नी का ही पति है। तुम यदि ऐसे भिखारी हो गये तो किस किसको साथ लिए कहां कहां फिरोगे? क्योंकि सोलह हज़ार एक सौ आठ तो रानियां ही हैं और उनके लड़कों की तो कोई गणना ही नहीं। तब प्रभु ने कहा—

काहे रस में विष वाम कियो मोहि और न खान दियो इक फँका।
ब्राह्मण लोक त्रितीय को देत करी तुम क्यों अपने जिय शंका॥
भामिनी मोहि जिमाय भली विधि कौन रह्यो जग में नर रंका।
लोक कहें हरिमित्र दुःखी यह मोते सह्यो नहीं जात कलंका॥

अब आप सख्य-भाव को समझ गये होंगे। इसके बाद वात्सल्य-भाव होता है—जिसमें प्रभु का गौरव और उनकी सेवा भी होती है। विश्वास

(संकोचाभाव) और प्रेम भी होता है। जैसे "मैं प्रभु की माता हूँ, मैं प्रभु का पिता हूँ।" नन्द तथा दशरथ, यशोदा तथा कौशल्या भगवान् कृष्ण और भगवान् राम को परब्रह्म सच्चिदानन्द मानते हुए भी अपना पुत्र समझते थे। माता-पिता के नाते उन्हें प्रेम भी करते थे। मारते पीटते भी थे और भगवान् समझकर सेवा भी करते थे। इस वात्सल्य में शान्त-भाव, दास्य-भाव और सख्यभाव भी रहते हैं। वत्सलता भी रहती है। इसके कारण लालन पालन की भावना और लौकिक व्यवहार की दृष्टि से, विपरीत आचरण के देखने पर ताड़ना और क्रोधका समावेश भी रहता है। जैसे कि पंचभूतों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है इसी प्रकार यहाँ वात्सल्य के बाद मधुर-भाव उत्पन्न होता है। इसमें तो भक्त प्रभु को आत्म-निवेदन कर देता है। सर्वथा तन्मय हो जाता है। इस मधुर-भाव में सब रस घनीभूत हो जाते हैं। इसी रस-राज में शान्त-रस का गौरव, दास्य-भाव की सेवा, सख्य-भाव का निःसंकोच, वात्सल्य भावका लालन-पालन और मधुर-भाव की एक-प्राणता का समावेश हो जाता है। स्वामी, भाई-बन्धु, माता-पिता, मित्र-सज्जनों में जो रस हमें भिन्न भिन्न प्रतीत होते थे वे अब मधुर-भाव में एक प्रभु में इकट्ठे हो जाते हैं और पर-ब्रह्मानन्द का अनुभव होने लगता है। भगवान् को ही एकमात्र अपने स्नेही, प्रेमी तथा पति मान कर उन की आराधना में लगे रहना ही मधुर-भाव है। मधुर-भाव के भक्त की दृष्टि में भगवान् ही एक पुरुष है। कारण कि जब माया भगवान् की पत्नी है, तो माया का विलास समस्त विश्वपत्नी-कोटि में ही मानना होगा। जैसे स्वर्णकार को किसी ने स्वर्ण दिया और उस स्वर्ण से बहुत से आभूषण तैयार हुए। तो उन स्वर्ण के आभूषणों का स्वामी वही होगा जो स्वर्ण का स्वामी था। इसी प्रकार मायानिर्मित समस्त विश्व का स्वामी भगवान् है। इस बात को अच्छी प्रकार से समझने के लिये आप एक प्रसिद्ध कथा का सहारा लें।

एक समय एक प्रसिद्ध महात्मा जीव गोस्वामी व्रज में रहा करते थे। उनका नियम था कि कोई स्त्री उनके दर्शन नहीं कर सकती थी। भक्त-शिरोमणि मीरा जब उनके दर्शन करने गई तो जीव गोस्वामी के शिष्य ने उससे कहा कि नारी को भीतर जानेका आदेश नहीं है। मीरा ने उस सन्त से कहा कि जीव गोस्वामी से जाकर कह दो कि वह तुरन्त व्रज से बाहर चले जायें।

२९

अहन्ता ममता की गाँठ और वैराग्य-शास्त्र

(१३-९-१९३८)

सज्जनो ! कल आपके सामने मधुर-भाव का वर्णन किया गया। इस मधुर-भाव में सभी रस इकट्ठे हो जाते हैं। बस इसी का नाम रासलीला है। अर्थात् जहां परब्रह्मानन्द-तुल्य सर्व-रसास्वाद का अनुभव हो, वही रासलीला कही जाती है।

आज आपको उन श्लोकों का तत्त्व बतलाया जायगा जिसको लेकर शंकावादी रासलीला को कामलीला ठहराना चाहते हैं। उस श्लोक की व्याख्या सुनने पर आपको पता चल जायगा कि काम की तो यहां गन्ध भी नहीं है, अपितु यह सन्यास-लीला है। क्योंकि रासलीला में जिन श्लोकों को अश्लील बताया जाता है, विचार करने पर उन्हीं श्लोकों से निवृत्ति-मार्ग की पुष्टि होती है। भागवत के इस श्लोक पर विचार कीजिये—

> बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
> क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुंदरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥
>
> (भा. १०, २९, ४६)

इस श्लोक में दो पक्ष लिये गये हैं—प्रथम—काम-संग्राम पक्ष, जिसके आधार पर भगवान् का काम-विजयी होना बतलाया गया है। दूसरा—शृंगाररस के बहाने निवृत्ति-मार्ग बतलाना।

प्रथम पक्ष के विषय में तो मैं पहले कह चुका हूँ कि कामदेव और श्रीकृष्ण भगवान् का युद्ध निश्चित हो गया था। कामदेव प्रभु श्रीकृष्ण पर भी विजय पाना चाहता था। परन्तु प्रभु ने उसे खुले शब्दों में चुनौती दे दी थी कि चाहे तू अपनी समस्त युद्ध-सामग्री से सन्नद्ध हो जा, फिर भी मैं तेरे से पराजित

होने वाला नहीं हूं। अतः कामदेव ने अपनी समस्त युद्ध-सामग्री एकत्रित कर ली। प्रभु का चुनौती देने का अभिप्राय यह था कि फिर कभी कामदेव सफल न होने पर, यह बहाना न बनाले कि मैं अमुक त्रुटि के कारण आपसे हार गया। जैसे दो योद्धा मैदान में लड़ रहे हों, तो बलवान् योद्धा कह दिया करता है कि तू अपनी ओर से सब ज़ोर लगा लेना। फिर न कहना कि मुझे यह सुविधा न मिल सकी, इस कारण से मैं हार गया। यही बात प्रभु श्रीकृष्ण कामदेव से सूचनार्थ कह रहे हैं। तभी कामदेव भुजाओं को फैलाना, आलिङ्गन करना, हाथों से हस्त-ग्रह और बालों को पकड़ना, कटिवस्त्र का छूना, नख-क्षत करना, कटाक्ष-पात करना, हँसना—इत्यादि शस्त्रास्त्र-सामग्री संपादन करके भगवान् को युद्ध के लिये ललकारने लगा। ऐसी सामग्री के तैयार होने पर कोई भी साधारण मनुष्य कामदेव के पंजे से मुक्त नहीं हो सकता, परन्तु प्रभु कृष्ण पर इसका कुछ भी प्रभाव न पड़ सका। श्रीकृष्ण भगवान् तो साक्षात् मन्मथ-मन्मथ ही रहे। कामदेव ऐसा हारा कि पुनः उसने कभी युद्ध का नाम भी नहीं लिया। तो कहने का भाव यह है कि काम-पक्ष लेकर यदि पूर्व कहे श्लोक में अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है तो हानि ही क्या? अपितु काम की युद्ध-सामग्री के प्रदर्शन की दृष्टि से अत्यावश्यक है—क्योंकि यदि ऐसी सामग्री तैय्यार न की जाती तो कामदेव को यह कहने का अवसर मिल जाता कि मैं तो अमुक कमी के कारण हार गया। प्रभु श्रीकृष्ण नहीं चाहते थे कि कामदेव फिर कभी अपना गौरव प्रदर्शित कर सके। श्रीकृष्ण ने तो स्पष्ट कह दिया कि फिर न शिकायत करना कि मैं पूर्ण तैय्यारी न कर सका। जो कुछ करना चाहते हो कर लो। अब आपको पता चल गया होगा कि यह श्लोक प्रभु कृष्ण को भोगी नहीं ठहरा सकता, अपितु यह तो कामदेव और श्रीकृष्ण भगवान् का शक्ति-परीक्षण का युद्ध था, जिसमें काम को मुँह की खानी पड़ी।

अब आप निवृत्ति-पक्ष को भी सुन लें। इस श्लोक में बतलाया गया है कि साधक जीव-भूमि से उठकर ब्रह्म-भूमि को कैसे प्राप्त कर सकता है। अब इसकी व्याख्या संस्कृत में सुनिये—

(मूलम्)बाहुप्रसारेति (भा. १०,२९,४६)।

बाहुरन्तःकरणम्—बहति संसृतियात्रामनेनेति व्युत्पत्तेः। बाहुवद् वस्तुग्रहण-हेतुत्वाद्वा। प्रकृष्टं सारं प्रसारं त्रिकालाबाध्यं परं ब्रह्म। बाहुनाऽन्तःकरणेन

प्रसारस्य परब्रह्मणः परिरम्भोऽवगाहनं विषयीकरणं, सच्चिदानन्दघनाखंडैकरस-ब्रह्माकारमनोवृत्तिरूपः स्वात्माभिन्नब्रह्मसाक्षात्कार इति यावत्। अपि वा—बाहुर्बाधकः सविलासाऽविद्यानिवर्तकः (बाधृ—विलोडने। भ्वादि, आ०पदी, सेट् ।५। औणादिक "उ प्रत्यये" धकारस्य हकारे च साधुः) स चासौ प्रसारपरिरम्भो ब्रह्मसाक्षात्कारः। प्रसारं ब्रह्मपरिरम्भो विषयो यस्येति बहुव्रीहिसमासात्।

(मूलम्) करालकोरुनीवीस्तनालभनम्—करैः रश्मिकल्पैः स्वसंसृष्टविषयाभासकैः दर्शनश्रवणादिवृत्तिविशेषैः सोपात्तविषयाकारैर्वा, अलन्ति भूषयन्ति आत्मानमिति करालका इन्द्रियाणि, देहादेरप्युपलक्षणम्। तैर्देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्धिभिः सह ऊरुर्महती नीवी कटिवसनग्रंथिस्तद्वद् दुर्भेदत्वात्। आत्माऽनात्मग्रंथिश्चिज्जडग्रंथ्यपरनामधेयः। अहंताममतालक्षणौ तादात्म्याध्याससंसर्गाध्यासाविति यावत्। तद्ग्रंथिप्रयुक्तः स्तनः शब्दः (ष्टन् शब्दे। भ्वादि प. पदी सेट् ४६१ धातोः घञर्थे कः प्रत्यये साधुः) व्याहरन्ति हि लोकाः स्थूलोऽहं कृशोऽहम् अन्धोऽहं काणोऽहम्। ममेदं शरीरं, मम चक्षुरादीन्द्रियं प्राणमनोबुद्धिश्चेति। तस्यालभनं हिंसनम्, तादृशशब्दप्रयोगस्यानुत्पत्तिरसंभवो वा। ब्रह्मसाक्षात्कारेण सविलासाऽज्ञाननिवृत्तेरिति भावः।

(मूलम्) नर्म—विनोदः शास्त्रार्थक्रीडा वादजल्पात्मिका तर्कवितर्कोपेता मिथः संलापलक्षणा विविधव्यंग्यादिपरिपूर्णा श्रवणमननव्यपदेश्या। यथा बृहदारण्यके राज्यसभायां याज्ञवल्केन जनकस्य शाकल्यादिमुनिवृन्दस्य च।

(मूलम्) नखाग्रपातः—नखाग्रस्य तद्वत्तीक्ष्णस्य विषयासक्तिछेदने समर्थस्य वैराग्यशस्त्रस्य पातः प्रवेशः साधकमनसि पूर्णवैराग्योदय इति यावत्। तैः बाह्वादिनखाग्रपातान्तैः। क्ष्वेल्या—क्ष्वेली = केली = क्रीडा (केलृ—खेलृ—क्ष्वेलृ चलने (५३७,५३८,५३९) भ्वादि प. पदी सेट्। क्ष्वेलृ धातोः औणादिक 'ई' प्रत्यये साधुः) सा च "आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः"। (मु. ३·३·१·४)। इति श्रुतौ वर्णिता आत्मदर्शी हि पुमान् आत्मन्येव रमते न तु बाह्यपुत्रादौ। तया क्ष्वेल्या आत्मक्रीडया।

(मूलम्) अवलोकहसितैः—अवलोकाः क्षयादिदोषदर्शनेन विषयेपु सर्वथा त्याज्यत्वबुद्धयः। हसितम् = अहो आपातरमणीया विषया विषकल्पा अमृतभावनया मया सेविताः, धिङ्माम् प्रमादिनमिति स्वाज्ञानविजृम्भितप्रमादस्मृत्या स्वात्मभर्त्सनागर्भो निजेषद्दन्तपंक्तिप्रकटनलक्षणो हासः। शोकापगम-

तृप्तिसूचको ब्रह्मानन्ददिव्यरसास्वादजनितो मुखप्रसादो वा। तैरवलोकहसितैः। रतिपतिं कामं गोपिकानां मनसि समुद्भूतम् उत्तम्भयन्=उत्थापयन् समूलघातमपघ्नन् रमयाञ्चकार ताः क्रीडयामास। भगवता कृष्णेनेतादृशी क्रीडा व्यधायि यया गोपिकानां कामः समूलघातमपहत इति तात्पर्यम्।

अत्रायं क्रमः—पूर्वं विवेकः ततो नखाग्रपातस्थानीयवैराग्योद्भवः। तस्मिन् सति विषयेषु सर्वथा त्याज्यत्वबुद्धिः स्वप्रमादस्मृतिजनितो हासश्च। वैराग्यं शमदमादिषट्सम्पत्तेरुपलक्षणम्। ततः साधनचतुष्टयसम्पत्तौ गुरुमुपसृत्य शास्त्रार्थक्रीडालक्षणो विनोदो नर्मापरपर्यायो वादजल्पात्मकः श्रवणमननापरनामधेयो वेदान्तवाक्यविचारः। उपलक्षणं चैतन्निदिध्यासनस्य, ततो ब्रह्मसाक्षात्कारः, तदनन्तरम् अहंताममतालक्षणचिज्जडग्रंथिनिवृत्त्या तत्प्रयुक्ताऽहंममेति शब्दप्रयोगानुत्पत्तिः। तदैव शोकापगमस्तृप्तिश्च ब्रह्मानन्दरसास्वादप्रसूता निष्प्रत्यूहं सम्पद्यते। हसितं च तत्सूचको मुखप्रसादः। तत आत्मक्रीडेति।

यह आपके सामने संस्कृत में व्याख्या की गई। अब आप इसका अन्वय भी समझ लें —

नर्मनखाग्रपातैः, अवलोकहसितैः, बाहुप्रसारपरिरम्भेण, करालकोरुनीवीस्तनालभनेन क्ष्वेल्या च, सुन्दरीणां रतिपतिम् उत्तम्भयन् रमयाञ्चकार।

तात्पर्यार्थः—जब विवेक द्वारा पहले मनुष्य विरक्त हो जाता है, तब समस्त सांसारिक पदार्थ उसकी दृष्टि में हेय हो जाते हैं। क्योंकि वह सांसारिक वस्तुओं को क्षयादि दोषों से दूषित मानता है। इसी लिए कहा कि '**अवलोकहसितैः**' अर्थात् समस्त नश्वर पदार्थों में दोष-बुद्धि होने के कारण साधक हँसता है। जब किसी वस्तु में सार प्रतीत नहीं होता तब अपनी मूर्खता पर उसे हँसी आती है कि अहो जिन पदार्थों को मैं इतना महत्त्वशाली समझ रहा था वे कुछ भी सार नहीं रखते। मैं कितना मूर्ख था। इन नश्वर पदार्थों में प्रेम लगाकर आत्म-तत्त्व को भूला हुआ था। इस प्रकार का पश्चात्ताप करता हुआ विरक्त प्राणी अपनी अज्ञानता की हँसी उड़ाया करता है। जैसे एक विद्वान् प्रोफेसर अपनी मैट्रिक क्लास की अभ्यास-पुस्तिका को देखकर हँसता है, क्योंकि जब वह मैट्रिक में था तो उस समय बहुत सी गलतियां होती थीं। अब मन में विचारता है कि मैं बड़ा मूर्ख था जो इतनी

गलतियां करता था। इसी प्रकार जब समस्त पदार्थों को निःसार समझ कर ब्रह्मानन्द में मग्न हो जाता है, तब विरक्त मनुष्य के मुख पर सर्वदा प्रसन्नता ही छाई रहती है। निर्लेप पुरुष सदा हँसता ही रहता है। स्वामी रामतीर्थ सदा हँसते ही रहते थे। जब उनसे किसीने पूछा कि स्वामीजी! आप सदा हँसते ही दिखाई देते हैं, इसका क्या कारण है? तब स्वामीजी ने कहा कि अरे भाई! जो रुलाने वाले पदार्थ थे, वे तो हमने छोड़ दिये हैं। अब रोना आये तो कैसे? अब तो मैं ने ब्रह्मानन्द के साथ ही नाता जोड़ लिया है—जिससे सदा आनन्द ही आनन्द मिलता रहेगा। दुःख का तो अब कोई कारण ही नहीं रहा। अतः इस श्लोक में कहा —'**अवलोकहसितैः**'।

फिर कहा '**नखाग्रपातैः**'। नखाग्र की भांति तीक्ष्ण जो वैराग्यशस्त्र, उसका जो हृदय में प्रवेश '**तैर्नर्मनखाग्रपातैः**'। जिसका भाव यह है कि जब मनुष्य के हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तब उस वैराग्य-रूपी शस्त्र से समस्त विषयासक्ति छिन्न भिन्न हो जाती है। अतएव भगवान् ने गीता में भी कहा है—

"**असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा**"।

यहां असंग शस्त्र वैराग्य का ही नाम है जो विषयासक्ति को काट देता है। यह शस्त्र ऐसा तीक्ष्ण है कि जब यह किसी पुरुष के हाथ लग जाता है तब चाहे वह कितना ही विषयों में क्यों न फंसा हो, झटपट सब पदार्थों को त्याग आत्म-चिन्तन में लग जाता है।

आपने पहले भी सुना होगा कि एक समय सन्त दादूजी किसी रास्ते से जा रहे थे। सामने से एक मुसलमान दुलहा अपनी बरात के साथ आता हुआ दिखाई दिया। उसने बहुत सुन्दर सुन्दर वस्त्र धारण कर रखे थे। सिरपर मुकुट पहने हुए था। समीप आनेपर सन्त दादूजी महाराज ने उसे पहचानते हुए कहा—

रज्जब तैं गज्जब कियो सिरपर बान्ध्यो मौर।
आये थे हरि मिलन को बीचहि अटको ठौर॥

हे रज्जब! तू ने तो बड़ा आश्चर्यजनक काम कर दिखाया। तेरा इस संसार में आने का मुख्य लक्ष्य तो हरि-स्मरण का था। परन्तु अब तेरा विवाह

हो जाने से बीच में ही तू अटक जायगा। संसार के झगड़ों में पड़ जाने से तुझे अपने वास्तविक उद्देश्य में सफलता न मिल सकेगी।

इतना सुनते ही रजब रथ से कूद पड़ा। विवाह के सब वस्त्र और मुकुट आदि वहीं उतार कर फेंक दिये। वह सन्त-शरण में आकर ब्रह्म चिन्तन में लीन हो गया।

अतः कहने का भाव यह है कि यह वैराग्य-शस्त्र नखों की भांति बहुत तीक्ष्ण है। सब सांसारिक बन्धनों को तत्क्षण काट देता है। फिर कहा—**बाहुप्रसार-परिरम्भेण**—अर्थात् वैराग्य हो जाने के पश्चात् अन्तःकरण द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। जब ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है तब '**करालकोरु-नीवीस्तनालभनेन**'—अर्थात् अपनी वृत्तियों से इन्द्रियां आत्मा को शोभित करती हैं। तात्पर्य—आत्मा में दर्शन-श्रवणादि ज्ञान की कल्पना होने लगती है। अतः करालक नाम इन्द्रियों का है। वह शरीर, मन, प्राण तथा बुद्धि का भी उपलक्षक है। अतः देह, प्राण, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के साथ अध्यास के कारण "यह मैं हूँ" "ये मेरे शरीरादि हैं" लोक ऐसा शब्द-प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के शब्द-प्रयोग की ज्ञान-दशा में संभावना ही नहीं रहती, क्योंकि ब्रह्म-साक्षात्कार से अध्यास के कारण अज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार कटि-वसन की गांठ खुलनी कठिन हो जाती है, उसी प्रकार प्राणी के अन्तःकरण में अहंता (तादात्म्याध्यास) और ममता (संसर्गाध्यास) की गांठें ब्रह्म-साक्षात्कार के बिना नष्ट नहीं हो सकतीं। इस चिज्जड ग्रंथि का समूलोच्छेद ब्रह्म-साक्षात्कार से ही होगा। जो वस्तुएँ हैं तो हमारे से पृथक्, परन्तु हमने उनको भूल से अपना स्वरूप मान लिया है—उसे तादात्म्याध्यास कहते हैं। जिस वस्तु के साथ हमारा कोई सम्पर्क तो नहीं, फिर भी उससे सम्बन्ध जोड़ लेना, यही संसर्गाध्यास कहलाता है। जैसे लोहा अग्नि में पड़ने से उसी अग्नि की भांति लाल और प्रज्वलित हो जाता है। वह आपको छूने पर अवश्य जलाने लगेगा। उस समय आप कहेंगे कि "अयो दहति" अर्थात् लोहा जलाता है। अब यहां जला तो अग्नि ही रही है, पर अग्नि में लोहे की एकता का अध्यास हो गया है। तात्पर्य कि आपने लोहे को अग्नि मान लिया है। अतः हम कह देते हैं कि लोहा जला रहा है। इसी का नाम तादात्म्याध्यास है।

जैसे जन्म-मरण हैं तो शरीर के धर्म, पर आत्मा में शरीर की एकता का अध्यास हो जाता है। तो आत्मा कह देता है कि "मैं मरता हूँ" "मैं जीता हूं"। एवं भूख-प्यास हैं तो प्राणों के धर्म, पर आत्मा कहने लगता है—'मैं भूखा हूं', 'मैं प्यासा हूं'। अन्धापन और कानापन हैं तो इंद्रिय के धर्म, पर आत्मा कहने लग जाता है कि–'मैं अन्धा हूं', 'मैं काना हूं'। राग, द्वेष, मद, मोहादि हैं तो अन्तःकरण के धर्म, परन्तु आत्मा कहता है कि 'अमुक से मेरा प्रेम है' 'अमुक से मेरा द्वेष है'। इस प्रकार आत्मा में अनात्म पदार्थों की एकता का अध्यास करना ही तादात्म्याध्यास कहलाता है। जो शरीर आदि वस्तुतः आत्मा के सम्बन्धी नहीं, उनके साथ "ये सब मेरे हैं" इस प्रकार ममता द्वारा नाता जोड़ने को संसर्गाध्यास कहते हैं।

जब ये दोनों भ्रांतियां—तादात्म्याध्यास और संसर्गाध्यास हट जाती हैं—तब जिज्ञासु कह उठता है–"**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" अर्थात् यह समस्त संसार ब्रह्म ही है। ब्रह्म से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं। अब आप समझ गये होंगे कि जिस श्लोक को हम अश्लीलता-पूर्ण बतला रहे थे, विचार करने पर उसी श्लोक से निवृत्ति-मार्ग की साधन-पद्धति का क्या ही सुन्दर और अनूठा परिचय प्राप्त होता है। धन्य हैं महर्षि वेदव्यास, जिन्होंने एक ही श्लोक द्वारा वेदान्त की समस्त प्रक्रिया पर पूर्ण प्रकाश डाल कर बतलाया कि किस क्रम से साधना करता हुआ साधक अपने वास्तविक लक्ष्य—आत्मदर्शन को प्राप्त कर कृतकृत्य और शोक-रहित बन सकता है। अधिक क्या कहें—वेदान्त के सभी मुख्य मुख्य सिद्धान्त इस श्लोक में "गागर में सागर" की उक्ति को चरितार्थ कर रहे हैं।

अब शेष रह गया—"**व्रजसुन्दरीणां रतिपतिमुत्तम्भयन् रमयांचकार।**" तो इसे आप इस प्रकार समझें कि व्रजसुन्दरीणां=गोपालों की जो स्त्रियां गोपियां थीं, उनके मन में जो रतिपति काम, घर किये बैठा था—उसे उत्तम्भयन्=समूल नष्ट करते हुए प्रभु ने रमण किया। अर्थात् प्रभु ने ऐसी रासक्रीड़ा रची जिससे गोपियों के हृदयों की समस्त विषय-वासनाएं कपूर हो गईं।

अब आप स्वयं सोच सकते हैं कि क्या इस श्लोक में कहीं काम-वासना की गन्ध भी है? परन्तु लोग शास्त्र-ज्ञान से अनभिज्ञ होकर अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। इस श्लोक में तो ब्रह्म-साक्षात्कार करने की सीढ़ियां बताई गई हैं कि किन किन सीढ़ियों द्वारा हम ब्रह्म तक पहुंच सकते हैं।

३०

रासलीला का आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ

(१४-९-१९३८)

सज्जनो ! रासलीला के आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन अर्थ हैं। इनमें से रासलीला के आधिभौतिक अर्थ का वर्णन आपके सामने हो चुका है। आज आधिदैविक और आध्यात्मिक इन दो शेष भावों का वर्णन किया जायगा। रासलीला का आधिदैविक वर्णन देवी भागवत में किया गया है। उसमें श्रीकृष्ण वृन्दावन के श्रीकृष्ण नहीं है। वे कृष्ण नहीं जो कंसादि राक्षसों के अत्याचारों से पीड़ित प्रजा की रक्षार्थ अवतीर्ण हुए थे। अपितु यहां तो साक्षात् परमात्मा को ही श्रीकृष्ण बताया है। प्रकृति-पुरुष के संयोग से ब्रह्माण्ड की रचना ही रासलीला है। इस रासलीला में परमात्मा की शक्ति-स्वरूपिणी माया या प्रकृति ही राधा है। साक्षात् परब्रह्म ही श्रीकृष्ण हैं। जैसे कहा है—

स कृष्णः सर्वसृष्ट्यादौ सिसृक्षन्नेक एव च।
सृष्ट्युन्मुखस्तदंशेन कालेन प्रेरितः प्रभुः॥

स्वेच्छामयः स्वेच्छया च द्विधारूपो बभूव ह।
स्त्रीरूपो वामभागांशो दक्षिणांशः पुमान् स्मृतः॥

तां ददर्श महाकामी कामाधारां सनातनः।
अतीव कमनीयाञ्च चारुपंकजसन्निभाम्॥

दृष्ट्वा तां तु तया सार्द्धं रासेशो रासमंडले।
रासोल्लासे सुरसिको रासक्रीडां चकार ह॥

(देवीभागवत)

इत्यादि देवी भागवत के श्लोकों में कहा है कि महाप्रलय काल में सृष्टि-कर्ता कृष्ण एक ही थे। जैसा कि श्रुति में भी कहा है—

सदेव सौम्येदमग्र आसीत्।

'सत्स्वरूप परमात्मा पहले एक ही थे'। इसके बाद जब उनको सृष्टि रचने की इच्छा हुई, तब काल की प्रेरणा से उन्होंने अपने शरीर को दो भागों में विभक्त किया। उनका वामभाग स्त्री-रूप और दक्षिण-भाग पुरुष रूप हुआ। परमात्मा के वामभाग से उत्पन्न हुई परमात्मा की शक्ति-रूपिणी प्रकृति माता है। इसके अनन्तर परमात्मा में काम-भाव उत्पन्न हुआ और उन्होंने प्रकृति-देवी को भी परम सुन्दरी और कामवती देखा। यह काम-भाव विषय-वासनामय नहीं अपितु जीवों के कर्मानुसार सृष्टि के रचने की इच्छा है। क्योंकि संसार के समस्त सौन्दर्य प्रकृति देवी के सौन्दर्य से ही उत्पन्न हैं। चन्द्रमा, सूर्य, पुष्पों तथा नर-नारियों में जितना सौंदर्य दिखाई देता है, वह सब प्रकृति देवी का ही सौन्दर्य है। जो समस्त पदार्थों को सौन्दर्य प्रदान करने वाली है, उसके सौन्दर्य के विषय में तो कहना ही क्या। इस वास्ते महाकामी परमात्मा ने कमल के समान परम-सुन्दरी प्रकृति को देखा और इस प्रकार सुन्दरी प्रकृति को देखकर रास के ईश्वर सुरसिक भगवान् ने उसके साथ रासक्रीड़ा की। यहां रासक्रीड़ा का अर्थ सृष्टि के लिए प्रकृति-पुरुष का संयोग है। यह लीला स्थूल रासलीला नहीं है। इस लीला में नाना प्रकार के श्रृंगार हुए। ये श्रृंगार लौकिक श्रृंगार नहीं हैं। परन्तु जिस रस से संसार के समस्त रसों की उत्पत्ति होती है वही रस है। भगवान् के रस-रूप होने के कारण संसार में सब रस उन्हींसे प्रकट होते हैं। पिता का पुत्र में स्नेह-रस, पत्नी का पति में प्रेम रस और पुत्र के मन में माता पिता के लिए श्रद्धा-रस, ये सब रस-स्वरूप प्रभु के श्रृंगार-रस के ही रूपान्तर हैं। अतः अनेक प्रकार का श्रृंगार-रस कहा गया है।

तत्पश्चात् भगवान् ने अपनी शक्ति स्वरूपिणी प्रकृति में बीज प्रदान किया। यही बीज-प्रदान सृष्टि के पहले जड़ प्रकृति में चेतन सत्ता की स्थापना है। क्योंकि प्रकृति जड़ है उसमें सृष्टि रचने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए भगवान् ने बीज-प्रदान अर्थात् चेतन-सत्ता प्रकृति को दी, जिससे प्रकृति सृष्टि रचने

के लिए प्रस्तुत हो गई। बहुत काल तक यह बीज प्रकृति के गर्भ में रहा। पश्चात् उसमें एक अंड निकला। जैसे माता के गर्भ से बच्चे के उत्पन्न होने में नव मास का समय लगता है, तो प्रकृति-देवी के सृष्टि रचने में तो अधिक काल लगना स्वाभाविक ही था। इस समय का कुछ अनुमान ब्रह्मा के दिन रात से ही लग सकता है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

(गीता अ. ८ श्लोक १७)

ब्रह्मा के एक दिन का परिमाण चतुर्युगी है और उतना ही परिमाण ब्रह्मा की रात्रि का है। सत्ययुग, द्वापर, त्रेता और कलि-युग के समय को मिलाकर देवताओं का एक युग होता है, इसे दिव्य-युग कहते हैं। अथवा यूं भी कह सकते हैं कि देवताओं के समय का परिमाण हमारे समय के परिमाण से तीन सौ साठ गुना होता है। इसलिए कहा गया है कि प्रकृति देवी ने अपने गर्भ को चिरकाल तक धारण किया। तदनन्तर स्वर्ण-वर्ण का एक अंड निकला जो समस्त विश्व का आधार-रूप था। यह अंड सामान्य अंड नहीं था अपितु इसे ब्रह्मांड ही समझना चाहिये, जो आपके सामने दृष्टिगोचर हो रहा है। इसी ब्रह्मांड की उत्पत्ति का वर्णन प्रकृति-पुरुष के सम्बन्ध से देवीभागवत में किया गया है। यही रासलीला का आधिदैविक भाव है। महर्षियों की यही विचित्रता है कि वे प्रत्येक लीला का तीनों भावों में वर्णन कर देते हैं। आज-कल लोग एक ही पुराण को पढ़कर व्यर्थ ही तर्क-वितर्क के शिकार बन जाते हैं। जब तक हम समस्त पुराणों का आलोड़न नहीं करेंगे, तब तक हम किसी बात के रहस्य को नहीं समझ सकते। यदि किसीने भागवत का ही अध्ययन किया है तो वह रासलीला का आधिदैविक अर्थ कैसे जान सकेगा? यह तो केवल देवीभागवत के अवलोकन से ही जाना जा सकता है।

अब आप रासलीला के आध्यात्मिक भाव को भी समझ लें। जहां शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और आत्मा-सम्बन्धी वर्णन हो उसे आध्यात्मिक भाव कहते हैं। इस आध्यात्मिक रासलीला को योगी-जन सदा ही करते रहते

हैं। इस लीला में सहस्रदल कमल ही वृन्दावन है। यह बात योगशास्त्र द्वारा प्रमाणित है कि सहस्रदल कमल के समस्त दल अधोमुख हैं—

वृन्दावनस्थास्तरवः सर्वे चाऽधोमुखाः स्मृताः।

वृन्दावन के समस्त वृक्ष नीचे की ओर झुके हुए हैं। लय-योग का सिद्धान्त है कि पिंड और ब्रह्मांड, व्यष्टि-समष्टि की अभेद-दृष्टि से एक हैं, अतः जो कुछ ब्रह्मांड में है वही हमारे पंचभौतिक पिंड में वर्तमान है। ब्रह्मांड में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, नदी आदि जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब प्रत्येक जीव के शरीर में भी विद्यमान है। जैसे बम्बई, कलकत्ता आदि नगरों में छः सात मंजिल के भवन होते हैं उसी प्रकार आपका यह शरीर भी सात मंजिलों का है। इस की सबसे ऊंची मंजिल शिरःस्थित सहस्रदल कमल है—जहां साक्षात् परब्रह्म निवास करते हैं। नीचे की मंजिल मूलाधार चक्र है जिसमें प्रकृति का निवास है। इसी मूलाधार चक्रमें साढ़े तीन चक्र लगाए हुए कुलकुंडलिनी स्थित है। यही त्रिगुणमयी प्रकृति या माया है। इस कुल-कुंडलिनी का आश्रय मूलाधार चक्र पायु-स्थान में है। इससे ऊपर वाली स्वाधिष्ठान चक्र स्त्री-पुरुष के चिन्ह-स्थल में विद्यमान है। तीसरी मंजिल नाभिस्थ मणिपूर चक्र है। तदुपरि हृदयस्थ अनाहत चक्र है। इसके पश्चात् कंठ-स्थित विशुद्ध चक्र है। तदनन्तर भ्रूमध्य में आज्ञा चक्र है। भ्रूमध्य में ही इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना नाम की नाड़ियों का संगम है। यही शरीर-स्थित तीर्थराज प्रयागस्थली व त्रिवेणी है। तत्पश्चात् ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल-कमल चक्र है। इस प्रकार ये सात मंजिलें इस शरीर-रूपी मकान की हैं। सबसे ऊँची सहस्रदल कमल वाली मंजिल में जगदीश्वर का निवास है और सबसे नीची मंजिल में प्रकृति देवी आसन जमाए हुए है। जैसे वायसराय या राजा के महल पर झंडा फहराया करता है वैसे ही राजाधिराज जगदीश्वर के राजभवन–शिर पर भी झंडा अवश्य होना चाहिये। हमारे ज्ञान-भंडार शिरःस्थित यह शिखा का चिन्ह ही जगदीश्वर के भवन का झंडा है, जो सतत आजीवन फहराना चाहिये। परन्तु पाश्चात्य शिक्षा के रंग में रंगे हुए बहुत से नवयुवक शिर-रूपी राजमहल की पताका को गिरा कर ही दम लेते हैं। वे इसे सभ्यता और शान के विपरीत समझते हैं, क्योंकि मित्र-मंडली में

बैठकर जब ताश खेलते हैं तो यह पंखे की हवा से फरफर करती हुई असुन्दर प्रतीत होती है। ऐसा विचार कर वे इसका नामो-निशान ही मिटा देते हैं। स्मरण रहे कि राष्ट्रीय झंडे का अपमानकारी देश और राजा का शत्रु कहलाता है। राजा की ओर से उसे कड़ा दंड मिलता है। अपने आराध्य देव जगदीश्वर का अपमानकारी क्यों नहीं दंडित होगा?

अब पुनः उसी बात पर विचार करें कि जो कुल-कुंडलिनी शक्ति मूलाधार चक्र में स्थित है, उसे जाग्रत करके षट्चक्रों का भेदन कर सहस्रदल कमल स्थित परमात्मा में लय का नाम ही आध्यात्मिक रासलीला है, जो योगियों के अन्तःकरण में नित्य होती रहती है। योगी इस लीला के द्वारा दिव्यानन्द की अनुभूति कर सभी सांसारिक विषयों को त्यागता हुआ स्वस्वरूप परमात्मा में समस्त रसों का समावेश कर लेता है। बस जिस लीला में समस्त रसों का समावेश हो, उसीको आध्यात्मिक रासलीला कहते हैं। अब आप यह समझ लें कि परमात्मा में प्रकृति का लय किस प्रकार किया जाता है।

मूलाधार-चक्र-स्थित कुल-कुंडलिनी जब तक अधोमुखी रहती है तब तक उसमें से निकलती हुई शक्तियां विषय-वाहिनी होकर जीव को मुग्ध करती हैं। जिस समय योगी अपनी साधना द्वारा कुल-कुंडलिनी को ऊर्ध्व-मुख कर देते हैं, उस समय सब शक्तियां कुल-कुंडलिनी के साथ सहस्रदल-कमल-स्थित परमात्मा की ओर चलती हैं, तब जीव विषय-वासना को छोड़कर विरक्त हो जाता है। यह बात विज्ञान द्वारा सिद्ध हो चुकी है कि शक्ति तो एक ही होती है, पर वह भिन्न भिन्न गुणों को धारण करके भिन्न भिन्न विषयों में जीव को प्रवृत्त कराती है। जैसे एक ही शक्ति जीव को रजोगुण का आश्रय लेकर काम में फँसा देती है और वही शक्ति सत्त्व-गुण का सहारा लेकर जीव को परमात्मा की ओर प्रेरित करती है। एक शक्ति दयाभाव को उत्पन्न करती है, वही तमो-गुण के द्वारा निष्ठुर बना देती है। एक शक्ति प्रेम को जाग्रत करती है, वही तामस भाव आने से द्वेष को जन्म देती है। कहने का भाव यह है कि जब तक कुल-कुंडलिनी शक्ति अधोमुख रहती है तब तक मनुष्य वैषयिक भावों का दास बना रहता है। अतः योगीजन अपनी साधना द्वारा कुल कुंडलिनी को ऊर्ध्व मुखी बना लेते हैं। तब यही शक्ति दया, शान्ति और संतुष्टि आदि

सहचरियों को और शरीर, मन तथा इन्द्रियों में व्याप्त अपनी समस्त शक्तियों को साथ लेकर ऊपर के षट्चक्रों का भेदन करती हुई परमात्मा से मिलने चलती है। इस क्रम से लय-योग के सिद्धान्तानुसार पुरुष में प्रकृति का लय होता है। योगी जन इसी लय-योग द्वारा प्रकृति का पुरुष में लय कर के आध्यात्मिक रासलीला किया करते हैं।

इस आध्यात्मिक रासलीला में कुल-कुंडलिनी ही राधिका है। दया, क्षमा, श्री, धृति, शान्ति, स्मृति और अनसूया आदि अन्तःकरण की शुभ वृत्तियां (शक्तियां) राधा की सहचारिणी वृन्दा, विशाखा और ललिता आदि गोपियां हैं। सहस्रदल कमल ही वृन्दावन है। परमात्मा ही भगवान् कृष्ण हैं, जिनका स्थान सहस्रदल कमल है।

अब आप दोनों भावों का मिलान भली-भांति कर सकते हैं। जो वस्तुएं आधिभौतिक रास में थीं वही अब आध्यात्मिक रास में भी हैं। जैसे गोपियां श्रीकृष्ण की वंशी का कलनाद सुन अपने पति-पुत्रों को छोड़, पतियों द्वारा रोके जाने पर भी अनेक कष्टों का अनुभव करती हुई भगवान् के पास पहुँच गई थीं, इसी प्रकार योगी लोग भी कुल-कुंडलिनी शक्ति को सहस्र-दल कमल-स्थित परमात्मा से मिलाने के लिए षट्चक्र भेदनार्थ अनेक क्रियाओं के करने में कष्ट अनुभव करते हैं। जो कष्ट राधा को कृष्ण-मिलन में सहन करने पड़े थे—वे ही कुल कुंडलिनी को षट्चक्र भेदन करने में सहन करने पड़ते हैं। श्रीकृष्ण-मिलन से गोपियों को जो अभिमान हो गया था, उसके स्थान में योगियों का नाभिचक्र भेदन करने के बाद कुछ सिद्धियां प्राप्त करना ही है। इन सिद्धियों से योगी में अभिमान होने की आशंका उत्पन्न हो सकती है। वंशी की ध्वनि योगियों का ओंकार-नाद है—जिसमें दिव्याकर्षण है। योगशास्त्र में इसे नादानुसन्धान कहा है। इसी ओंकार-नाद द्वारा योगी परमानन्द को प्राप्त करता है।

स्वामी रामतीर्थ जब ओंकार की ध्वनि करते थे, तब सब पशु पक्षी और मनुष्य आकर्षित हो जाया करते थे। यह ओंकार की अद्भुत शक्ति का परिचायक है।

गोपियों का श्रीकृष्ण में तन्मय होना और इधर योगियों का हृदय-स्थित अनाहत चक्र में कुंडलिनी शक्ति के पहुंचने से तन्मय हो जाना, दोनों समान

हैं। गोपियां श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप के अनुभव होने के अनन्तर कहने लगी थीं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्मदृक्।

'आप केवल गोपिका-नन्दन ही नहीं हैं, अपितु समस्त प्राणिमात्र के अन्तरात्माओं के द्रष्टा हैं। इधर कुल-कुंडलिनी जब भ्रूमध्यस्थ आज्ञाचक्र में पहुंचती है तब योगी को कूटस्थ चैतन्य का ज्ञान हो जाता है। अन्त में कुल-कुंडलिनी सब चक्रों का भेदन कर अपनी शक्तियों को साथ ले सहस्रदल कमल-स्थित पूर्णब्रह्म में मिल जाती है। तब योगी को ब्रह्मज्ञान-पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति होती है। बस यही योगी का आध्यात्मिक रासलीला का आनन्द है। व्रज की रासलीला में गोपियों ने अन्त में परब्रह्म श्रीकृष्ण को सर्वत्र देखकर यही परमानन्द प्राप्त किया था। योगी लोग अपनी प्रकृति को परमात्मा में लय करके इसी परमानन्द का अनुभव करते हैं।

श्रीकृष्ण का एक राधा को लेकर अन्य गोपियों से छिप जाना सिद्ध करता है कि नित्या परा प्रकृति सदा परमात्मा के साथ ही रहती है। राधिका को कन्धे पर चढ़ने के लिए अपना कन्धा दिखाकर भगवान् का अन्तर्धान हो जाना सिद्ध करता है कि परा प्रकृति से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर भगवान् निर्गुण और निराकार हो जाते हैं। इस से यह भी बतलाया कि माया ईश्वर के अधीन है, ईश्वर माया के अधीन नहीं, कृष्ण की वंशी की ध्वनियां, लय-योग के विविध नादों की परिचायक हैं, जिन्हें नादानुसन्धान कहते हैं।

अब आप गोप और गोपी शब्दों का भी अर्थ समझ लें। धातु-पाठ में "गुपु" धातु रक्षण अर्थ में आती है। अतः गोप शब्द द्वारा धर्म-रक्षक भगवान् और गोपी शब्द द्वारा धर्म-रक्षण-शालिनी सात्त्विक वृत्तियां सूचित की गई हैं। श्रीकृष्णचन्द्र ने योगमाया का आश्रय लेकर बतलाया कि भगवान् निर्लेप तथा निर्विकार हैं। माया ही सब कुछ करती है। अतः श्रीकृष्ण का गोप-वेश में वर्णन किया है और कान्ति, शान्ति और शक्ति-समूह का गोपीरूप में। इसका भाव यह है कि "गुपु" धातु का रक्षण अर्थ होने से—आत्मा की सत्ता से सारे जगत् की रक्षा होती है, अतः परमात्मा कृष्ण को

गोप ही होना चाहिये और शान्ति, दया आदि शरीर-रक्षा-कारिणी शक्तियों को गोपी।

आशा है अब आप रासलीला के तीनों भावों को अच्छी प्रकार से समझ गये होंगे। अतः आपका कर्तव्य है कि इससे शिक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को गोपियों के सदृश बनायें।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥